१०८ उपनिषद्

(ज्ञान खण्ड)

(सरल हिन्दी अनुवाद सहित)

सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम जी शर्मा आचार्य

चारों वेदों, १०८ उपनिषदों, षट्दर्शनों, २० स्मृतियों व १८ पुराणों
के भाष्यकार, गायत्री महाविद्या के विशेषज्ञ और
बहुसंख्यक हिन्दी ग्रन्थों के रचियता

प्रकाशक :—

संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, (वेदनगर), बरेली

(उत्तर प्रदेश)

१०८ उपनिषद्

[ज्ञान खण्ड]
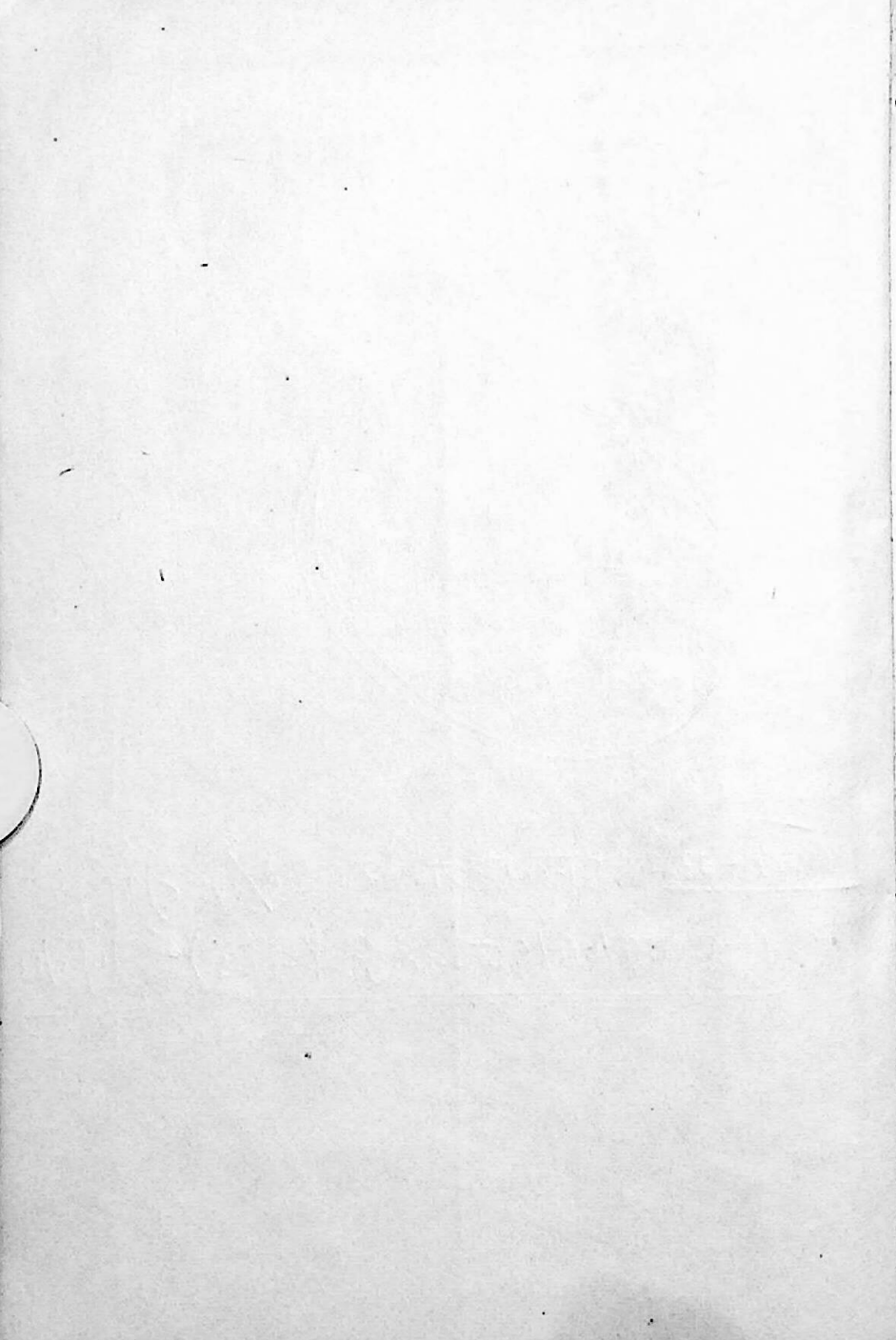
सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट् दर्शन,

२० स्मृतियां और १८ पुराणों

के प्रसिद्ध भाष्यकार

•

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान,

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली

[उत्तर-प्रदेश]

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान,
ख्वाजा कुतुब (वेदनगर)
बरेली (उ० प्र०)

*

सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

*

पंचम संशोधित संस्करण
१९७१

*

मुद्रक :
विनोदकुमार मिश्र
राजेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस,
आर्य समाज रोड, मथुरा ।

*

मूल्य :
[illegible] 1/-

ज्ञान-खंड की

उपनिषद् - सूची

प्रकाशक का वक्तव्य

वेद भारतीय धर्म का मूल है। वेदों के अत्यन्त महत्वपूर्ण मर्मस्थलों का विवेचन उपनिषदों में हुआ है। वेद का रहस्य जानने के लिये उपनिषदों को समझना आवश्यक है। वेद की ईश्वरीय वाणी को मानव-जीवन में किस प्रकार व्यवहृत किया जाय, इस समस्या के समाधान के लिये ऋषियों ने हजारों लाखों वर्षों तक गहन अरण्यों में जो तत्व चिन्तन किया है, उसका निष्कर्ष उपनिषदों में मौजूद है।

भारतीय धर्म का आध्यात्मिक, धार्मिक एवं दार्शनिक ज्ञान इतना महान है कि जिसके सम्पर्क में आने से साधारण मनोभूमि वाला व्यक्ति भी तीव्र गति से आध्यात्मिक प्रगति करता हुआ जीवन लक्ष्य तक सुविधापूर्वक पहुँच सकता है। भारत को समस्त विश्व ने जिस ज्ञान के कारण जगतगुरु स्वीकार किया था, वह वेदों और उपनिषदों में ही सन्निहित है। प्राचीन काल में हमारे देशवासी इस ज्ञान को उपलब्ध करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। घर-घर में वेद और उपनिषदें मौजूद थे, उनके अध्ययन, मनन में सभी को प्रगाढ़ रुचि थी। उस समय जीवन के अत्यन्त आवश्यक कार्यों में वेद और उपनिषदों के अध्ययन को सर्वोपरि स्थान दिया जाता था। यही कारण था कि इस देश के प्रत्येक नागरिक में महापुरुषों के दैवी गुण परिपूर्ण रहते थे और उन्हें पृथ्वी पर रहने वाले देवताओं की संज्ञा दी जाती थी। महाभारत के बाद जब अज्ञानान्धकार युग आया तो अनेक मतमतान्तर बरसाती मेंढ़कों की तरह उपज पड़े, अनेकों सम्प्रदायों, देवी-देवताओं, ग्रन्थों की बाढ़ आई और 'सस्ते में बहुत लाभ' का झाँसा देकर हर धर्मगुरु ने भोली जनता को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न किया। इस खींचतान में जनता दिग्भ्रान्त हुई और सार्वजनिक विवेक कुण्ठित हो गया।

लोग जहाँ-तहाँ भटकने लगे और भारतीय तत्त्वज्ञान के मूल उद्गम वेद और उपनिषदों को कठिन समझकर उनकी ओर से मुँह मोड़ लिया। ऐसी स्थिति में परिणाम वही हुआ जो जड़ की उपेक्षा करके पत्ते सींचने का होता है। मूल तत्वज्ञान के अभाव में भारतीय समाज का आधार ही लड़खड़ा गया और हम चतुर्मुखी अवनति की दिशा में तेजी से लुढ़क पड़े। विदेशी आक्रमणों द्वारा पददलित होने से लेकर सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से दीन-हीन हो जाने का कारण वह मानसिक अवसाद ही था, जो इस देश की जनता में आया था। यह मानसिक अवसाद और कुछ नहीं हमारी धार्मिक एवं आध्यात्मिक आधार शिला के अस्तव्यस्त हो जाने का ही परिणाम था। वेद और उपनिषदों के अपने मूल-भूत तत्व ज्ञान की उपेक्षा करके भ्रांत विचार धाराओं में भटक जाने का प्रतिफल इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था?

प्रसन्नता की बात है कि भारत के भाग्योदय के साथ-साथ हमारे प्राचीन तत्वज्ञान के भी सुदिन दृष्टिगोचर होने लगे हैं। वेद के प्रति अनेक हिन्दू धर्माभिमानियों की बड़ी आस्था थी। लोग उन्हें पढ़ना और समझना चाहते थे पर अत्यन्त कठिन वैदिक संस्कृत भाषा को न जानने के कारण उन्हें निराश ही रहना पड़ता था। काश यदि हिन्दी में वेदों का सरल भाष्य होता तो ईश्वरीय वाणी का ज्ञान हमें भी मिलता, ऐसी हूक हर हिन्दू के मन में उठती पर कोई साधन न होने के कारण मन मसोस कर ही रहना पड़ता था। पिछले दिनों कुछ लोगों ने हिन्दी में वेद भाष्य करने का प्रयत्न भी किया पर उसका आधार प्राचीन आर्य परिपाटी न होकर उनकी निज की सूझ-बूझ थी, फलस्वरूप उन प्रयत्नों से भी जनता का समाधान न हो सका।

इस कठिनाई को हल करने के लिए गायत्री तपोभूमि, मथुरा के सञ्चालक परम पूज्य पं० श्रीराम शर्मा आचार्य ने प्राचीन सायण भाष्य के आधार पर चारों वेदों का सरल हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत

किया। अत्यन्त सरते, सुन्दर और मजबूत और चिरस्थायी ढङ्ग से हुए इस प्रकाशन का देश भर में सर्वत्र भारी स्वागत हुआ। एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई। अब वह हिन्दी भाष्य सहित चारों वेदों का सैट 'संस्कृति संस्थान' से उपलब्ध है।

उपनिषदों के सम्बन्ध में भी यही बात थी। उनमें से उङ्गलियों पर गिनने लायक ही हिन्दी भाषा टीका सहित उपलब्ध थे। वेदों के तो सायण, महीधर, उव्वट, रावण आदि के संस्कृत भाष्य उपलब्ध थे पर १०८ उपनिषदों का वैसा संस्कृत भाष्य कोई उपलब्ध न था। इस सम्बन्ध में भी आध्यात्मिक ज्ञान की इस गङ्गा में स्नान करने के इच्छकों को मन मसोस कर ही रहना पड़ता था। हर्ष की बात है कि अब उस अभाव की भी पूर्ति हुई और १०८ उपनिषदों का यह सरल हिन्दी भाष्य धर्म प्रेमियों के सामने प्रस्तुत है।

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ परम पूज्य आचार्यजी के अगाध अध्ययन और महान् प्रयत्न के फलस्वरूप वेद और उपनिषदों के यह सर्व सुलभ संस्करण उपलब्ध हो सके, उसके लिये हम सब युगों तक उनके ऋणी रहेंगे। पूज्य आचार्य जी ने यह कार्य परम निःस्वार्थ भाव से जनहित की दृष्टि से ही सम्पन्न किया है। यों उनका सारा जीवन 'देव जीवन' रहा है। साधना, तपश्चर्या, स्वाध्याय, चिन्तन मनन और आस्था को देखते हुए उन्हें इस युग का द्रष्टा ऋषि माना जाता है। व्यक्तिगत रूप से उनके सम्पर्क में आने वाले अगणित व्यक्ति अपनी भौतिक एवम् आत्मिक दुरावस्था से त्राण पाकर सुख शान्तिमयी उच्च स्थिति को पहुँचे हैं। भारतीय संस्कृति को नवजीवन प्रदान करने के लिए उन्होंने जो भागीरथ प्रयत्न किये हैं, उससे इस देश का बच्चा-बच्चा परिचित है। १००० कुण्डों में जो गायत्री-महा-यज्ञ उन्होंने कराया था, उसमें लाखों व्यक्तियों के भोजन एवं निवास की व्यवस्था बिना किसी प्रकार की याचना किए अभूतपूर्व सफलता के साथ सम्पन्न हुई थी। जो उस अवसर पर उप-

स्थित थे, वे उस आयोजन को एक दैवी चमत्कार ही मानते हैं। पूज्य आचार्य जी का सारा जीवन ही ऐसी ज्ञात और अज्ञात विशेषताओं से परिपूर्ण रहता है। वेद और उपनिषदों में भाष्य का महान् कार्य भी इन्होंने केवल अपनी स्थूल विद्या के द्वारा नहीं वरन् आत्मिक-सूक्ष्म चेतना के आधार पर सम्पन्न किया है। अतः इस भाष्य की प्रामाणिकता अनेक दृष्टि से बहुत बढ़ गई है।

वेदों और उपनिषदों के यह प्रस्तुत दोनों भाष्य सर्व-साधारण को भारतीय तत्व ज्ञान की साधारण झाँकी कराने के लिए, सर्व सुलभ और सस्ते रखने की दृष्टि से, संक्षिप्त अनुवाद एवं सारांश के रूप में ही प्रस्तुत किए हैं। यह संस्करण उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। पर विचारवान् जिज्ञासुओं का इतने में भी काम चलने वाला नहीं है। वेदों में ऐसे वैज्ञानिक रहस्य पग-पग पर भरे पड़े हैं जिनके माध्यम से मनुष्य जाति भौतिक और अध्यात्मिक उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकती है। उन रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए वेद और उपनिषदों के अत्यन्त विशाल भाष्य करने में परम पूज्य श्री आचार्य जी लगे हुए हैं। आशा करनी चाहिए कि कुछ ही काल में अलभ्य ज्ञान हमें उपलब्ध होगा और उस महान् ज्ञान के आधार पर हम अपने प्राचीन गौरव एवं वैभव को पुनः प्राप्त कर सकने में समर्थ होंगे।

'संस्कृति संस्थान' की स्थापना ऐसे ही अलभ्य साहित्य को धर्म-प्रेमी भारतीय जनता के सम्मुख उपस्थित करने के उद्देश्य से की गई है। धर्म प्रेमियों की सद्भावना और शुभकामना के आधार पर ही हम अपने लक्ष तक पहुँच सकेंगे, इसलिए सज्जनों के सच्चे आशीर्वाद की हमें नितान्त आवश्यकता है। परम पूज्य आचार्य जी के सान्निध्य में चिर-काल तक रहने और उनका पुत्र तुल्य स्नेह प्राप्त होने के कारण उनका आशीर्वाद तो हमें प्राप्त है ही।

डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान, बरेली (उ० प्र०)

ॐ
19/6/83

प्रस्तावना

वेद भारतीय ज्ञान विज्ञान के उद्गम केन्द्र हैं। उनके महत्वपूर्ण स्थलों का विस्तार उपनिषदों में हुआ है। आत्मविद्या का, ब्रह्मविद्या के रहस्य का उपनिषदों में भली-भांति विवेचन हुआ है। उपनिषद् शब्द का अर्थ भी ब्रह्मविद्या ही है। वेद पुरुष का शीर्ष (सिर) उपनिषद् कहलाता है, वेद को यदि एक पुरुष के रूप में कल्पना की जाय तो उपनिषदें उसका शिर माननी पड़ेंगी। 'उप' और 'नि' उपसर्ग हैं। 'सद्' धातु 'गति' के अर्थ में प्रयुक्त होती है। ज्ञान, गमन और प्राप्ति 'गति' के तीन अर्थ हैं। यहाँ प्राप्ति अर्थ उपयुक्त है। "उप-सामीप्येन, नि-नितरां, प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्।" अर्थात् जिस विद्या के द्वारा परब्रह्म का सामीप्य एवं तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त किया जाता है,वह 'उपनिषद' है।

अष्टाध्यायी १–४–६१ में 'जीविकोपनिषदावौपम्ये' उपनिषद् कृत्य 'मत:' उपनिषद् शब्द परोक्ष या रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में युद्धकाल के गुप्त प्रयोगों की चर्चा में 'औपनिषद् प्रयोग' शब्द व्यवहृत हुआ है। इससे यह भी प्रकट होता है कि उपनिषद् का तात्पर्य 'रहस्य' भी है।

"परमात्मा की प्राप्ति का रहस्यमय ज्ञान" इस प्रकार उपनिषद् शब्द का तात्पर्य समझना ठीक होगा। ब्रह्मविद्या का यही प्रयोजन है। इसलिए ब्रह्मविद्या को उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषदों में इसी विद्या का वर्णन हुआ है।

'उप'+'नि' यह दो उपसर्ग 'सद्' धातु से 'क्विप' प्रत्यय करने पर 'उपनिषद्' शब्द बनता है। 'सद्' धातु तीन अर्थों से प्रयुक्त होती है। (१) विशरण (विनाश) (२) गति (ज्ञान और प्राप्ति) (३) वसादन (शिथिल करना)। इस आधार पर उपनिषद् शब्द का यह अर्थ बनता है—'जो पाप तापों का नाश करे, वह उपनिषद् है।'

अमर कोष में आता है—'धर्मे रहस्युपनिषतुस्यात्' अर्थात् उपनिषद् शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयोग होता है।

उपनिषद् शब्द का एक और भी अर्थ है, उप (व्यवधान रहित) नि (सम्पूर्ण) षद् (ज्ञान)। अर्थात् व्यवधान रहित, सर्वाङ्गपूर्ण सम्पूर्ण ज्ञान। उपनिषदों में जो ज्ञान अभिप्रेत है, वह निस्सन्देह ऐसा ही है, उसे सब दृष्टियों से परिपूर्ण एवं सत्य ज्ञान ही कहा जा सकता है।

भारतीय तत्वज्ञान का जितना उत्कृष्ट विवेचन उपनिषदों में मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं है। संसार के सभी तत्वदर्शियों के लिए यह ज्ञान अमृतोपम होता रहा है। जिसने इसका जितना ही अवगाहन किया है, उसे उतना ही आनन्द मिला है।

आत्म कल्याण का मार्ग-दर्शन प्राप्त करने के लिये उपनिषदों से बढ़कर प्रकाश स्तंभ और कोई हो नहीं सकता। वनों और आरण्यकों से, गुरुकुलों और विद्यालयों में, प्रवचनों और सूत्रों में, उपनिषदों का ही विवेचन प्रधानतया होता था। उनमें सन्निहित ज्ञान इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिये समान रूप में उपयुक्त होने के कारण गृही-विरागी सभी के लिए श्रेयस्कर माना जा रहा है। जीवन की सभी स्थितियों के लिए आवश्यक मार्गदर्शन उनमें मौजूद है। चारों वर्णों और आश्रमों के लोग अपनी-अपनी परिस्थितियों और मनोभूमियों के उपयुक्त प्रकाश उपनिषदों में से प्राप्त कर सकते हैं। इस महान् ज्ञान भाण्डागार में सभी के लिए सब कुछ मौजूद है।

वेद अनन्त हैं। कल्प-कल्पान्तरों में उनकी शाखायें प्रादुर्भूत होती रहती है। वर्तमान मन्वन्तर में वेद की ११८० शाखायें होना माना जाता है। प्रत्येक शाखा का एक मन्त्र भाग, एक उपनिषद् तथा एक ब्राह्मण होता है। इस प्रकार ११८० उपनिषदें और ११८० मन्त्र भाग होने चाहिए। पर आज इस वाङ् मय का अधिकांश भाग लुप्त है। कुछ थोड़ी सी उपनिषदें दिखाई देती हैं। १०८ उपनिषदें प्रसिद्ध हैं। नई-नई खोज-बीन से जो उपलब्ध हुई हैं, उनकी संख्या २५० के लगभग है। यों दश उपनिषदें प्रधान मानी जाती हैं—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तरीय (८) ऐतरीय (९) छान्दोग्य (१०) श्वेताश्वेतर। पर शेष उपनिषदें भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

अध्यात्म मार्ग के तीन प्रमुख साधन बताए गये हैं—(१) श्रवण (२) मनन, (३) निदिध्यासन। इन प्रयोजनों के लिये तीन शास्त्र बने हैं—(१) उपनिषद् (२) वेदान्त (३) गीता। इन्हें ही 'प्रस्थान त्रयी' कहते हैं। उपनिषदों से श्रवण की, ब्रह्मसूत्र से मनन का, गीता से निदिध्यासन का उद्देश्य पूरा होता है।

उपनिषदों में (१) सद् विद्या (२) अन्तरादित्य विद्या (३) आकाशविद्या (४) प्राण विद्या (५) ज्योतिविद्या (६) इन्द्र प्राण विद्या (७) शांडिल्य विद्या (८) उपकोशल विद्या (९) वैश्वानर विद्या (१०) भूमि विद्या (११) आनन्द विद्या (१२) नचिकेतस विद्या (१३) अन्तर्यामि विद्या (१४) अक्षर विद्या (१५) गार्ग्यक्षर विद्या (१६) आक्षिस्थाहन्नायक विद्या (१७) आदित्यस्थाहन्नायक विद्या (१८) पंचाग्नि विद्या (१९) मैत्रेयी विद्या (२०) बालाकि विद्या (२२) संवर्ग विद्या (२३) देवोपास्यज्योतिविद्या (२४) अंगुष्ठप्रमितविद्या (२५) दहर विद्या (२६) प्रणव विद्या (२७) पुरुष विद्या (२८) उशस्तिरकहोल विद्या

(२९) व्याहृति विद्या (३०) ईशावास्य विद्या (३१) द्रुहिणरुद्रादि शरीर विद्या (३२) अजा शरीर—इन विद्याओं का वर्णन आता है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में कहा था—'मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान् ज्ञान है। हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें। हमें शक्ति चाहिए। शक्ति के बिना काम न चलेगा। यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हो ? उपनिषदें ही शक्ति की खानें हैं। उनमें ऐसी शक्तियाँ भरी पड़ी हैं जो सम्पूर्ण विश्व को बल, शौर्य एवं नव-जीवन प्रदान कर सके। उपनिषदें किसी भी देश, जाति, मत, सम्प्रदाय का भेद किये बिना हर दीन, दुर्बल, दुखी और दलित प्राणी को पुकार-पुकार कर कहती हैं—उठो, अपने पैरों पर खड़े होओ और बन्धनों को काट डालो। शारीरिक, स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनत , आध्यात्मिक स्वाधीनता, यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।'

वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'India, what can it teach us' में लिखा है—

"मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूरी शक्ति से तैयारी करने और सत्य को जानने के इच्छुक जिज्ञासु के लिये उपनिषदों के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ मार्ग मेरी दृष्टि में नहीं है। उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में भारी सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूँ। यह उपनिषदें आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्मानास्पद रही हैं और आगे सदा रहेगी। यह ज्ञान, महान् महर्षियों की महान् प्रज्ञा का परिणाम है। एक न एक दिन भारत की यह श्रेष्ठ विद्या समस्त योरोप में प्रकाशित होगी और तब हमारे ज्ञान एवं विचारों में महान् परिवर्तन उपस्थित होगा।"

योरोप के विद्वान् दार्शनिक शोपनहार ने अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार प्रकट की है—

"यद्यपि संस्कृत भाषा का वह समुचित ज्ञान हमें प्राप्त नहीं है जिससे उपनिषदों के वास्तविक रहस्य को समझा जा सके, तो भी जितना कुछ समझा जा सका है, उससे यह मानना पड़ता है कि उनका प्रत्येक स्थल गम्भीर ज्ञान और उच्च भावनाओं से ओत-प्रोत है। जब हम उन्हें पढ़ते हैं तो भारत का दिव्य वातावरण हमारे चारों ओर छा जाता है और उनके रचयिता ऋषि हमारे हृदय में प्रवेश करते प्रतीत होते हैं। उपनिषदों के समान आत्मा को ऊँचा उठाने वाला ज्ञान संसार में और कहीं नहीं है। मेरी आत्मा को इस जीवन में उपनिषदों से ही शांति मिली है और आशा करता हूं कि इन्हीं से मृत्यु के उपरान्त भी शान्ति मिलेगी।"

स्वीडन के मनीषी प्रो० पाल डयूसन ने लिखा है—

"उपनिषदें मनुष्य की महान् मेधा का अमूल्य फल हैं। जीवन-मृत्यु की, दुख-सुख की प्रत्येक परिस्थिति में हर घडी इनके द्वारा ऐसी शान्ति मिलती है जैसी अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। आत्मज्ञान, और आत्म शान्ति का यह एक ऐसा कोष है जैसा संसार में और कहीं दिखाई नहीं देता। मैं भारत की यात्रा पर गया था, वहाँ मैंने बहुत कुछ पाया, पर सबसे बहुमूल्य विभूति जो मैंने वहाँ से प्राप्त की वह है—"पवित्र संस्कृत भाषा में ऋषियों के दिव्य ज्ञान से ओत-प्रोत उपनिषदें।"

'Dogmas of Budhism' नामक ग्रन्थ के लेखक श्रीह्यूम ने लिखा है—'सुकरात, अरस्तु, अफलातून आदि कितने ही दार्शनिकों के ग्रन्थ मैंने ध्यानपूर्वक पढ़े हैं, पर जैसी शान्तिमयी आत्मविद्या मैंने उपनिषदों में पाई, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।"

"Philosophy of the Upnishads" नामक ग्रन्थ के प्रणेता प्रसिद्ध दार्शनिक पाल डायसन ने उपनिषदों को विश्व का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान माना है। उसने लिखा है "उपनिषदों का ज्ञान भारत में प्राप्त माना ही

जाता है, वस्तुतः वह सारे संसार के लिए अनुपम है। उनमें दार्शनिक सत्य की अद्‌भुत अभिव्यजना है तथा परम श्रेयस्कर आत्मविद्या के सिद्धान्तों का ऐसा मार्मिक विवेचन है जैसा संसार में अन्यत्र शायद ही कहीं हो।"

"Is God knowable" नामक ग्रन्थ में उसके रचयिता प्रो० जी० आर्क ने लिखा है—

"मनुष्य की आत्मिक, मानसिक और सामाजिक गुत्थियां किस प्रकार सुलझ सकती हैं इसका ज्ञान उपनिषदों से ही मिल सकता है। यह शिक्षा इतनी सत्य, शिव और सुन्दर है कि अन्तरात्मा की गहराई तक उसका प्रवेश होता है। जब मनुष्य सांसारिक दुखों और चिन्ताओं से घिरा हो तो उसे शान्ति और सहारा देने के अमोघ साधन के रूप में उपनिषदें ही सहायक हो सकती हैं।"

औरङ्गजेब के बड़े भाई दाराशिकोह को उपनिषद् ज्ञान की महत्ता मालुम हुई तो उसने पण्डितों द्वारा उन्हें सुना। सुनने के बाद वह इतना प्रभावित हुआ कि उनका मर्म समझने के लिए संस्कृत भाषा ही पढ़नी आरम्भ कर दी। उसने सं० १६५७ से लेकर ११७३ तक सत्रह वर्ष संस्कृत पढ़ी और साथ ही उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद भी करता रहा। दाराशिकोह ने अपनी फारसी उपनिषद् अनुवाद की भूमिका में लिखा है—

'आत्मविद्या के मैंने बहुत ग्रन्थ पढ़े पर परमात्मा की खोज की प्यास कहीं न बुझी। हृदय में ऐसी अनेकों शंकायें और समस्यायें उठती थीं जिनका समाधान ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव न था। मैंने कुरान, तौरेत, इन्जील, जबूर आदि ग्रन्थ पढ़े उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है जिससे आत्मा को शाश्वत शान्ति तथा सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती

है। हजरत नबी ने भी आयत में इन्हीं प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।

औरङ्गजेब की बेटी जेबुन्निसा ने एक दिन अपने चचा दाराशिकोह को एक अनोखी मस्ती में झूमते देखा तो उसने इसका कारण पूछा। दारा ने बताया कि यह उपनिषद् ज्ञान से प्राप्त हुई मस्ती है। इस पर जेबुन्निसा ने अपने चचा से उपनिषद् सुने और वह भी उस ज्ञान से बहुत प्रभावित हुई।

सन् १७५७ में बङ्गाल में फ्रांस के राजदूत श्री जटिथल ने उपनिषदों की प्रशंसा अपने देश में की तो उससे अनेक विद्वान् प्रभावित हुए। पादरी ड्यूपास इसी उद्देश्य के लिए भारत आया और उसने १४ वर्ष यहाँ पर रह कर संस्कृत पढ़ी तथा सन् १८०१ में उपनिषदों का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया। संसार की कोई सभ्य भाषा ऐसी नहीं है जिसमें उपनिषदों के सम्बन्ध में छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित न हुए हों। इस तत्वज्ञान पर सारे संसार के दार्शनिक मुग्ध हैं।

अपनी 'उपनिषद् एक अध्ययन' पुस्तक की प्रस्तावना में सन्त विनोवा ने लिखा है—'उपनिषदों की महिमा अनेकों ने गाई है। कवि ने कहा है कि 'हिमालय जैसा पर्वत नहीं और उपनिषदों जैसी पुस्तक नहीं है।' परन्तु मेरी दृष्टि से उपनिषद् पुस्तक है ही नहीं, वह तो एक दर्शन है। उस दर्शन को यद्यपि शब्दों में अंकित करने का प्रयत्न किया गया है फिर भी शब्दों के कदम लड़खड़ा गये हैं। परन्तु सिर्फ निष्ठा के चिन्ह उभरे हैं। उस निष्ठा को हृदय में भर कर शब्दों की सहायता से शब्दों को दूर हटाकर अनुभव किया जाय तभी उपनिषदों का बोध हो सकता है। मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है। लेकिन मैं जानता हूँ कि

उपनिषद् मेरी माँ की माँ हैं। उसी श्रद्धा से उपनिषदों का मेरा मनन, निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है ।

उपनिषदों को जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण दर्शन ही कहना चाहिये। उनमें जीवन को शान्ति और आनन्द के साथ जीने तथा प्रगति के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते जाने की विद्या का भली-भाँति विवेचन हुआ है। लौकिक और पारलौकिक, बाह्य और आन्तरिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के दोनों ही पक्ष जिसके आधार पर समुन्नता हों, वह महत्वपूर्ण विज्ञान उनमें भरा हुआ है। यों उपनिषदें छोटे-छोटे प्रकरणों के रूप में दिखाई देती हैं। उथली दृष्टि से उन्हें देखा जाय तो साधारण-सी बातें लिखी दिखाई पड़ती हैं। पर यदि उनका गम्भीरतापूर्वक मनन किया जाय तो एक-एक पंक्ति में अमृत भरा प्रतीत होता है। इस शाश्वत ज्ञान के समुद्र में जितना गहरा उतारा जाय, उतना ही अधिकाधिक आनन्द उपलब्ध होता है।

उपनिषद् में उल्लखित ज्ञान को पढ़ने, विचारने और मनन करने से मनः क्षेत्र में श्रेयस्कर प्रकाश की दिव्य किरणें परिलक्षित होती हैं। इसलिए अनेकों आत्म-कल्याण के साधक उसका निरन्तर पाठ करते हैं। पाठ करने का प्रारम्भिक लाभ यह है कि वह विचार बार-बार मनः क्षेत्र में उतरे और उनके प्रति निष्ठा बढ़े । परन्तु इतने से ही काम न चलेगा, उन्हें व्यवहार में उतारना होगा, कार्य रूप में परिणित करना होगा तभी वास्तविक लाभ प्राप्त होगा।

इन मन्त्रों में प्रयुक्त हुये कठिन शब्दों को देखकर ऐसा लगता है कि यह ज्ञान केवल एकान्तसेवी सन्त महात्माओं के लिये ही व्यवहार में आने योग्य है। साधारण स्थिति के गृहस्थ अपनी विषम परिस्थितियों के कारण इसे जीवन में उतार न सकेंगे। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है

जितना यह ज्ञान कठिन है, उतना सरल भी है। जिस प्रकार पानी में तैरना कठिन दिखाई पड़ता है, उसमें दुर्घटना की आशंका भी प्रतीत होती है, किन्तु जब सच्ची लगन होती है और प्रयत्न पूर्वक अभ्यास किया जाता है तो वह कठिन कार्य सरल बन जाता है। इसी प्रकार उपनिषदों में जिस ब्रह्मविद्या का उल्लेख हुआ है वह भी सरल है। कठिन तो वह उन्हें दीखती है जो उससे दूर रहते हैं, दूर से देखते हैं भीतर प्रवेश करने का साहस करने पर वह सरल ही है। जितनी सरल है उतनी कल्याणकारक भी है।

उपनिषदों की संख्या बहुत है। २०० से ऊपर तो प्रकाशित ही हो चुके हैं। कितने ही अप्राप्य हो गए, कितने ही अप्रकाशित हैं। समय आने पर प्रकाश में आवेंगे। १०८ उनमें से प्रधान माने जाते हैं।

किन्हें प्रधान और किन्हें गौण माना जाय इस सम्बन्ध में मतभेद हैं। जिन विद्वानों का दृष्टिकोण जिस प्रकार का रहा है उनने अपने अनुकूल विचारों के उपनिषदों को प्रधान और अन्यों को गौण माना है। यों सभी प्रधान हैं। उनमें से किसी का महत्व कम नहीं। चिकित्सक की दृष्टि में औषधालय की सभी औषधियाँ महत्वपूर्ण हैं। रोगी अपनी दृष्टि से उनमें से उन औषधियों को सर्वोत्तम मान सकता है जो उसके रोग के लिए उपयुक्त हों।

ज्ञान-खण्ड, ब्रह्मविद्या खण्ड और साधना-खण्ड, इन तीन खण्डों में इन १०८ उपनिषदों को विभाजित किया गया है। ज्ञान खण्ड में विचारात्मक उपनिषद् लिये गये हैं। आत्म कल्याण मार्ग के पथिक को अपनी भावनाओं का निर्णय किस प्रकार करना चाहिये और जीवन की गतिविधियों का कार्यक्रम किस प्रकार बनाना चाहिये, इसका उल्लेख जिन उपनिषदों में है, उनको प्रथम खण्ड में ज्ञान भाग में लिया गया है।

ब्रह्मविद्या के महत्व, रहस्य एवं प्रयोग का विवेचन करने वाले उपनिषद् द्वितीय खण्ड में संग्रह किए गये हैं।

जिसमें साधना का विषय है, उन्हें तीसरे साधना खण्ड में संग्रह किया गया है। साधना वस्तुत: एक महान् विज्ञान ही है, जिस प्रकार अमुक यन्त्रों की सहायता से वैज्ञानिक लोग अपनी प्रयोगशाला में शोध-कम करते हैं, उसी प्रकार आत्म-विज्ञानी को अपने शरीररूपी प्रयोग-शाला में विविध चक्रों ग्रन्थियों, विधि-विधानों एवं कर्म काण्डों के आधार पर दिव्य शक्तियों का उपार्जन करने के लिये साधना करनी पड़ती है। यह आत्मसाधना—भौतिक विज्ञान की साधना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिये आत्मसाधक को एक वैज्ञानिक अन्वेषण-कर्ता ही कहना चाहिये। उसकी साधना सच्चे अंशों में विज्ञान है। इस विज्ञान की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे भाग—विज्ञान खण्ड में हुई है।

उपलब्ध एवं प्रकाशित जो २०० से अधिक उपनिषदें सामने हैं, उनमें से प्रत्येक में ब्रह्मविद्या के किसी न किसी पहलू का विवेचन हुआ है और वे सभी विवेचन अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। इस सङ्कलन में १०८ का चुनाव इस दृष्टि से किया गया है कि सभी दृष्टि कोणों से सम्बन्धित उपनिषदों का समावेश इसमें हो जावे। कोई पहलू छूटने न पावे। ज्ञान, कर्म, उपासना के तीनों विषयों को, इस सङ्कलन में समानरूप से स्थान दिया गया है। जो १०० से अधिक उपनिषद् इस संकलन में नहीं आ सके हैं, वे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, उनमें भी बहुत ज्ञान है, पर जिन विषयों की चर्चा उनमें थी, उसका समावेश प्रस्तुत पुस्तक में भी अवश्य हुआ है। प्रयत्न यह किया गया है कि

कोई मुख्य विषय छूटने न पावे। अभी १०८ उपनिषदों के संकलन का ही विचार था, सो उतनी संख्या को देखते हुए यह चुनाव किया गया है। शेष १०८ और भी बचती हैं, यदि सम्भव हुआ तो कभी उन सबको भी प्रस्तुत करेंगे।

उपनिषदों की हिन्दी सरल टीका का ऐसा संग्रह अब तक कहीं से प्रकाशित नहीं हुआ था जिसमें प्रायः सभी प्रमुख उपनिषदों का समावेश होता। भारतीय धर्म के इतने महान् ज्ञान से सर्व-साधारण को इस प्रकार के प्रकाशन के बिना वंचित ही रहना पड़ रहा था। इस एक बड़ी कमी की पूर्ति इस प्रकाशन के द्वारा होगी, ऐसी आशा है।

इस संकलन के अनुवाद कार्य में 'चाँद' 'सतयुग' 'प्रणवीर' आदि कितने ही पत्रों के सुप्रसिद्ध सम्पादक श्री सत्यभक्त जी, पं बुद्धिवल्लभजी आचार्य, कविराज श्री दाऊदयालजी गुप्त साहित्यरत्न आदि जिन सज्जनों से महत्वपूर्ण सहयोग मिला है, उनके लिये हृदय से कृतज्ञ हैं।

अध्यात्म प्रेमी जनता को यदि इस संकलन से कुछ लाभ प्राप्त हो सका तो अपने श्रम को सार्थक हुआ समझूँगा।

गायत्री जयन्ती
जेठ सुदी १०, सं० २०१८

श्रीराम शर्मा आचार्य
गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रम् ।
शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा,
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥

अर्थात् आध्यात्मिक साधना में सफल मनोरथ होने के लिए उपनिषद् एक महान् अस्त्र है जिसके अध्ययन और मनन करने से अक्षर ब्रह्म के लक्ष्य की प्राप्ति असन्दिग्ध रूप से होती है ।

ज्ञान-खण्ड का परिचय और विवेचन

ज्ञान-खण्ड में प्रस्तुत उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१—ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेद का ४० वाँ अध्याय है। इसकी शिक्षाएँ इतनी महान् हैं कि यजुर्वेद में से उसे छांटकर अलग उपनिषद् के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के विशाल समुद्र में से भगवद् गीता के १८ अध्याय भी उसकी महत्ता को देखते हुए इसी प्रकार अलग से छांटे गये थे।

इस उपनिषद् का प्रारम्भिक मन्त्र ब्रह्मविद्या का सार कहा जा सकता है। 'यह सारा जगत् परमात्मा से परिपूर्ण है। उसका स्मरण रखते हुए सांसारिक पदार्थों को त्यागपूर्वक भोगो। इसमें आसक्त मत होओ। क्योंकि यह धन किसका है?" इस शिक्षा में ईश्वर को घट-घटवासी, सर्वव्यापक मानने पर जोर दिया गया है। यह मान्यता हर प्राणी और पदार्थ को ईश्वर की प्रतिमूर्ति जान कर उसके साथ सम्मानास्पद श्रेष्ठ व्यवहार करने की प्रेरणा देती है। दुष्कर्मों से बचाती है। जिस प्रकार पुलिस और न्यायाधीश की उपस्थिति में चोर, चोरी नहीं करता उसी प्रकार परमात्मा को सर्वव्यापी मानने और जानने वाला व्यक्ति भी पाप कर्म कैसे कर सकेगा? इस संसार में सुख और प्रसन्नता देने वाले पदार्थ बहुत हैं, उनका सात्त्विक उपयोग किया जा सकता है, पर उनके संग्रह और स्वामित्व की तृष्णा नहीं रहनी चाहिये।

जो कुछ धन वैभव है वह सब विश्वात्मा का है, समाज का है, उसका लालच नहीं करना चाहिए। अपना भाग मात्र लेकर शेष दूसरों के लिए छोड़ देना चाहिये।

इस ज्ञान में व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष का श्रेष्ठतम आदर्श उपस्थित है। समाज की सारी समस्याओं का हल इसमें सन्निहित है। यदि लोग इस आदर्श को अपना लें तो इस धरती पर ही स्वर्ग अवतीर्ण हो सकता है। एक दूसरे को भगवान् का रूप मानकर सद्व्यवहार करें। दुष्कर्मों से दूर रहें, तृष्णा और वासना के लालच में न पड़ें, सम्पत्ति को सारे समाज की वस्तु मानकर चलें तो फिर क्लेश कलह का, शोक सन्ताप का कोई कारण ही नहीं रह जाता है। सुसंस्कृत मनुष्य का यही आदर्श हो सकता है। इस आदर्श का उपनिषद् विद्या मे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

हम कर्तव्य कर्मों में कटिबद्ध रहें, स्वास्थ्य के नियमों का पालन करते हुए दीर्घजीवी बनें, अज्ञान के अन्धकार को असुरों का प्रतीक समझ कर उससे दूर रहें, आत्मा की आवाज न कुचलें, आत्म-हत्या न करें यह शिक्षा ईशोपनिषद् के दूसरे और तीसरे मन्त्रों में दी गई है। छठवें और सातवें मन्त्रों में प्राणिमात्र के प्रति घृणा त्याग कर प्रेम भाव बढ़ाने को आत्म साक्षात्कार और मोह शोक से बचने का उपाय बताया गया है। पन्द्रहवें मन्त्र में बताया गया है कि स्वर्णिम पात्र के लोभरूपी आवरण से सत्य का मुँह ढका हुआ है, उसे हटा कर निर्लोभ और सत्यनिष्ठ बनने से ही परमात्मा के दर्शन होते हैं। शरीर की नश्वरता का, शुभाशुभ कर्मों को स्मरण रखने का सन्देश सत्रहवाँ मन्त्र देता है। अन्त में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हमें पाप कर्मों से बचते हुए सन्मार्ग पर ले चले।

आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिये, सच्चे अर्थों में मनुष्य बनने के लिए यह कितनी उत्कृष्ट शिक्षा है।

19/06/55

२—केनोपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण विस्तारपूर्वक करते हुए कहा गया है कि "यदि इस देह के रहते बस ब्रह्म को जान लिया तब, तो यथार्थ सुख है। अन्यथा विनाश ही है।" यह शब्द वस्तुत: मनन योग्य हैं। ८४ लक्ष योनियों में भ्रमण करने के बाद लाखों वर्षों बाद यह मनुष्य शरीर बडी कठिनाई से मिलता है। यदि इसे पशुओं की भाँति आहार विहार की चिन्ता में ही बिता दिया तो निसन्देह यह हीरे को कांच के मोल में बेच देना ही हुआ। इसका यथार्थ लाभ ब्रह्म को जानना ही है। यों कहने सुनने में ब्रह्म सरल है। केनोपनिषद् में जो उसका विस्तार पूर्वक वर्णन है, उसे पढ़कर कोई भी कह सकता है कि हमने ब्रह्म जान लिया। पर यहाँ जानने का अर्थ अनुभव की गहरी चेतना में, व्यवहारिक जीवन में उतारना है। ब्रह्म के वर्णित स्वरूप की अनुभूति हम अपने आन्तरिक और वाह्य जीवन में करने लगें तो समझना चाहिए कि ब्रह्म को जान लिया। यही सबसे बड़ा लाभ इस जन्म का हो सकता है। मुक्ति और सद्गति इसी स्थिति पर निर्भर हैं।

तृतीय खण्ड में एक सुन्दर दृष्टान्त देकर अहंकार की निवृत्ति को आत्मिक प्राप्ति के लिये आवश्यक बताया गया है। ब्रह्मा ने एक तिनका सामने रखकर अभिमानी देवताओं से कहा इसे उड़ाओ,जलाओ। पर वे कुछ भी न कर सके तो ब्रह्मा ने कहा शक्ति का केन्द्र शरीर नहीं आत्मा है। शरीर तो जड़ है, इसके लिये अभिमान कैसा? निराभिमानता ही सज्जनता का चिन्ह है।

३—कठ उपनिषद् में नचिकेता और यम के सम्वाद का प्रसिद्ध उपाख्यान है। वाजिश्रवा एक बड़ा यज्ञ करते हैं, उसमें दान भी बहुत करते हैं, पर उस दान में वास्तविकता कम और लोक दिखावा बहुत है। कहने को तो बहुत बड़ी संख्या में गौएँ दान की गईं पर वे थीं बूढ़ी और बेकार। वाजिश्रवा का पुत्र नचिकेता अपने पिता की इस भूल पर दुखी होता है, वह चाहता है जो भी किया जाय, जो भी दिया जाय

उत्कृष्ट हो। उत्कृष्टता में ही मनुष्य का गौरव सन्निहित है। काम भले ही छोटा या थोडा हो, पर होना चाहिये आदर्श, उत्कृष्ट। अपनी व्यथा को लेकर बालक नचिकेता अपने पिता के पास जाता है और भारतीय तत्वज्ञान की ओर— आदर्शवाद की ओर—उनका ध्यान आकर्षित करता है। पिता मन ही मन में झुंझलाता है और झल्लाकर उत्कृष्ट प्रिय वस्तु पुत्र नचिकेता को यमराज के लिये दान कर देता है।

नचिकेता यम के घर पर पहुँचता है और उसके आने तक उचित शिष्टाचार का प्रदर्शन करते हुए निराहार ही रहता है। यमाचार्य घर आते हैं, सारा वृत्तान्त मालुम होता है तो बालक की उच्च भावनाओं से बहुत सन्तुष्ट होते हैं। साथ ही उसे तीन वर माँगने के लिये भी कहते हैं। नचिकेता नम्रतापूर्वक पहला वर यही माँगता है कि—मेरे पिता का क्रोध शांत हो जाय, वे मेरे ऊपर पहले जैसा ही प्यार करने लगें। बालक की पितृ स्नेह प्राप्त करने की, उन्हें सन्तुष्ट रखने की भावना, आर्य संस्कृति के अनुकूल ही है। यह वरदान उसे मिलता है। दूसरे वरदान में वह यज्ञ का विधान और तीसरे में परलोक का ज्ञान प्राप्त करने की याचना करता है। यम परीक्षा के लिये उसे सांसारिक सुख की वस्तुएँ माँगने का प्रलोभन देते हैं और इन दो वरदानों की अपेक्षा कोई सुख सामग्री प्राप्त कर लेने के लिये समझाते हैं। इस पर नचिकेता जो उत्तर उन्हें देता है वह मनन करने योग्य है। उसने कहा—"भोग क्षण भंगुर हैं वे मनुष्य के तेज का हरण कर लेते हैं। धन से कभी तृप्ति नहीं होती, मनुष्य देह तो जीर्ण होकर मरने ही वाला है फिर उस आत्म-ज्ञान को ही क्यों न प्राप्त किया जाय जिसे पाकर आत्मा अमृतत्व उपलब्ध करती है।' इस कथन के द्वारा उपनिषद्कार ने आत्म-ज्ञान की महान् महत्ता की तुलना सांसारिक तुच्छ वस्तुओं से करते हुए प्रतिपादित किया है कि श्रेय का पथ 'आत्म-ज्ञान' पर ही निर्धारित है।

कठोपनिषद् में आगे यम द्वारा अग्नि विद्या का, परलोक का, आत्मा का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है, वह सब तो महत्वपूर्ण है ही, पर उसकी पूर्ण भूमिका जिस प्रकार नचिकेता ने प्रस्तुत की है वह भी कम प्रभावोत्पादक नहीं है।

४—प्रश्नोपनिषद् में छै ऋषियों ने महर्षि पिप्पलाद से ब्रह्मविद्या सम्बन्धी छै प्रश्न किये हैं। उनके उत्तर देने से पूर्व महर्षि ने प्रश्नकर्ताओं की जिज्ञासा की गहराई को नापने का प्रयत्न किया है। उसने कहा— 'आप लोग श्रद्धा सहित, ब्रह्मचर्यपूर्वक तप करते हुए एक वर्ष तक यहाँ रहें। इसके पश्चात् जिज्ञासानुसार प्रश्न करें। यदि मैं उन बातों को जानता हूँगा तो आपको बता दूँगा।'

ज्ञान अनेक लोग प्राप्त करते हैं पर हीन मनोभूमि के कारण न तो उसका महत्व समझते हैं और न उसे हृदयङ्गम करते हैं। ऐसा ज्ञान निष्फल हो जाता है। कई बार तो वह अहङ्कार को भी बढ़ा देता है। इसलिए प्राचीन शैली यह थी कि सत्पात्र को ही उच्चकोटि का ज्ञान दिया जाय। ताकि उसके दुरुपयोग की आशङ्का न रहे। पात्रता की परीक्षा की उनने चार कसौटी की थीं। १—श्रद्धा, २—ब्रह्मचर्य, ३—तप, ४—धैर्य। पहले इन गुणों का विकास करना पीछे शिक्षा देना, प्राचीन गुरुकुलों की यही शैली थी। उस शैली का दिग्दर्शन प्रश्नोपनिषद की इस भूमिका में भी हुआ है।

आज की शिक्षा प्रणाली में यदि यह आदर्श सम्मिलित किया गया होता तो प्रत्येक क्षेत्र से 'सुशिक्षितों" द्वारा अनर्थ हो रहे हैं वे न होते। अशिक्षितों की अपेक्षा शिक्षितों की बौद्धिक शक्ति अत्यधिक होती है इसलिये उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये अनर्थ भी भयंकर विपत्ति जैसे ही होते हैं। आज की वैज्ञानिक प्रगति तो विनाश उपस्थित करने के लिये तैयार ही खड़ी है।

छै ऋषियों ने छै प्रथक-प्रथक प्रश्न किये हैं उनके विस्तृत उत्तर भी उपनिषद् में हैं। सबसे महत्वपूर्ण विवेचन 'प्राण' सम्बन्धी है। प्राण-शक्ति को संसार की महान् शक्ति बताया गया है और उसके प्राप्त करने के उपाय 'मानसिक संकल्प' बताया गया है। सङ्कल्प बल से प्राण-शक्ति बढ़ाते हुए मनुष्य निस्सन्देह सब दृष्टियों से महान् बन सकता है। यह एक स्वतन्त्र विद्या है। इसका संक्षिप्त वर्णन सूत्र रूप से उपनिषद् में किया गया है पर भारत के महान् जागरण के लिये इस विद्या का विस्तृत विकास अपेक्षित है।

५—मुण्डकोपनिषद् में शौनक और अङ्गिरा से सम्वाद रूप में परा और अपरा विद्या का वर्णन हुआ है। आत्म उपलब्धि की विद्या को 'परा' कहा गया है। प्रथम मुण्डक के द्वितीय खण्ड में 'यज्ञ' की महिमा पर जोर दिया गया है। यों आत्मा को परमात्मा में हवन कर देना भी आत्म-यज्ञ है पर अग्निहोत्र की महिमा भी कम नहीं है। विधि पूर्वक किया हुआ हवन अपनी सूक्ष्म शक्ति से अग्निहोत्री की अन्तः स्थिति को ऐसा बनाता है कि उसे श्रेय की प्राप्ति हो सके। कहा गया है-'वे आहुतियां यज्ञ-कर्त्ता का सत्कार करती हुई उसे ऊपर ले जाती हैं और कहती हैं आओ, आओ तुम्हारे शुभ कर्मों का फल ब्रह्मलोक है' इसी प्रकार अग्निहोत्र न करने वाले की भर्त्सना भी की गई है। लिखा है—'जहां अग्निहोत्र की उपेक्षा होती है वहां सातों पुण्यलोक नष्ट होते हैं।'

द्वितीय मुण्डक में ॐकार को धनुष और तप को बाण बताकर उससे ब्रह्म का तन्मयतापूर्वक लक्ष वेध करने का निर्देश किया गया है।

इस शरीर में आत्मा और परमात्मा की दो सत्ताओं को एक वृक्ष पर बैठे हुये दो पक्षियों की उपमा दी गई है। एक कर्म फलों के स्वाद को चखता है मोह और शोक में डूबा रहता है और दूसरा केवल दृष्टा मात्र है। यहां जीव को मोह शोक में डूबा पक्षी बताया गया है।

रमात्मा की प्राप्ति का तृतीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में सुन्दर विवेचन । कहा गया है—परमात्मा अत्यन्त समीप और दूर से भी दूर है। ह ढूँढने वाले की हृदय रूपी गुफा में प्रतिष्ठित है।' अज्ञानियों के लिये परमात्मा वस्तुतः दूर है, वे उसे ढूँढने के लिये दूर-दूर जाते हैं फिर भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते। वस्तुतः वह समीप से समीप है, ढूँढने वाले की हृदय रूपी गुफा में बैठा है जिसने उसे वहाँ तलाश किया निःसन्देह उसे वह वहाँ मिला भी है। इसके लिये उपासना की आवश्यकता है। कहा गया है-जिसके पास उपासना रूपी बल नहीं है, जो प्रमादी हैं वे उसे नहीं पाते। अङ्गिरा ने अन्त में एक बात और भी स्पष्ट कर दी है—जिसने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया, वह इस सत्य को नहीं जान सकता। तप ही प्रभु प्राप्ति का प्रधान मार्ग है और तप का प्रथम सोपान—इन्द्रिय निग्रह है।

६—मांडूक्योपनिषद् के सबसे प्रथम मन्त्र में इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म ही कहा गया है विराट विश्व को परमात्मा का रूप मान लेने से ही साकार उपासना का उद्देश्य पूरा होता है। संसार के प्रत्येक पदार्थ और प्राणी के प्रति ईश्वर जैसी श्रद्धा रखने से उसके प्रति सहज ही सेवा और सद्व्यवहार की भावना जाग्रत होती है। यही भावना विश्वशान्ति एवं आत्म कल्याण का भी प्रधान आधार बनती है। आगे मन्त्रों में उस ब्रह्म रूप का वर्णन है। सात लोक उसके सात अङ्ग हैं। इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तः करण उसके मुख हैं। विश्व उसका स्थान है, इस प्रकार यहाँ जो कुछ भी है वह सब ब्रह्ममय ही है। उसका नाम 'ॐ' है। इन्हीं भावनाओं का इस उपनिषद् में विवेचन किया गया है।

७—ऐतरेयोपनिषद् में सृष्टि निर्माण का क्रम है। परमात्मा ने तप किया, उसके तेज से जो अण्ड उत्पन्न हुआ उसी से शरीर के विभिन्न अवयव उपजे।' इसका निष्कर्ष यह है कि जो कुछ भीतर और बाहर दिखाई पड़ रहा है उसका मूल 'तप' है। परमात्मा के तप से उत्पन्न

सृष्टि मनुष्य के तप से सुव्यवस्थित रहती है। जब इस तप का लक्ष्य व्यक्तिगत हो जाता है तभी प्रकृति में विकृति होने लगती है, जिसका सुधार करना हो तो फिर तप की ही आवश्यकता पड़ती है।

परमात्मा ने देवता उत्पन्न किये। उनने अपने रहने के लिये निवास स्थान माँगा। परमात्मा ने गाय, घोड़ा आदि के शरीर उन्हें दिखाये पर अन्त में उन्हें मनुष्य शरीर ही पसन्द आया और उसमें प्रवेश कर गये। अग्नि ने मुख में, वायु ने नासिका में, सूर्य ने नेत्रों में, दिग ने कानों में, चन्द्रमा ने हृदय में, मृत्यु ने नाक में, वरुण ने उपस्थ में प्रवेश किया। और उस शरीर की क्षुधा पिपासा में अपनी क्षुधा पिपासा सम्मिलित करके निवास करने लगे।' इस रूपक में मनुष्य शरीर के प्रत्येक अङ्ग को देवतत्वों का प्रतिमान बताया गया है। देवताओं के ओर अशिष्टता बरतने में अनिष्ट और पुण्य प्रकृया व्यवहृत करने में मङ्गल होता है। अतएव हमें इस शरीर को देव मन्दिर मानकर इसका श्रद्धापूर्ण सदुपयोग करना उचित है। किसी भी मन्दिर का दुरुपयोग न होने पाने अन्यथा उस देवता को कष्ट होगा। यह भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि इन्द्रियों की क्षुधा में देवताओं की क्षुधा सम्मिलित है। भोग में आसक्ति न की जाय यह ध्यान रखने में ही दिव्य जीवन की प्रकृया सधती है।

मूर्धा से, मस्तिक से, इस शरीर में परमात्मा ने स्वयम् प्रवेश किया : अर्थात् बुद्धि ईश्वर की प्रतिनिधि रूप में उपलब्ध हुई। उसे निकृष्ट प्रयोजन के लिये व्यवहृत करना परमात्मा के साथ दुर्व्यवहार करना है। इन तथ्यों को जिसने हृदयंगम कर लिया समझना चाहिये उसे परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन होगये। प्रथम अध्याय के तृतीय खण्ड में १३ वें मन्त्र में इस प्रकार के ईश्वर दर्शन का उल्लेख है।

तृतीय अध्याय के दूसरे मन्त्र में ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने का

माध्यम ज्ञान; आदर्श, विज्ञान, गतिज्ञान, मेधा, दृष्टि, धैर्य, मनन, स्मृति, सङ्कल्प, गति, कामना आदि को बताया गया है। अन्ततः वाह्य पदार्थों से नहीं परमात्मा को अपनी अन्तः वृत्तियों के द्वारा ही प्राप्त कर सकना सम्भव है। इस उपनिषद् में इस महान् तथ्य का उद्घाटन किया गया है।

८—तैत्तरीयोपनिषद् में कई महत्वपूर्ण विषयों पर मार्मिक प्रकाश डाला गया है। जीवन निराशा में, दीन-हीन स्थिति में व्यतीत करने की वस्तु नहीं है। जिस प्रकार आत्मिक उन्नति अभीष्ट है उसी प्रकार लौकिक जीवन भी विकासोन्मुख ही होना चाहिये। मनुष्य की कामना होनी चाहिये "मैं सबसे अधिक यशवान बनूँ, अधिक धनी बनूँ, निरोग्यता, गौएँ, अन्न, वस्त्र एवम् श्री सम्पत्ति का भी स्वामी बनूँ और परमात्मा की उपासना करते हुए अपने को पवित्र कर लूँ।"

ज्ञानी पुरुष अपने उपलब्ध ज्ञान को अधिकाधिक फैलाएँ किन्तु यह भी ध्यान रखें कि छात्रों की सद्वृत्तियों के विकास के साथ ही उनकी ज्ञान वृद्धि हो। ज्ञान की कामना से मेरे पास अगणित ब्रह्मचारी अध्ययन के लिये आवें, वे निष्कपट हों, श्रद्धालु हों, इन्द्रियों का दमन करें, मन को वश में रखें आदि !" अध्ययन तो छात्र करते हैं पर जब वे उसे पूर्ण कर लें तो गुरुकुल छोड़ने से पूर्व उनके मन में यह बात भली प्रकार जमा दी जाय कि विद्या प्राप्त कर लेने से जो विशेष उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर आये हैं उनकी कभी उपेक्षा न करें जीवन भर उनका पूरा-पूरा ध्यान रखें। वे उत्तरदायित्व इस प्रकार हैं- 'सत्य बोलो' धर्माचरण करो, स्वाध्याय में आलस्य न करो, आचार्य को सन्तुष्ट करो, गृहस्थ धर्म का पालन करो, श्रेष्ठ कर्मों से न डिगो, मानवता और आचार्य को देवता के समान समझो, चरित्र को श्रेष्ठ रखो, शिष्टाचार वरतो, दान दिया करो" आदि।

जो लोग आत्मकल्याण में लौकिक प्राप्ति को बाधक मानते है और दीन-हीन स्थिति में ही बड़प्पन सोचते हैं वे तैत्तरीयोपनिषद् के निर्देश को पढ़ें। जो लोग केवल अक्षर ज्ञान वाली शिक्षा को ही सब कुछ समझते हैं वे विचार करें कि क्या उपनिषद्कार का यह मन्तव्य उचित नहीं कि शिक्षा से अधिक छात्र के चरित्र पर ध्यान दिया जाय। यदि आध्यात्मिकता और शिक्षा के क्षेत्र में उपनिषद्कार के उपरोक्त मन्तव्यों को स्थान मिले तो संसार की कायापलट ही हो सकती है। शिक्षा और अध्यात्म का सच्चा लाभ इन्हीं मन्तव्यों पर निर्भर है।

आत्मिक प्रगति के एक प्रमुख साधन के रूप में इस उपनिषद् में अन्न शुद्धि पर बहुत जोर दिया गया है। कहा गया है—'अन्न सब में श्रष्ठ है। औषधी रूप है। जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं वे ब्रह्म पाते हैं। अन्न के प्रति श्रद्धा रखने वाला धन, सन्तान, यश, कीर्ति और ब्रह्मचर्यस्व प्राप्त करके महान् बनता है। अन्न की वृद्धि करे। आदरपूर्वक अतिथियों को अन्न दान करे।' यह निर्देश विचारणीय है। अन्न से ही मन बनता है इसलिए आहार को अत्यधिक सात्विक शुद्ध एवं पवित्र बनाने का प्रयत्न किया जाय, उसे औषधि और प्रसाद की भावना से ही ग्रहण किया जाय।

भृगु ब्रह्मज्ञान की शिक्षा के लिये अपने पिता वरुण के पास जाते हैं। पिता ने पुत्र को थोड़ा उपदेश किया और कहा अधिक जानने के लिये और तप करो। तप करके भृगु पिता के पास आये तो उन्होंने थोड़ा और प्रवचन दिया और इससे आगे की बात समझने योग्य मनोभूमि उपलब्ध करने के लिए पुत्र को फिर तप में लगा दिया। उनने कहा 'तप ही ब्रह्म है। ब्रह्म को तप से जान।' इस प्रकार पाँच बार भृगु को तप में लगाया गया और थोड़ा-थोड़ा करके पाँच बार में उन्हें ब्रह्म का उपदेश वरुण द्वारा दिया गया। इस कथानक में यह रहस्योद्घाटन किया गया है कि केवल कहने सुनने मात्र से जानकारी तो बढ़ जाती है

पर वह भीतर प्रवेश नहीं करती। ज्ञान को हृदयंगम करने की एक विशेष मनोभूमि होती है जो तप साधन से ही उपलब्ध होती है। इसलिये सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक को मनोभूमि को परिष्कृत करने के लिये साधनारत भी होना चाहिये। अन्यथा शुष्क ज्ञान भार रूप रहता है और उससे अहंकार की वृद्धि होने का ही भय रहता है।

ब्रह्मानन्द का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है कि—इस सारी पृथ्वी के समस्त आनन्द इकट्ठे होकर किसी को मिलें तो वह एक 'आनन्द' हुआ। ऐसे सौ आनन्दों का एक मनुष्य गन्धर्व आनन्द, उन सौ का एक देवगन्धर्व आनन्द, उन सौ का एक आजनिक आनन्द, उन सौ आनन्दों का एक कर्म देव आनन्द, उन सौ का एक देव आनन्द, उन सौ का एक इन्द्र आनन्द, उन सौ का एक बृहस्पति आनन्द, उन सौ का एक प्रजापति आनन्द, और उन सौ प्रजापति आनन्दों का एक ब्रह्मानन्द है। इसका अर्थ हुआ कि पृथ्वी के समस्त आनन्दों के सम्मिलित आनन्द की अपेक्षा असंख्य गुणा आनन्द ब्रह्मानन्द में है। उसे प्राप्त करने में जिसने सफलता प्राप्त कर ली उसी का जीवन धन्य है।

एक विचारणीय बात और भी कही गई है—जो ब्रह्म को सत्य नहीं समझता वह असत्य ही हो जाता है। परन्तु जो ब्रह्म के अस्तित्व को जानता है वह साधु पुरुष हो जाता है। परमात्मा की उपलब्धि और उपेक्षा के ऐसे परिणाम होने निश्चित् ही हैं।

ॐ
23/06/95

६—छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद के 'तलवकार ब्राह्मण' का एक अंश है। मूल रूप में इसके दस अध्याय (प्रपाठक) हैं। उनमें का पहले दो 'मन्त्र ब्राह्मण' कहे जाते हैं, शेष आठ का उपनिषद् के विषय से विवेचन किया गया है। सामवेद के छन्दों का गान करने वाले 'छन्दोग' कहे जाते थे, उन्हीं से सम्बन्धित होने के कारण इसका नाम 'छान्दोग्य उपनिषद्' पड़ा।

छान्दोग्य उपनिषद् सब उपनिषदों में बड़ा है और इसमें आत्म-

तत्व का अत्यन्त क्रमबद्ध और युक्तियुक्त विवेचन किया गया है। इस जगत में आकर जीवात्मा जिस अविद्या से आच्छादित होकर अपने सत्-स्वरूप को भूल जाता है और यहाँ के प्रपञ्च को ही सत्य मानने लगता है उसका निराकरण इसमें बड़ी प्रभावशाली और साथ ही मनोरञ्जक शैली में किया है। इसमें आत्मज्ञान के महान् तत्वों को आख्यायिकाओं और प्रश्नोत्तर के रूप में ऐसे ढङ्ग से लिखा है कि उनकी दुरूहता और नीरसता बहुत कुछ कम होगई है और सामान्य पाठक भी उनको मनोयोग पूर्वक पढ़ सकता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में आत्मा के स्वरूप का बोध कराने के लिए अद्वैत विज्ञान का वर्णन किया गया है। पर सामान्य बुद्धि का मनुष्य आरम्भ में ही निराकार ब्रह्म के स्वरूप से समझने और ग्रहण करने में असमर्थ होता है, इसलिये प्रथम अध्याय में साकार रूप वाली उपासना का उपदेश दिया गया है। इसमें बतलाया गया है कि उपासना के तीन भेद हैं और उनके तीन प्रकार के ही फल होते हैं जो लोग सकामभाव वाली उपासना करते हैं वे धूम-मार्ग से स्वर्ग आदि लोकों में जाकर पुण्य के क्षीण होने पर पुनः इसी जगत् में आ जाते हैं। निष्काम भाव की उपासना वाले अर्चि-मार्ग से अपने उपास्य देव के लोक को प्राप्त होकर वहीं निवास करते हैं। इन दोनों मार्गों से शून्य और आचरण विहीन लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं और विभिन्न योनियों में भ्रमण करके कष्ट सहन किया करते हैं। इन सबसे पृथक जो थोड़े तत्वज्ञानी होते हैं वे आत्मा के स्वरूप को समझ कर और तदनुसार आचरण करके यहीं जीवन्मुक्त स्थिति को पा लेते हैं और चाहे जब शरीर को पञ्चतत्वों में लय करके आत्मरूप में स्थित हो जाते हैं।

दूसरे अध्याय में साम (श्रेष्ठ) और आसाम (अश्रेष्ठ) उपासना का वर्णन करते हुए उपासना के पाँच और सात अवयवों (अङ्गों) का परिचय

कराया है। इसमें प्रत्येक तत्व में पांच प्रकार की उपासना बतलाकर आध्यात्मिक वृत्तियों को बढ़ाने की प्रेरणा की गई हैं। कई प्रकार की सकाम यज्ञोपासना का इसमें वर्णन किया गया है।

तीसरे अध्याय में इन सकाम उपासनाओं के फलरूप आदित्य की स्वतन्त्र उपासना का वर्णन है। आदित्य को देवताओं का मधु बतला कर उसी से आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया गया है। उपनिषद् की यह मधु-विद्या बहुत गूढ़ और आत्मतत्वों से भरपूर है।

मधु विद्या

चौथे अध्याय में वायु और प्राण की साक्षात् उपासना का मार्ग बतलाया गया है। इसमें आरम्भ में ही जनश्रुति पौत्रायण राजा और गाड़ी वाले रैक्व मुनि की आख्यायिका है जिससे विदित होता है कि आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य को किस प्रकार श्रद्धालु, विनीत और उदार होना उचित है। इसके पश्चात् इसी अध्याय में प्रसिद्ध सत्यकाम जावाल की कथा है, जिसने आचार्य के सम्मुख गोत्र के पूछे जाने पर अपनी अवैध उत्पत्ति का निस्संकोच भाव से वर्णन करके 'ब्राह्मण' की पदवी प्राप्त कर ली थी और फिर प्राकृतिक पदार्थों द्वारा स्वयं ही आत्मज्ञान प्राप्त किया था।

पाँचवें अध्याय के आरम्भ में शरीर के विभिन्न अवयवों में अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की प्रतिद्वन्द्विता और अन्त में प्राण की श्रेष्ठता का मनोरंजक ढङ्ग से विवेचन किया गया है। फिर पंचाग्नि की उपासना करने वाले गृहस्थ लोगों की तथा पंचाग्नि विद्या द्वारा अन्य उच्चकोटि की उपासना करने वाले निष्ठावान् ब्रह्मचारी आदि की तेज-मार्ग वाली स्थिति का वर्णन किया है। साथ ही जो लोग आचार रहित, केवल भोगमय जीवन बिताते हैं उनकी कष्टमय स्थिति का वर्णन भी वैराग्य उत्पन्न करने के निमित्त किया गया है।

छठे अध्याय में श्वेतकेतु और उसके पिता उद्दालक की आख्यायिका द्वारा यह बतलाया गया है कि समस्त जगत में एक ही आत्म-

तत्व व्याप्त हैं और जो सर्वत्र इसी आत्मतत्व को देखता है, प्राणीमात्र की एकता का अनुभव करता है, वही सच्चा ज्ञानी है।

सातवें अध्याय में सनत्कुमार और नारद का सम्वाद है जिसमें नाम, वाणी, मन सङ्कल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आवाज और प्राण की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतला कर अन्त में 'भूमा' (ब्रह्मतत्व) का ज्ञान बतलाया गया है कि 'जब मनुष्य अपनी आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, कुछ नहीं जानता वही 'भूमा' (अतिशय अथवा पूर्ण है) जहाँ मनुष्य अन्य को देखता है, सुनता है, वह अल्प है। 'भूमा' अमृत (अविनाशी) है और 'अल्प' मर्त्य (विनाशी) है। इसलिए भूमा की उपासना करना और उसी स्थिति को प्राप्त करना ब्रह्मलोक का निश्चय मार्ग है।

आठवें अध्याय में मानव शरीर के भीतर स्थित हृदय-कमल में ही ब्रह्मोपासना का विधान बतलाया गया है। क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति तो सर्वव्यापक ब्रह्म का अनुभव कर सकता है, पर मन्द बुद्धि वाले उसे समझ सकने में असमर्थ रहते हैं। उनको समझाने और उपासना की यथा-योग विधि बतलाने के लिए कोई सगुणरूप की उपासना ही लाभकारी होती है। जन्मान्तर के अभ्यास से जो लोग ब्रह्मवेत्ता की स्थिति तक पहुँच गये हैं वे तो स्वभावतः सांसारिक धन, स्त्री आदि भोगों से उपराम हो जाते हैं, पर अन्य लोगों के लिए विषयों की तृष्णा का एका-एक त्याग सकना कठिन होता है। उनके लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रमों के द्वारा क्रमशः आत्मोन्नति पर आरूढ़ होना ही सुलभ और व्यवहारिक होता है। इस प्रकार आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से जिन व्यक्तियों ने गंता, गमन, गंतव्य का भेद भुला दिया है और शरीर के अहंकार को सर्वथा त्याग दिया है वे तो इसको अग्नि में जलने वाले ईंधन की तरह नगण्य मान कर सहज में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं पर जो गंता-गमन आदि का ही महत्व समझते हैं वे अपने हृदय

स्थिति ब्रह्म की उपासना करके सुषमणा आदि द्वारा उच्चगति पा सकते हैं। ऐसे लोगों के लिए साधन और उपासना का विधान आठवें अध्याय में विशेष रूप से समझा कर बतलाया गया है। इसी अध्याय में इन्द्र और विरोचन का शिक्षाप्रद उपाख्यान है जिसमें भौतिकवादियों और आत्मवादियों का अन्तर प्रकट करके आत्मा की श्रेष्ठता और अमरता सिद्ध की गई है।

संक्षेप से छान्दोग्य उपनिषद् आत्मज्ञान और ब्रह्म विद्या की एक महान् निधि है जिससे भवबन्धनों के कटने तथा अमृतत्व की प्राप्ति का मार्ग जाना जा सकता है। यही मानव-जीवन का सबसे बड़ा लाभ है और आत्मदृष्टि को प्राप्त करके हम साधारण प्राणी की श्रेणी से उठकर देवकोटि में जा सकते हैं।

१०—श्वेताश्वेतरोपनिषद् में परमात्मा के निराकरण स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि—'जैसे काष्ठ में अग्नि दिखाई नहीं देती पर अरणि मन्थन और ईंधन की सहायता से वह प्रकट होजाती है, इसी तरह इस देह में आत्मा और परमात्मा दिखाई नहीं देते पर साधना के द्वारा वे प्रकट हो जाते हैं।' जैसे तिलों में तेल, दही में घृत, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि अदृश्य रहता है वैसे ही हृदय में परमेश्वर अदृश्य रूप से रहता है। जो उसे सत्य, संयम और तप के द्वारा देखता है वही उसे प्राप्त करता है।' ईश्वर दर्शन और उसके प्राप्त करने की यही शाश्वत प्रक्रिया है। जिस किसी ने भी प्रभु को पाया है इसी तत्वज्ञान के आधार पर पाया है।

आत्मिक प्रगति के कुछ चिन्ह भी इस उपनिषद् में बताये गये हैं, 'देह का हलका होना, आरोग्य, भोग में से निवृत्ति. वर्ण की उज्वलता, स्वर सौष्ठव, श्रेष्ठ गन्ध, मल-मूत्र में कमी होना यह सब योग की प्रथम सिद्धियाँ हैं। जैसे मिट्टी में मलीन हुआ रत्न स्वच्छ किये जाने पर फिर दमकने लगता है वैसे ही योगी आत्मतत्व को जानकर सब क्लेशों से

मुक्त हो जाता है।' इस कथन में अलंकार एवं अत्युक्ति नहीं वास्तविकता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुरूप विचार और कार्यों का क्रम बन जाने पर शरीर और मन की निरोगिता स्वाभाविक ही है।

सारे दुखों का कारण अज्ञान अर्थात् कुविचार और कुकर्म ही हैं। उनके निवृत्ति होने पर शोक सन्तापों से छुटकारा कैसे मिलेगा ? चतुर्थ अध्याय के ७वें मन्त्र में कहा गया है—'जीव आसक्ति में निमग्न है। सामर्थ्य न होने से मोह में डूबा हुआ शोक करता है, परन्तु जब वह परमात्मा और उसकी महिमा को देखता है तब अपने शोक को त्याग देता है' आगे इसी अध्याय के १७ वें और २० वें मन्त्रों में उस परमात्मा का निकटवर्ती स्थान 'ज्ञान का हृदय' और 'साधन' हृदय, बुद्धि और मन के द्वारा 'ध्यान' बताया गया है।

इस प्रत्यक्ष रहस्य का अन्तःकरण में जागरण होने का उपाय २३वें अंतिम मन्त्र में इस प्रकार कहा गया है—'परमेश्वर में जिसको अत्यन्त भक्ति है तथा गुरु में भी उसी प्रकार की भक्ति है ऐसे व्यक्ति के अन्तःकरण में ही यह रहस्य जागरित होते हैं। उसी का हृदय इन रहस्यों से प्रकाशित रहता है।' यह तथ्य सर्वथा विचारणीय एवं माननीय है।

Most imp
30/06/95

११—गर्भोपनिषद् में प्राणी के सूक्ष्म से स्थूल में परिणित होने का वर्णन है। रज-वीर्य के संयोग से किस प्रकार जीव गर्भ में प्रवेश करके पलता, बढ़ता और जन्म लेता है इसकी प्रक्रिया बताते हुये उन भावनाओं का दिग्दर्शन कराया है जो जीव के मन में उस समय रहती हैं। लिखा है—गर्भस्थ प्राणी सोचता है, अनेक बार जन्मा और मृत्यु को प्राप्त हुआ। उन जन्मों के परिवारों के लिए जो उचित अनुचित कर्म किये उनको सोच-सोच कर आज मैं अकेला ही जल रहा हूं। उन भोगों को भोगने वाले वे परिवारी तो न जाने कहाँ गये परन्तु मैं यहाँ दुःख रूप समुद्र में पड़ा हूँ, उससे निकलने का कोई उपाय नहीं सूझता। जब मैं इस गर्भ से बाहर निकल जाऊँगा तब बुरे कर्मों को

नष्ट करने वाले और मुक्ति रूप फल को देने वाले परमात्मा की शरण ग्रहण करूँगा। इस प्रकार विचार करता हुआ प्राणी बड़े कष्ट से जन्म ले पाता है। परन्तु जन्म लेने पर वह माया का स्पर्श होते ही पूर्व जन्मों और मृत्युओं को भूल जाता है, उसे अपने गर्भ ज्ञान का ध्यान नहीं रहता।'

यह एक विडम्बना ही है कि गर्भ में एक अत्यन्त आवश्यक समस्या पर जैसे स्वच्छ दृष्टिकोण से विचार कर सकता है वैसा जन्म लेने के बाद प्रबुद्ध और विकसित होने पर भी नहीं कर पाता। सच तो यह है कि उसे एक प्रकार से भूल ही जाता है। यदि गर्भावस्था के तथ्यपूर्ण विचारों का विस्मरण न हो तो ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने पर बड़ी प्रतीक्षा के बाद मिले इस मानव जन्म को तुच्छ कार्यों में बर्बाद क्यों करें? क्यों न अपने कल्याण का मार्ग ढूँढ़े?

गर्भोपनिषद में इन्हीं गर्भस्थिति के विचारों का स्मरण कराया गया है ताकि जीव इस अमूल्य अवसर को यों ही हाथ से न निकल जाने दे और कुछ ऐसा प्रयत्न करे जिससे जन्म-मरण की फाँसी से छुटकारा प्राप्त कर सकना संभव हो सके।

१२—मुद्गलोपनिषद् में यजुर्वेदोक्त पुरुष-सूक्त के १६ मन्त्रों की विवेचना विशेष रूप से की गई है। उन मन्त्रों में बताया गया है कि यह सारा समाज परमात्मा का ही विराट् रूप है। यह तथ्य हृदयंगम करने पर समाज के प्रति, संसार के प्रति सद्भावना एवं उसे सुख शांति सम्पन्न बनाने की भावना उत्पन्न होती है। जहाँ अध्यात्म यज्ञ का प्रसंग है वहाँ कहा गया है 'कि यह देह ही हवि है और परमात्मा ही अग्नि है। जीवन को परमात्मा में आत्मसात कर देना ही अध्यात्म यज्ञ है।' इस यज्ञ का फल बताया गया है कि—'इसे करने पर तुम्हारी देह इतनी सुदृढ़ हो जायगी कि उसके स्पर्श से वज्र भी कुण्ठित हो जाय।'

'जिस भाव से उसकी उपासना की जाती है उपासक उसे उसी रूप में प्राप्त करता है। इसीलिए ब्रह्मानन्दी जन अपने में ही उस परब्रह्म की भावना करते हैं और भावना के अनुरूप ही अपने को बना लेते हैं।' भावना की शक्ति का इन निर्देशों में सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है। 'इस मार्ग में बाधक हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सर यह शत्रु और जाति, वर्ण, आश्रम, कुल, गोत्र, रूप यह छहः भ्रम। इन भ्रमों और शत्रुओं को परास्त करके ही ब्रह्मज्ञानी आगे बढ़ पाता है। यदि वह इन्हीं में उलझा रहा तो मार्ग अवरुद्ध ही रहेगा।'

ब्रह्म विद्या की शिक्षा से लाभ उठाने के लिए आंतरिक पवित्रता आवश्यक है। उसके अभाव में यह चर्चा व्यर्थ की बकवास मात्र है। इसलिए उपनिषद्‌कार का कथन है कि ब्रह्मज्ञान कहने-सुनने से पहले पवित्रता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाय। इसी दृष्टिकोण से चतुर्थ खण्ड में कहा गया है—'जिसे जिज्ञासा न हो, जो अयाज्ञिक हों, अवैष्णव हो, योग रहित हो, कटुभाषी एवं बहुभाषी हो, स्वाध्याय न करता हो, असन्तोषी हो उससे यह ज्ञान न कहें।' न कहने का तात्पर्य यहाँ कोई प्रतिबन्ध नहीं वरन् उसकी व्यर्थता का ही संकेत है। भावनात्मक पात्रता की अभिवृद्धि पर जोर देने के लिए ही ऐसा निर्देश हुआ है।

१३—अक्ष्यु उपनिषद् में सांकृति मुनि और सूर्य भगवान् का संवाद है। इसमें योग की सात भूमिकाओं का वर्णन है। योग हर किसी के लिए सरल और सम्भव है, उसका लाभ कोई भी श्रद्धालु उठा सकता है। प्रत्येक ऊंची भूमिका में प्रवेश करने पर साधक को अधिकाधिक लाभ मिलता जाता है, पर इसमें प्रवेश करने पर पहली भूमिका में भी बहुत कुछ मिलता है। सूर्य भगवान् ने इस सम्बन्ध में कहा है—'योग में प्रवृत्त होने पर अंतःकरण दिनों-दिन वासनाओं से हटता जाता है। वह नित्यप्रति उदार कार्यों में लगता हुआ प्रसन्नता अनुभव करता है। मूर्खों जैसी धर्म विरुद्ध चेष्टायें उसकी नहीं होती। किसी गुप्त बातों

को सुन कर दूसरों से नहीं कहता । जिससे प्राणियों को उद्वेग हो ऐसे काम नहीं करता । पाप से डरता है । भोगों की आकांक्षा नहीं करता, प्रेम और स्नेहयुक्त वाणी बोलता है । सज्जनों का संग करता तथा सद्-ग्रन्थों का स्वाध्याय करता हुआ उनके अनुकूल चलता है और भवसागर से पार जाने की इच्छा करता है ।.........संतोष और आनन्द के कारण मधुर लगने वाली प्रथम भूमिका ऐसे प्रकट होती है जैसे अन्तः-करण रूप पृथ्वी में अमृत का अंकुर फूट पड़ा हो ।'

उपरोक्त मनःस्थिति का होना मनुष्य शरीर में देवोपम अनुभूति है । यह प्रथम भूमिका में ही योग साधक को प्राप्त होती है, तो अगली भूमिकाओं के बारे में तो कहना ही क्या है? उनसे बढ़ते हुए साधक स्वर्ग और मोक्ष के असीम आनन्द का भागी बनता है । ऐसे कल्याण पथ पर चलने की प्रेरणा सूर्य भगवान ने सांकृति मुनि को दी है । वह हमारे लिए भी ग्रहण करने योग्य है ।

१४—अध्यात्मोपनिषद् में जीवनमुक्ति की चर्चा करते हुए बताया गया है कि मरने के बाद ही मोक्ष मिले ऐसी बात नहीं । दुर्भावनाओं के बन्धनों को काट देने पर जीवित होते हुए भी मनुष्य मुक्त हो सकता है, जीवनमुक्त बन सकता है । मन्त्र ४१ से ४७ तक यही चर्चा है । इसमें से कुछ अभिवचन विशेष रूप से मननीय हैं—'देह तथा इन्द्रियों पर जिसको अहंभाव न हो, पदार्थों पर स्वामित्व का मोह जिसे न हो, आत्मा और परमात्मा की एकता का जिसे अनुभव होता हो, जिसकी भेद बुद्धि छूट गई हो, जो सज्जनों से प्रेम करे, दुर्जनों के दुःख देने पर भी विचलित न हो, उसे जीवनमुक्त कहा जाता है ।'

पूर्वकृत कर्मों के प्रारब्ध फल से ज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ को भी छुटकारा नहीं मिलता, उन्हें भी वे भोगने ही पड़ते हैं । उसका उल्लेख मन्त्र ५३ और ५४ में इस प्रकार हुआ है:—जिस प्रकार लक्ष्य को उद्देश्य करके छोड़ा हुआ बाण, लक्ष को वेधे बिना नहीं रहता वैसे ही

ज्ञान के उदय होने के पहले किया गया कर्म ज्ञान का उदय होने के बाद भी अपना फल दिये बिना नहीं रहता। बाघ समझकर छोड़ा हुआ वाण छोड़ने के बाद 'यह बाघ नहीं गाय है' ऐसी बुद्धि होने पर भी रुक नहीं सकता वरन् लक्ष को बींधता है। इस प्रकार किया हुआ अशुभ कर्म ज्ञान होने के बाद भी अपना फल उपस्थित करता ही है।'

लोग बहुधा ऐसा सोचते रहते हैं कि अमुक शुभ कर्म करने से पिछले सारे पाप छूट जायेंगे। उपनिषद् इस मान्यता का प्रबल खण्डन करता है। केवल वे हलके मानसिक पाप छूट सकते हैं जो कार्यरूप में परिणित नहीं हुए थे और जिनकी हलकी कल्पना मात्र थी, दृढ़ सङ्कल्प न होने से उनके संस्कार नहीं जम पाये थे। ऐसे ही पिछले कर्म पिछले मानसिक एवं हलके पाप कर्म किन्हीं शुभ कर्मों से छूटने सम्भव हैं। प्रत्येक श्रेयार्थी को वीर पुरुषों की भाँति साहसपूर्वक अपने अशुभ कर्मों का दण्ड भोगने के लिये प्रसन्नतापूर्वक तैयार रहने में ही उसकी आत्मिक महानता है। वे छूटने वाले तो हैं नहीं, फिर डरने से क्या लाभ? शुभ कर्म करने से अगला भविष्य तो बनता है, पर पिछले की समाप्ति नहीं होती। महात्माओं, ज्ञानियों और सत्पुरुषों को भी प्रारब्ध भुगतने पड़े हैं इसके अगणित प्रमाण इतिहास पुराणों में मौजूद हैं।

१५—मैत्रायणी उपनिषद् का कथा प्रसङ्ग भी बृहद्रथ और शाकायन्य मुनि के सम्वाद से मैत्रेयी उपनिषद् की भाँति ही आरंभ होता है। आगे भी बालखिल्य ऋषि का प्रसङ्ग दोनों में आया है। इससे ऐसा भ्रम होता है कि कहीं दोनों में नाम या पाठभेद का थोड़ा अन्तर होकर एक ही बात तो नहीं है। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। मैत्रेयी उपनिषद् में तीन अध्याय हैं किन्तु मैत्रायणी उपनिषद् में पांच प्रपाठक हैं। विषय में भी काफी अन्तर है। दोनों पृथक-पृथक ही हैं।

मैत्रायणी उपनिषद् में परमात्मा के उस 'भर्ग और सविता' की विशेष रूप से चर्चा है जिसका प्रसङ्ग गायत्री महामन्त्र में आया है। सूर्यो-

का सूर्य, परम प्रकाशवान और शक्ति स्वरूप परमात्मा का तेज मण्डल ध्यान की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। परमात्मा का ध्यान इतने अच्छे रूप में और किसी छवि के आधार पर नहीं किया जा सकता जैसा कि सविता के तेज मण्डल के माध्यम से। ब्रह्द्रथ ने भी इसी स्वरूप को इष्ट मान कर अपनी कठिन तपस्या की और उसके फलस्वरूप उसे वह प्रतिफल प्राप्त हुआ जो उसे अभीष्ट था। आन्तरिक तप का शमन करने में यह ज्योति-ध्यान क्यों और किस प्रकार सर्वश्रेष्ठ है इसका वर्णन पंचम प्रपाठक के अन्तिम मन्त्रों में विचार पूर्वक हुआ है।

गायत्री मन्त्र में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार इस उपनिषद् के सातवें मन्त्र में भी वर्णन है कि उस सविता का भर्ग हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है और बुद्धि के सन्मार्गगामी हो जाने पर सब प्रकार कल्याण ही कल्याण है। इस प्रेरक प्राण स्वरूप सविता के बारे में कहा गया है—"जो इस अग्नि रूप में तपता है और हजारों नेत्र रूप में प्रकाशमय आनन्द से व्याप्त है वही जानने योग्य है। जो इन्द्रियों के विषयों का वहिष्कार करते हैं उनको अपने शरीर में ही वह प्राप्त हो जाता है।"

१६—शिव संकल्पोपनिषद् में यजुर्वेद के छह मन्त्र हैं। इनमें मन के सत् सङ्कल्पवान बनाने के सम्बन्ध में परमात्मा से प्रार्थना की गई है। मन्त्र इतने महत्वपूर्ण हैं कि इन्हें स्वतन्त्र उपनिषद् के रूप में उसी प्रकार ले लिया गया है जैसे यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय 'ईशोपनिषद्' के नाम से लिया गया है। संकल्प की शक्ति अत्यन्त महान् है, उसी के आधार पर जीवन की भली बुरी गतिविधि निर्मित होती हैं। सत् संकल्प जब मन में उठने लगें, कुविचारों का समाधान हो जाय तो समझना चाहिये कि श्रेष्ठ जीवन प्रारम्भ हो गया। इसी तथ्य की इस उपनिषद् में चर्चा है।

१७—आश्रमोपनिषद् में चारों आश्रमों के भेदों का वर्णन है।

लोकोपकार और परमार्थ साधना के सामाजिक एवं आध्यात्मिक कार्य प्रारम्भिक तीन ही आश्रमों में किये जाते हैं। चौथा आश्रम सन्यास शरीर के वृद्ध हो जाने पर मनोलय की साधना में लगने के लिये ही होता है। आश्रमों के भेद, उपभेद और कर्तव्य भी इस उपनिषद् में बताए गये हैं।

१८—द्वयोपनिषद् में गुरु और शिष्य दोनों की परम्परा पर प्रकाश डाला है। ईश्वर-भक्ति का प्रारम्भिक रूप गुरुभक्ति है। ईश्वर के प्रति जैसी उच्चकोटि की श्रद्धा होनी चाहिये उसको प्राप्त करने का अभ्यास गुरुभक्ति के सहारे किया जाता है। इसीलिए आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करने के लिए गुरु वरण तथा उसके प्रति भक्ति भावना का होना आवश्यक माना गया है। उपनिषद् में थोड़े ही मन्त्र हैं पर सार रूप में गुरुभक्ति के सम्बन्ध में बहुत कुछ उतने ही में कह दिया गया है।

१९—वज्रसूचिका उपनिषद् में वर्ण व्यवस्था पर तात्विक विचार किया गया है। वर्ण जन्म से माना जाय या कर्म से इस गुत्थी को इस उपनिषद् में बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से सुलझाया है।

यदि जीव को ब्राह्मण आदि वर्ण का माना जाय, तो एक ही जीव अनेक जन्मों में अनेक वर्णों में जन्मता है। यदि देह को वर्ण माना जाय तो सब वर्णों की देहें एकसी क्यों होती हैं और ब्राह्मण का मृत शरीर जलाने पर ब्रह्महत्या का पाप क्यों नहीं लगता? फिर भिन्न जातियों में उत्पन्न होकर अनेकों महापुरुष ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर चुके हैं, यह बात कैसे सम्भव हो सकी होती? यदि ज्ञान को वर्ण माना जाय, तो प्रत्येक वर्ण न्यूनाधिक वा उलटे सीधे ज्ञान वाले होते हैं। धर्म को वर्ण माना जाय तो सभी वर्णों में धार्मिक-अधार्मिक होते हैं।

इन शंकाओं का समाधान उपनिषद्कार ने एक ही प्रकार से किया है कि गुण कर्म और स्वभाव ही वर्ण का आधार है। जिसकी ब्राह्मण के उपयुक्त मनोभूमि हो वही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी हो

सकता है। यही बात अन्य वर्णों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए

वस्तुतः मनुष्य जाति एक है। उसमें वंश, कुल के आधार पर किसी को ऊँचा-नीचा या छोटा-बड़ा मानना भूल है। एक ही कार्य-पद्धति वंश परम्परा से चलती रहने पर उसमें विशेष प्रगति होने की आशा से वर्ण विभाजन हुए थे। इसी प्रकार अमुक प्रकार की प्रकृति के लोगों को एक वर्ण में आबद्ध करके उन्हें संगठित करने की बात सोची गई थी। बड़प्पन और लघुता का आधार व्यक्तियों की महानता और क्षुद्रता ही थी। जन्म या कुल को इसका हेतु नहीं माना जाता था। इसी प्राचीन वर्ण व्यवस्था का कुछ दिग्दर्शन इस उपनिषद् में कराया गया है।

२०—अथर्व शिर उपनिषद् में ब्रह्म के अनेक रूपों में सन्निहित एकता का रहस्योद्घाटन किया गया है। देवताओं के सम्मुख अपने स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवान रुद्र कहते हैं—इस संसार में विभिन्न रङ्ग रूप, आकार प्रकार और ज्ञान विज्ञान के रूप में जो कुछ परिलक्षित होता है सो मैं ही हूँ। देवताओं ने उस एकता को हृदयंगम करते हुए स्वीकार किया है कि-आप ही ब्रह्मा, विष्णु, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, ग्रह, लोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, पंचतत्व, काल, भय, मृत्यु, अमृत, स्थूल, सूक्ष्म, सब कुछ आप ही हैं। यह सारा विस्तार आपका ही विराट रूप है। ॐकार, प्रणव, सर्वव्यापी, अनन्त, तारक, शुक्ल, वैद्युत, परब्रह्म रुद्र, ईशान, महेश्वर आदि नाम भी आपके विभिन्न गुणों के कारण हैं, इनकी प्रथम सत्ता न होकर मूल में एक आप ही हैं।' इस प्रकार इस उपनिषद् में बहुदेववाद की आत्मा एकदेववाद का विवेचन है।

२१—स्कन्द उपनिषद् में इन विचारों को और भी स्पष्ट किया गया है। 'शिव ही जीव और जीव ही शिव है। जसे धान का छिलका दूर हो जाने पर चावल निकल जाता है, उसी प्रकार बन्धन में पड़ा हुआ जीव कर्मों का नाश होने से शिव हो जाता है।'

देवताओं में भेद बुद्धि न रखने, उन्हें एक ही मानने का प्रतिपादन ६ वें मन्त्र में हुआ है:—"जिस प्रकार विष्णु शिवमय हैं वैसे ही शिव विष्णुमय हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं।" १० वें मन्त्र में—"यह देह देवालय है और इसमें निवास करने वाला जीव शिव है" कह कर देह के प्रति उपेक्षा बुद्धि न रखने का आदेश है। शरीर की तुच्छता का प्रतिपादन आत्मा से उसकी भिन्नता दर्शाने के प्रयोजन से ही किया जाता है। वस्तुतः वह ईश्वर और आत्मा का निवास स्थान होने से सेवनीय और संरक्षणीय ही है। इसी देह की सहायता से जीव सत्कर्म करता हुआ लक्ष प्राप्ति तक पहुँच पाता है। ११वें मन्त्र की परिभाषायें बड़ी सुन्दर हैं—"मन का विषयों से रहित हो जाना ही वास्तविक ध्यान है। मन का मैल छूट जाना ही स्नान है, इन्द्रियों का वश में आ जाना ही सच्चा शौच है।"

२२—सर्वसारोपनिषद् में सार रूप में अनेक प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत किया गया है। जीव भाव तथा बन्ध-मोक्ष का सार थोड़े ही शब्दों में कह दिया गया है—"आत्मा ही ईश्वर और जीव रूप है। जब वह अपने को शरीर मानने लगता है तो जीव बन जाता है यह मान्यता ही बन्धन और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है।" आत्मज्ञान हो जाने पर आत्मा अपने को देह नहीं वरन् ब्रह्मरूप देखता और मानता है। तब उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है—"मैं रूप नहीं हूँ, नाम नहीं हूँ, कर्म नहीं हूं वरन् केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूं।" तब वह अपनी समस्याओं को इस प्रकार सुलझी हुई देखता है—"मैं देह नहीं हूँ फिर मरण कैसा ? मैं मन नहीं हूँ फिर शोक-मोह कहां ? मैं कर्ता नहीं हूं फिर बन्धन किस बात का ? अपने शुद्ध स्वरूप को जानने पर जीव की स्थिति ब्रह्ममय ही हो जाती है।"

२३—शुक रहस्योपनिषद् में वेदव्यास जी की प्रार्थना पर उनके पुत्र शुकदेव को भगवान शिवजी ने आत्मज्ञान का उपदेश दिया है।

'ज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म' इन चार महा-वाक्यों का उपदेश करके इनकी व्याख्या शिवजी ने की है, उसका वर्णन इस उपनिषद् के तृतीय खण्ड में हुआ है। अपने में परमात्मा को समाया हुआ और परमात्मा में अपने को पिरोया हुआ देखने से जीव को यह वेदान्त प्रतिपादित स्थिति प्राप्त हो सकती है। बाह्य जगत में सारा समाज विराट् ब्रह्म ही है। अपने को समाज का एक पुर्जा और सामाजिक उत्तरदायित्वों से अपने आपको बँधा हुआ मानने से मनुष्य व्यक्तिवाद से छूट कर समाजवाद में अवस्थित होता है। लौकिक जीवन में भी शान्ति, स्थिरता और समृद्धि का यही एक मात्र योग है, अध्यात्म क्षेत्र में तो है ही।

२४—मैत्रिकोपनिषद् में बताया गया है कि जीव परमात्मा को क्यों नहीं देख पाता ? कहा गया है कि—"वह आत्मा निर्गुण है तो भी तीन गुणों की गुफा में घुसा बैठा है। जब मोहरूपी घोर अन्धकार नष्ट हो जाता है तभी सत्व गुण वाले पुरुष उसे अन्तःकरण में देख पाते हैं। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार वह देखने में नहीं आता क्योंकि विकार और अज्ञानयुक्त माया ही तब उसे घेरे रहती है। अज्ञानी जीव इस माया रूपी गाय को ही दुहते रहते हैं। दूध तो उसका परमात्मा ही पीता है।"

परमात्मा के स्वरूप का इस प्रकरण में इस प्रकार विवेचन हुआ है—"परब्रह्म, ब्रह्मचारी की वृत्ति वाला, स्तम्भ के समान अडिग, संसार के रूप में फलयुक्त, सृष्टि की गाड़ी को खींचता हुआ और सब त्यागने के बाद जो शेष रह जाता है, सो है। चारों वेद उसी की स्तुति करते हैं उपनिषदों में उसी का वर्णन है। उसे जानने वाला अन्ततः उसे प्राप्त ही कर लेता है।"

२५—प्रणवोपनिषद् में ॐकार की महत्ता बताई गई है। परमात्मा के अगणित नामों में 'ॐ' सबसे श्रेष्ठ है। सूक्ष्म प्रकृति के

अन्तराल में से यह ओंकार की अनाहत ध्वनि निरन्तर स्वयमेव प्रस्फुटित होती रहती है, इसलिए इसे स्वयंभू भी कहते, हैं। अन्य नाम तो मनुष्यों ने अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार विनिर्मित किये हैं।

ओंकार एकाक्षर ब्रह्म है। वेदों में उसी का विस्तार है। तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय) उसी की प्रतीक हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इसी के तीन अक्षरों अ, उ म् के स्वरूप है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना भी ओंकार ही है। उसकी उपासना करके मनुष्य जीवन लक्ष को प्राप्त करता है, अमरत्व का अधिकारी बनता है। यही तत्वज्ञान इस उपनिषद् में वर्णन हुआ है।

२६—निरालम्ब उपनिषद् में ब्रह्म, ईश्वर प्रकृति और जीव भाव का सुन्दर विवेचन हुआ है। एक ही सत्ता परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न स्वरूपों में परिणित होती है इसका उल्लेख यों हुआ है-"(१) समस्त उपाधियों से रहित, शुद्ध शान्त, निर्गुण एवम् अवर्णनीय विशेषताओं वाला चैतन्य ब्रह्म है। (२) वही ब्रह्म जब प्रकृति का आश्रय लेकर लोकों को उत्पन्न करता है, उनमें प्रवेश करता है, नियन्त्रण करता है तब वह ईश्वर कहलाता है। (३) जब इस चैतन्य को नाम और रूप द्वारा मिथ्या देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है तब वह जीव कहलाने लगता है। (४) ब्रह्म की बुद्धि रूपी शक्ति ही प्रकृति है।" इस परिभाषा से सहज ही यह जाना जा सकता है जो कुछ यह सब है ब्रह्म का ही विस्तार है। जीव अपने देहाभिमान का त्याग कर सके तो पुनः ईश्वर एवम् ब्रह्म की स्थिति में लौट सकता है।

जाति पाँति की वास्तविक स्थिति बताते हुए दशवें मन्त्र में कहा गया हैं-"जाति कुछ चमड़े की नहीं होती, रक्त की नहीं, माँस की नहीं, हड्डियों की नहीं, आत्मा की नहीं वह तो केवल व्यवहार के लिए कल्पित की गई है।' संन्यासी की परिभाषा करते हुए ३९ वें मंत्र में कहा गया है-'अहंता और ममता को त्याग कर इष्ट ब्रह्म की शरण में जाना

ही सन्यास है। ऐसा सन्यासी ही मुक्त, पूज्य, योगी, परमहंस एवं अव-धूत है।' यहाँ सन्यास को एक विशेष मनः स्थिति ही बताया गया है। जब वह प्राप्त हो जाती है तो जन्म-मरण के बन्धन कट जाते हैं।

२७—गायत्री उपनिषद् गोपथ ब्राह्मण के ३१ से ३८ तक की आठ काण्डिकाओं से संग्रहीत है। मौदगल्य और मैत्रेय ऋषियों के विचार विनिमय द्वारा गायत्री विद्या के सूक्ष्म रहस्यों पर प्रकाश डाला गया है। ज्ञान और विज्ञान के अत्यन्त सूक्ष्म रहस्यों का इस उपनिषद् में बहुत ही महत्वपूर्ण विवेचन हुआ है।

(२८) २६—अमृत नादोपनिषद् में प्रणव योग का वर्णन किया गया है। कहा गया है कि "ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है कि विद्युत की दमक के समान इस क्षण-स्थाई जीवन को व्यर्थ ही नष्ट न होने दे। प्रणवरूप रथ में बैठकर भगवान् विष्णु को साथी बनाने और ब्रह्मलोक के यथार्थ पद की खोज करते हुए भगवन् रुद्र की उपासना में लगे। उस रथ के द्वारा तब तक चलना चाहिये जब तक रथ का मार्ग पूरा न हो जाय।' फिर बतलाया है कि "प्रणव की अकारादि मात्रायें और उनके लिंगभूत पद तथा आश्रयभूत विश्व, विराट आदि के ध्यानपूर्वक उनका त्याग करते हुई स्वरहीन मकार के वाचक ईश्वर का ध्यान करने से साधक की तुरीय-तत्व में प्रविष्टि होती है। वह पद सम्पूर्ण प्रपंचों से सर्वथा दूर हैं।" इस प्रकार प्रणव को ब्रह्मप्राप्ति का साधन बतला कर उसी के माध्यम से योग के आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि का अभ्यास करने की विधि बताई गई है। प्राणायाम के लिए लिखा है कि "यह प्रणवनाद बाह्य यप्रत्न से उच्चरित नहीं होता। यह न व्यं-जन है और न स्वर है। कंठ, तालु, ओष्ठ और नासिका से भी नहीं बोला जाता। न यह मूर्द्धा से उच्चरित होता है, न दन्त स्थान से। यह कभी क्षरित नहीं होता। प्रणव का प्राणायाम के रूप में अभ्यास करे और मन को नाद रूप में निरन्तर लगाये रहे।' इस प्रकार साधन करके

जो योगी अपने प्राण को सूर्य मंडल (मस्तक) में पहुँचा कर उसको वेध देते हैं पुनर्जन्म से छूट कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

२६—एकाक्षरोपनिषद् में ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन है। तीनों लोकों में जितनी भी शक्तियाँ, पदार्थ, तत्व हैं सब ब्रह्म के ही रूप हैं। समस्त देव शक्तियों को भी ब्रह्म का रूप ही बतलाया गया है। कहा है कि 'तू ही विश्व की उत्पत्ति करने वाला, विश्व का कारण एवं 'परासु' अर्थात् मुख्य प्राण विष्णु स्वरूप है।......तेरे ही प्रकाश से प्रकाशित सूर्य आकाश में प्रकाशित होता है। तू ही कार्तिकेय के रूप में देवताओं का सेनापति है। तू अरिष्टनेमि है, सभी प्रकार के विघ्नों का नियमन करने वाला है। इन्द्र रूप में तू वज्र धारण करने वाला और रुद्र रूप में प्राणियों का स्वामी है। तू ही चन्द्रलोक में पितरों का काम रूप है। तू देवताओं और पितरों की तृप्ति का हेतु, यज्ञ तथा श्राद्ध आदि में किया जाने वाला स्वाहा, स्वधा तथा वषट्कार है। तू प्राणिमात्र के हृदयों में ओत-प्रोत है।......स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका पृथ्वी धाता, वरुण, राजा, वर्ष, अर्यमा आदि जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, तू ही है, तेरा ही स्वरूप है।' यही ब्रह्मज्ञानियों की दृष्टि है, जो इसे प्राप्त कर लेते हैं वे जीवनमुक्त और स्वयं ज्योति स्वरूप हो जाते हैं।

३०—नादविन्दूपनिषद् में भी प्रणवयोग का उपदेश किया गया है, पर योग के षट् अङ्गों के बजाय केवल नाद श्रवण को ही साधन रूप में बतलाया है। ॐकार के स्वरूप का वर्णन करते हुये बतलाया है कि 'ॐकार' के अग्नि देवता हैं। अग्नि के मंडल की तरह ही उसका रूप है और आग्नेयी ही उसकी पहली मात्रा है। 'उकार' के वायु देवता हैं। वायु मण्डल के समान ही उसका रूप है और वायव्या ही उसकी दूसरी मात्रा है। 'मकार' के देवता सूर्य हैं। सूर्य के मण्डल की तरह उसका रूप है और यह तीसरी उत्तर मात्रा है। चौथी अर्धमात्रा वारुणी के देवता वरुण हैं। इन सभी मात्राओं के तीन-तीन सुन्दर मुख हैं।

इसी से प्रणव को कलात्मक कहा जाता है ।' जब पहले पहल यह अभ्यास किया जाता है तो यह नाद कई तरह का होता है और बड़े जोर-जोर से सुनाई देता है, परन्तु अभ्यास बढ़ जाने पर वह नाद धीमे से धीमा होता जाता है । आरम्भ में इस नाद की ध्वनि समुद्र, मेघ, नगाड़ा, झरना की तरह होती है परन्तु तत्पश्चात् भ्रमर, वीणा, वंशी तथा किंकिणी की तरह मधुर होती जाती है ।' इसी प्रकार जब ॐकार की ध्वनि नाद के रूप में सुनाई पड़ने लगती है तो साधक तुरीयावस्था में पहुँच जाता है ।

३१—भावनोपनिषद् में अपने शरीर में ही समस्त भौतिक और दैविक शक्तियों का अनुभव करने का उपदेश देकर देवी पूजा का विधान समझाया गया है । कहा है कि 'यह देह ही नवरत्नद्वीप है । इस द्वीप की आधारभूत शक्तियाँ योनिमुद्रा आदि हैं । त्वचा आदि सप्त धातुओं से युक्त संकल्प-विकल्प ही कल्पवृक्ष है । उस परमात्मा से भिन्न प्रतीयमान तेज स्वरूप सा जीव ही उद्यान है । जीव के द्वारा आस्वादित किये जाने वाले मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषैला, नमकीन षट् रस छः ऋतुयें हैं । क्रिया नामक जो शक्ति है वह पीठ है । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय को अभेद मानना ही श्रीचक्र का पूजन है ।' इन मानसिक और आत्मिक भावनाओं को ही इसमें धूप, दीप, गन्ध, नैवेद्य आदि की जगह पूजा का उपकरण बताया है और उन्हीं के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग दिखलाया है ।

३२—योगराजोपनिषद् में नौचक्रों में कुण्डलिनी तत्व की साधना का महत्व बतलाया गया है और इसके लिए मंत्रयोग, लययोग, राजयोग और हठयोग किसी भी मार्ग से साधन करने का उपदेश दिया है । इसका महत्व बताते हुए कहा है कि 'इन नौ चक्रों का ध्यान करने वाले मुनि के हाथ में प्रतिदिन मुक्ति से युक्त सभी सिद्धियाँ आ जाया करती हैं । ज्ञान चक्षु से जो मध्य में ही दण्ड को देखता है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ।'

३३—आत्मपूजोपनिषद् में आत्मिक गुणों द्वारा ही आत्मा की पूजा का उपदेश किया गया है और "मैं (अर्थात् आत्मा) सर्व आधि-व्याधि रहित, निराश व ब्रह्म से परिपूर्ण हूं" इस भावना को मोक्ष का आधार बतलाया है। इसमें राजयोग को प्रमुख मान कर पूजा पाठ की बाह्य क्रियाओं के स्थान में मानसिक और आत्मिक भावनाओं की प्रधानता दिखलाई ई। सभी कर्मों का त्याग का उपदेश करते हुए स्पष्ट कह दिया है कि "निश्चल (स्थिर) ज्ञान ही आसन है। उन्मनी भाव ही पाद्य है। उसकी ओर मन लगाये रखना ही अर्घ्य है। सदा आत्माराम की दीप्ति ही आचमनीय है। वर प्राप्ति ही स्नान है। सर्वात्मक रूप दृश्य का विलय ही गन्ध है। अन्तःज्ञान चक्षु ही अक्षत है। चिद् का प्रकाश ही पुष्प है। सूर्यात्मकता ही दीप है। परिपूर्ण जो उसके अमृतरस का एकीकरण ही नैवेद्य है।" इस भांति राजयोग का उपासक अपनी आत्मा का आधार लेकर ही सर्वात्मक पूजा सम्पन्न करता है और पर-ब्रह्म की समीपता प्राप्त हो जाती है।

\+ \+ \+

ज्ञान खण्ड के सभी उपनिषद् एक से एक बढ़ कर हैं। उनका जितने मनोयोग पूर्वक अध्ययन और मनन किया जायगा उतने ही रहस्यों का उद्घाटन पाठकों के सम्मुख होता जायगा।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

१०८ उपनिषद्

(१) ईशावास्योपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

वह परब्रह्म परमात्मा सर्व प्रकार पूर्ण है और यह विश्व भी पूर्ण ही है। उस पूर्ण से यह पूर्ण प्रकट हुआ है। पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है।

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥१
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।३
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५

अखिल विश्व में जड़चेतन स्वरूप जो विश्व है, वह सर्व व्याप्त ईश्वर से परिपूर्ण है। उसे साथ रखते हुए इस विश्व को त्यागपूर्वक

भोगते रहो। लालच न करो, क्योंकि यह धन किस काम का है ॥ १ ॥ इस जगत में कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना करनी चाहिये। इस प्रकार किये जाने वाले कर्म तुझ मनुष्य को लिप्त नहीं करते। इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है ॥२॥ असुरों के जो विभिन्न लोक हैं, वे सब अज्ञान और अन्धकार आदि से ढके हुए हैं। जो मनुष्य आत्महत्या द्वारा मरते हैं, उन्हीं दुःखपूर्ण लोकों को बराबर प्राप्त होते हैं ॥३॥ वह परब्रह्म एकात्म भाव से और एक मन से तीव्र गति वाले हैं। वे सबके आदि तथा सबके जानने वाले हैं। इन परमात्मा को देवगण भी नहीं जान सके। वे अन्य गतिवानों को स्वयं स्थिर रखते हुए भी अतिक्रमण करते हैं। उनकी शक्ति से ही वायु आदि जलवर्षण आदि क्रिया करते हैं ॥ ४ ॥ वे चलते हैं, स्थिर भी हैं, वे दूर और निकट से निकट हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्व के भीतर परिपूर्ण हैं तथा इस विश्व के बाहर भी हैं ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो-
ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८
अधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१०

परन्तु जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में ही देखता रहता है तथा सब प्राणियों में परमात्मा को देखता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता है ॥६॥ जिस अवस्था में परमात्मा को जानने वाले विद्वान् पुरुष के लिए सभी प्राणी परमात्मा रूप हो जाते हैं, उस अवस्था में एक मात्र सच्चिदानन्द परमात्मा का निरन्तर साक्षात्कार करने वाले योगी पुरुष के लिए कौन सा मोह अथवा शोक रह जाता है ॥७॥ वह महापुरुष अत्यन्त तेजस्वरूप, सूक्ष्म देह रहित, छिद्र रहित, शिराओं से रहित होकर शुद्ध होता हुआ, शुभाशुभ कर्मविहीन परमात्मदेव को प्राप्त होता है। वे परमात्मा सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वनियंता, स्वयंभू हैं। वे अनादि काल से सब की यथायोग्य रचना करते आये हैं ॥८॥ जो मनुष्य अविद्या को अपनाते हैं, वे अज्ञानयुक्त अन्धकार में पड़ते हैं तथा जो विद्या में मदमत्त हैं वे भी प्रायः अन्धकार में ही गिरते हैं ॥ ९ ॥ विद्या की यथार्थ उपासना का फल अन्य ही बताया है। अविद्या में रत रहने का फल उससे भिन्न कहा गया है। इस प्रकार हमने उन ज्ञानियों के वचन सुने हैं, जिन्होंने इस विषय का हमारे प्रति विशद् विवेचन किया ॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ् सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ् रताः ॥१२
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्दाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद वेदोभयँ् सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नापावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।१५

जो मनुष्य विद्या रूप ज्ञान-तत्व और अविद्या रूप कर्म-तत्व को साथ ही साथ जान लेता है, कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का उपभोग करता है ।। ११ ।। जो मनुष्य नाशवान देव-पितर-मानव आदि की उपासना करते हैं, वे अज्ञानयुक्त घोर अन्धकार में पड़ते हैं। जो व्यक्ति अविनाशी परमात्मा के मिथ्याभिमान में मत्त हैं वे भी घोर अन्धकार में गिरते हैं ।।१२।। अविनाशी परमात्मा की उपासना का दूसरा ही फल कहा गया है और नाशवान पितर आदि की उपासना का दूसरा फल बताया गया है। इस प्रकार जिन ज्ञानियों ने इसकी व्याख्या की है, उनके श्रेष्ठ वचन हमने सुने हैं ।।१३।। जो मनुष्य अविनाशी परमात्मा को और नाशवान पितर आदि इन दोनों को भले प्रकार जान लेता है, वह नाशवान देव-पितर आदि की उपासना द्वारा मृत्यु को पार कर अविनाशी ब्रह्म की उपासना द्वारा अमृत को भोगता है ।।१४।। हे पोषण करने वाले प्रभो ! तुझ सत्य स्वरूप परमात्मा का मुख स्वर्णिम पात्र से आच्छादित है तुम्हारे सत्य धर्म से मुझ अनुष्ठाता को अपना दर्शन कराने के निमित्त अपना वह आवरण दूर कीजिये ।।१५।।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजा-
पत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।१६

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मन्तँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ।।१७

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्य स्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।।१८

हे पोषण करने वाले मुख्य ज्ञान रूप प्रभो ! तुम सब के नियंता और ज्ञानियों के परम लक्ष्य सरूप हो। हे प्राजापत्य ! अपनी इन रश्मियों को समेट कर, इस तेज को अपने तेज में मिला लो। तुम्हारा जो अत्यन्त कल्याणमय स्वरूप है उसे मैं देख रहा हूँ। जो वह परम पुरुष है, मैं भी वही हूँ ॥१६॥ अब यह प्राण और इन्द्रियाँ अमृतत्व-युक्त वायुतत्व में मिल जाँय, यह स्थूल देह अग्नि में भस्म हो जाय। हे परमब्रह्म ! तुम मुझे स्मरण रखो और मेरे किये हुये कर्मों को भी याद रखो। हे प्रभो ! तुम मुझे और मेरे कर्मों की याद रखो ॥१७॥ हे अग्ने ! हमें परमपिता परमात्मा की सेवा में श्रेष्ठ मार्ग से ले चलिये। हे प्रभो ! तुम हमारे सम्पूर्ण कर्मों के ज्ञाता हो, अतः हमारे मार्ग में बाधक पापों को दूर कर दो। हम आपको बारम्बार नमस्कार युक्त वचन कहते हैं ॥१८॥

---

(२) केनोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बल मिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं ब्रह्मनिराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते यं उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु॥

हे परमात्मदेव! मेरे सम्पूर्ण अङ्ग, वाणी, प्राण, नेत्र, कान, समस्त इन्द्रियाँ और शक्ति परपुष्ठ हों। यह उपनिषदोक्त सर्वरूप ब्रह्म है, मैं इसे अस्वीकार न करूँ। यह ब्रह्म मुझे परित्याग न करे। मेरा उसके साथ अथवा उस ब्रह्म का मेरे साथ अटूट सम्बन्ध हो। यह धर्म समूह उस ब्रह्म में रत हुये मुझ में हों।

प्रथम खण्ड

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥१
श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥२

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विदमो न विजानीमो यथै तदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥३।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥४
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥५

किसके द्वारा प्रेरित हुआ यह मन विषयों में गिरता है ? किसके द्वारा नियोजित हुआ प्राण चलता है ? किसके द्वारा प्रेरित की हुई वाणी को बोलते हैं ? कौन-सा प्रसिद्ध देवता नेत्रों और कानों को नियुक्त करता है ? ॥ १ ॥ जो मन का मन है, प्राण का प्राण है, वाक् इन्द्रिय की वाणी है, कर्णेन्द्रिय का श्रोत्र है और चक्षु का चक्ष है, वही ज्ञानी पुरुष इस लोक से जाते हुए जीवन्मुक्त होते और अमर हो जाते हैं ॥२॥ वहां न तो चक्षु पहुँचता है, न वाणी पहुँचती है और न मन ही पहुँच सकता है। जिस प्रकार इसके रूप को बताया जाय, उसे न तो हम स्वयं जानते हैं न दूसरों से सुनकर ही जान सकें हैं। क्योंकि वह विदित पदार्थों से भिन्न है और न जाने हुए पदार्थों से भी परे है। हम यह बात अपने पूर्वजों से सुनते आये हैं, उन्होंने यह तत्व हमें भले प्रकार समझाया था ॥३॥ जो वाणी के द्वारा नहीं कहा गया, जिसके द्वारा वाणी बोली जाती है, उसे ही ब्रह्म जान। वाणी द्वारा कहे जाने वाले जिस तत्व की उपासना की जाती है, वह तत्व ब्रह्म नहीं है ॥४। कोई भी जिस ब्रह्म को मन के द्वारा समझ नहीं सकता, परन्तु मन जिसकी शक्ति पाकर जाना हुआ हो जाता है। ज्ञानी जन जिसे ऐसा कहते हैं, उसे तू ब्रह्म समझ। जो मन बुद्धि द्वारा गम्य है, ऐसे तत्व की उपासना करना, ब्रह्म की उपासना नहीं है ॥५॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोतमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७
यत् प्राणेन न प्राणाति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८

जिसे कोई नेत्रों से भी नहीं देख सकता, परन्तु जिसके द्वारा नेत्रों को दर्शन-शक्ति प्राप्त होती है, तू उसे ही ब्रह्म जान। नेत्रों

द्वारा दिखाई देने वाले जिस तत्व की मनुष्य उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ॥६॥ जिसके शब्द को कानों के द्वारा कोई सुन नहीं सकता, किन्तु जिससे इन श्रोत्रेन्द्रियों को श्रवण शक्ति प्राप्त होती है, उसी को तू ब्रह्म समझ। परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सुने जाने वाले जिस तत्व की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है ॥७॥ जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता, किन्तु जिससे प्राण प्रेरणा प्राप्त करता है उसे तू ब्रह्म जान। प्राण शक्ति से चेष्टावान हुए जिन तत्वों की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है ॥८॥

द्वितीय खण्ड

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि
नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु
मीमाँस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१
नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२
यस्यामतं तस्य मत मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ ३
प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५

यदि तू यह समझता है कि मैंने ब्रह्म को भले प्रकार जान लिया है तो तू अवश्य ही ब्रह्म के स्वरूप को थोड़ा-सा जान गया है। उसका जो स्वरूप तू है अथवा उसका जो स्वरूप देवताओं में है, वह स्वरूप है। अतः तेरा जाना हुआ स्वरूप विचार करने योग्य है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१॥ मैंने ब्रह्म को भले प्रकार जान लिया है,

ऐसा नहीं मानता और न ऐसा ही मानता हूँ कि ब्रह्म को नहीं जानता क्योंकि जानता भी हूँ। हम में से जो भी उसे जानता है, वह मेरे कथन के अभिप्राय को भी जानता है। मैं जानता हूँ अथवा नहीं जानता, यह दोनों ही मिथ्या ज्ञान हैं ॥२॥ जो समझता है कि ब्रह्म जाना नहीं जा सकता, उसका जाना हुआ समझ। परन्तु जो यह मानता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, वह उसे निश्चय ही नहीं जानता। जो उसे जानने का अभिमान रखते हैं उनके लिये वह अविदित है, परन्तु जो अनजान बनते हैं, ब्रह्म को वही जानते हैं ॥३॥ उक्त संकेत से प्रकट हुआ ज्ञान ही यथार्थ है, क्योंकि इसके द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। आत्मा से परमात्मा को जानने की प्रेरणा प्राप्त होती है और ज्ञान के द्वारा अमृत स्वरूप ब्रह्म प्राप्त हो जाता है ॥४॥ यदि इस देह में ही ब्रह्म को पहचान लिया तब तो यथार्थ सुख है ही, परन्तु यदि इस देह के रहते हुये उसे नहीं जान सका तब महान् विनाश ही जान। ज्ञानी जन प्राणी-प्राणी में ब्रह्म को विद्यमान मान कर इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं। ५॥

तृतीय खण्ड

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्तत ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवाय महिमेति ॥१

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥२

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति। ३

तदभ्यद्रवद् तदभ्यवदत् काऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४

तस्मिं्स्त्वयि कि वीर्यमिलि। अपीदं् सर्वं दहेयम्, यदिव पृथिव्यामिति ॥५

उस ब्रह्म ने ही देवताओं के निमित्त विजय प्राप्त की परन्तु ब्रह्म की उस विजय में ही देवगण ने अपनी विजय का अभिमान किया। वे समझने लगे कि यह विजय हमारी ही हुई है और इसमें महिमा भी हमारी ही है ॥१॥ उस ब्रह्म ने देवताओं के इस प्रकार के अहंभाव को जान लिया और तब उनके सामने ही वह प्रकट हो गया। परन्तु देवगण उसे नहीं पहिचान सके और कहने लगे कि यह दिव्य यक्ष कौन है ? ॥२॥ देवगण ने अग्नि से कहा—'हे जातवेद: ! इस बात को भले प्रकार जानिये कि यह यक्ष कौन है ?' इस पर अग्नि ने 'बहुत अच्छा' कहा ॥३॥अग्निदेव दौड़ कर (यक्ष रूप ब्रह्म के पास) पहुँचे। ब्रह्म ने उससे पूछा —'तुम कौन हो ?' अग्नि बोले—'मैं जातवेदा अग्नि हूँ। मैं ही अग्नि के नाम से प्रसिद्ध हूँ' ॥४॥ ब्रह्म ने अग्नि से पूछा—'तुम उक्त नाम वाले में क्या शक्ति है ?' अग्नि बोले—'मैं चाहूँ तो पृथिवी में जो कुछ भी है, उस सब को भस्म कर डालूँ' ॥५॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्-यक्षमिति ॥६

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ॥७

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्य-ब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥८

तस्मिं्स्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदं सर्वमाददीयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥९

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥१०

तब ब्रह्म ने अग्नि के सामने एक तिनका रख कर कहा—'इसे भस्म करो।' अपनी पूरी शक्ति के साथ अग्नि तिनके की ओर दौड़े और किसी प्रकार भी उसे भस्म कर न सके तब वह वहाँ से लौट कर देवताओं से बोले कि 'यह दिव्य यक्ष कौन है, यह जानने में मैं असमर्थ रहा' ॥६॥ तब देवताओं ने वायु देवता से कहा कि—'हे वायो ! यह यक्ष कौन है ? इस बात का आप ही ठीक से पता लगाइये।' वायु ने 'बहुत अच्छा' कहा ॥७॥ वायु द्रुत गति से ब्रह्म के पास गया। ब्रह्म ने उससे पूछा कि तुम कौन हो ? वायु ने कहा—'मैं वायुदेवता हूँ और मातरिश्वा मेरा नाम है' ॥८॥ ब्रह्म ने पूछा—'उक्त नाम वाले तुझ वायु में कौन-सी सामर्थ्य है ?' वायु बोले—'पृथ्वी में स्थित यह जो कुछ भी है, मैं उस सब को उड़ा सकता हूँ' ॥९॥ तब ब्रह्म ने उसके सामने एक तिनका डाल दिया और बोले कि 'इसे उड़ा दो।' वायु ने पूर्ण शक्ति लगाई तो भी उस तिनके को न उड़ा सका। तब वह वहाँ से लौटकर देवताओं से बोला कि 'यह यक्ष कौन है, इसका पता लगाने में मैं असमर्थ रहा' ॥१०॥

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति । तदभ्यद्रवत् । तस्मात् तिरोदधे ॥११

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥१२

फिर देवताओं ने इन्द्र से कहा—'हे मघवन् ! यह यक्ष कौन है इसका आप ही पता लगाइये। इन्द्र ने 'बहुत अच्छा' कहा और यक्ष की ओर दौड़े, परन्तु उनके सामने से यक्ष रूप ब्रह्म अन्तर्धान हो गया ॥११॥ तब इन्द्र आकाश मार्ग से अत्यन्त सुशोभित देवी

हिमाचलकुमारी उमा के पास पहुँच कर पूछने लगे — 'यह यक्ष कौन था? ।।१२।।

चतुर्थ खण्ड

सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणा वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥१

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायु-रिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठ पस्पृशुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥२

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।३

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा इतीन्न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ।।४

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्य भीक्ष्णं सङ्कल्पः ।।५

उमा बोली—'वह परब्रह्म है, उसकी विजय को तुम अपने अहं-भाव से अपनी विजय मानने लगे थे।' उमा के इस उत्तरसे इन्द्र ने समझ लिया कि वे अवश्य ही ब्रह्म हैं ।। १ ।। अतः वे अग्नि, वायु और इन्द्र के नाम से प्रसिद्ध तीनों देवता तथा अन्य देवताओं से श्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि उन्हीं ने उस ब्रह्म का स्पर्श किया और उन्हीं ने ब्रह्म को सर्व प्रथम इस प्रकार जाना कि यही सर्व शक्तिमान ब्रह्म है ।। २ ।। इन्द्र अन्य देवताओं से इस लिये सर्व श्रेष्ठ हैं कि उन्होंने ब्रह्म को निकट से स्पर्श किया और सब से पहले ब्रह्म को इस प्रकार जाना कि यही साक्षात् परमेश्वर हैं ।। ३ ।। उस ब्रह्म का आदेश बिजली के समान चमकने तथा नेत्रों के समान झपकने जैसा है । यह आधिदैविक संकेत समझना चाहिये ।। ४ ।। आध्यात्मिक भाव यह है कि हमारा मन

ब्रह्म के पास जाता हुआ सा लगता है और ब्रह्म को निरन्तर स्मरण करता हुआ सा प्रतीत होता है। इस मन के द्वारा ही ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न होती है ॥५॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति
उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदतब्रूमेति ॥६।७

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्य मायतनम् ॥८

यो वा एतामेवं वेदापहत्स्य पाप्मानमनन्तो स्वर्गे लोकेज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९

वह ब्रह्म 'तद्वन' नाम वाला है तद्वन सब का प्रिय एवं अभीष्ट है इस भाव से उसकी उपासना करें। जो साधक उस ब्रह्म को इस प्रकार जान लेता है, उसे सब प्राणी अपना प्रिय मानते हैं। 'हे गुरुदेव ! उपनिषद् में समस्त ब्रह्म -विद्या का उपदेश करो।' इस प्रकार तुझे ब्रह्म-विद्या बता दी गई है तुझे ब्रह्म-विद्या सिखा दी गई है ॥ ६ ७ ॥ उस ब्रह्म-विद्या के तीनों आधार है तप इन्द्रियों का दमन यज्ञादि कार्म उस विद्या के वेद सम्पूर्ण अङ्ग हैं और उसका उद्देश्य है सत्य स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति ॥ ८ ॥ जो व्यक्ति इस ब्रह्म विद्या को पूर्वोक्त प्रकार से जान लेता है, वह अपने सम्पूर्ण पापों को दूर कर अनन्त और सर्वश्रेष्ठ स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है और वह सदा परमानन्द में स्थित रहता है ॥९॥

———

(३) कठोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

सच्चिदानन्द घन ब्रह्म दोनों की रक्षा करें, हम दोनों का साथ-साथ भरण-पोषण करें, हमें साथ-साथ ही शक्ति प्राप्त हो, हम दोनों की विद्या तेजस्विनी हो और हम परस्पर द्वेष भाव रखने वाले न हों ।

प्रथम अध्याय

प्रथम वल्ली

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ । तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१

तँ ह कुमारँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥३

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति । द्वितीय तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किँ स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५

यह कथा प्रसिद्ध है कि यज्ञ-फल की कामना वाले वज्रश्रवा के पुत्र ने विश्वजित यज्ञ में अपना सम्पूर्ण धन दान कर दिया । नचिकेता नाम वाला उसका एक पुत्र था ॥१॥ दक्षिणा में देने के लिये

जब गौयें लायी जा रही थीं, तब अल्पवयस्क होते हुए भी नचिकेता में श्रद्धा-भाव जागरित हुआ और वह उनके सम्बन्ध में सोचने लगा ॥२॥ जो गौयें जल पी चुकी हैं, जिनका तृणादि भोजन समाप्त हो चुका है, जिनका दूध दुहा जा चुका है तथा जिनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो गई हैं। ऐसी (निरर्थक) गायों का दान करने वाला सब सुखों से शून्य नरकादि लोकों को प्राप्त होता है ॥३॥ यह विचार कर नचिकेता ने अपने पिता से कहा कि हे पिताजी ! 'आप मुझे किसको देंगे ? (पिता ने उत्तर न दिया तो उसने वही बात) दूसरी बार, फिर तीसरी बार कही। (तब पिता ने क्रोधपूर्ण) उससे कहा कि मैं तुझे मृत्यु के लिए देता हूं' ॥४॥ बहुतों में मैं प्रथम (उच्च-कोटि) के आचरण पर चलता रहा हूँ, बहुतों में मध्यम आचरण पर चला हूँ। यम का ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे (मेरे पिता) मेरे द्वारा पूर्ण करना चाहते हैं ॥५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६
वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्य।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥९

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रहृष्टं माभिवदेत्यप्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०

(उसने पिता से कहा) आपके पूर्व पुरुष जैसा आचरण करते रहे हैं, उसे देखिये । (उसके बाद भी) अन्य लोगों ने जैसा आचरण किया है उसे भी देखिये । यह मरण धर्म वाला मनुष्य अनाज के समान पकता और अनाज की ही भाँति फिर उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ (यम पत्नी) हे सूर्यपुत्र ! वैश्वानर अग्नि, अतिथि ब्राह्मण के समान गृहों में जाते हैं, वहाँ उनकी शान्ति की जाती है । उनके निमित्त जल ले आओ ।७। जिसके घर में अतिथि ब्राह्मण भूखा रहता है, उस न्यून बुद्धि वाले मनुष्य की आशा, प्रतीक्षा और उससे मिलने वाले सुख, श्रेष्ठ वाणी, कामना पूर्ति, सम्पूर्ण पुत्र, पशु आदि वैभव सब को ही क्षुधातुर अतिथि नष्ट कर डालता है ॥८॥ (यम) हे ब्रह्मन् ! तुम आदरणीय अतिथि हो, तुम्हें नमस्कार हो और मेरा भी कल्याण हो । तुम तीन रात्रियों तक मेरे घर पर बिना अन्न-जल प्राप्त किये रहे हो, उसके बदले में मुझसे तीन वरदान माँग लो ॥९॥ (नचिकेता) हे मृत्यु ! गौतमवंश वाले मेरे पिता उद्दालक मेरे प्रति शांत, प्रसन्न एवं खेद रहित हो जायें और आपके द्वारा लौटाया जाने पर मुझ पर विश्वास कर स्नेहासक्त वचन कहें, ऐसा प्रथम वर मैं अपने तीन वरों में से माँगता हूँ ॥१०॥

यथा पुरस्ताद भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्यु
स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।

उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगा मोदते स्वर्गलोके ॥१२

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त—
मथास्य मृत्युः पुनरेवाहतुष्टः ॥१५

तुम्हें मृत्यु मुख से मुक्त हुआ देख कर, मेरी प्रेरणा से अरुणि पुत्र उद्दालक पूर्ववत् ही तुम्हारी प्रतीति कर क्रोध-रहित, शांतचित्त हो जायेंगे और रात्रियों में सुख पूर्वक सोया करेंगे ॥११॥ स्वर्गलोक में किंचित भी भय नहीं है, वहाँ मृत्यु रूप तुम भी नहीं हो, वहां वृद्धावस्था से कोई डरता नहीं, वहाँ के निवासी क्षुधा-पिपासा से पार होकर शोकों से परे रहते हुए सर्वानन्द का उपभोग करते हैं ॥१२॥ हे मृत्यो ! तुम स्वर्ग लोक की प्राप्ति कराने वाले अग्नि देवता को जानते हो। तुम मुझ श्रद्धावान जिज्ञासु को समझा कर कहो कि स्वर्ग के रहने वाले अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। यह मैं अपने द्वितीय वर के रूप में याचना करता हूँ। ॥१३॥ हे नचिकेता ! स्वर्ग साधना रूप अग्नि का मैं भले प्रकार ज्ञाता हूँ। मैं उसे तुम्हारे प्रति कहता हूँ, उसे भले

प्रकार समझ लो। यह अग्नि-सम्बधी ज्ञान अनन्त लोक प्राप्त कराने वाला परन्तु बुद्धि रूपी गुहा में छिपा हुआ जानो ॥ १४ ॥ स्वर्ग के साधन रूप अग्नि-सम्बन्धी विज्ञान का (यमराज ने नचिकेता को) उपदेश दिया। वेदी आदि बनाने में जहाँ जितनी ईंटें आवश्यक होती हैं उसका यथाविधि वर्णन किया और नचिकेता ने भी ठीक प्रकार समझ कर यमराज को पुनः सुना दिया। यमराज उससे संतुष्ट होकर पुनः कहने लगे ॥१५॥

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि
त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्नि तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीय ॥२०

यमराज प्रसन्न होकर नचिकेता से बोले कि अब मैं तुम्हें यहां फिर यह वर देता हूँ कि यह अग्नि-विज्ञान तुम्हारे नाम से ही प्रसिद्ध होगा और तुम इस अनेक रूप वाली माला को भी ग्रहण करो ॥१६॥ इस अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करने वाला जो व्यक्ति तीनों (वेदों) के साथ मिल कर त्रिकर्मों (तप, दान, यज्ञ) को निष्काम भाव से करता है वह जन्म मरण से पार हो जाता है। ब्रह्मा द्वारा सृजित सृष्टि के ज्ञाता अग्नि देव को जान कर निष्काम भाव से चयन करता है। वह अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ अग्नि विद्या के तीन कर्मों (ईंटों का रूप, संख्या और चयन) को जान कर तीन बार नचिकेता अग्नि का अनुष्ठान करता है अथवा जो भी ज्ञानी पुरुष इस प्रकार नचिकेता अग्नि का चयन करता है, वह अपने सामने ही अपने मृत्यु-पाश को काटता हुआ शोकादि तर कर स्वर्ग में सुख भोग करता है ॥ १८ ॥ हे नचिकेता यह कही हुई स्वर्ग साधिका अग्नि-विद्या तुम्हारे नाम से ही कही जायगी। यह तुमने द्वितीय वर मांगा था अब तुम तृतीय वर भी मांग लो ॥१६॥ (नचिकेता) मृतकों के सम्बन्ध में जो संशय है-कोई कहता है कि मरने के पश्चात् आत्मा जीवित रहता है। कोई कहता है कि आत्मा भी जीवित नहीं रहता, मैं आपकी कृपा से इसे भली प्रकार जान लूं यही मेरा तृतीय वर है ॥२०॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।२३

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५

(यम) हे नचिकेता ! इस सम्बन्ध में पहले देवताओं ने भी संदेह प्रकट किया था । यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म होने से शीघ्र ही समझ में नहीं आता अतः तुम अन्य वर माँग लो । मुझे दबाओ मत इस वर को मुझे लौटा दो ॥२१॥ (नचि.) हे मृत्यु ! आपने कहा है कि इस विषय में देवता भी संशय कर चुके हैं, वह शीघ्र समझने योग्य नहीं है । परन्तु आपके सिवा इस विषय का समझाने वाला भी अन्य नहीं मिल सकता अतः इस वर के समान अन्य कोई वर नहीं हो सकता ॥२२॥

(यम) तुम सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र पौत्रादि, बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण, अश्व, महती पृथिवी आदि मांग लो और तुम जितने वर्षों तक जीवित रहना चाहो, जीते रहो ॥२३॥ हे नचिकेता ! धन-वैभव और चिर-काल तक जीवन आदि जो चाहो वह इस आत्म-ज्ञान सम्बन्धी वर के बदले मांग लो। तुम इस भूलोक में महान ऐश्वर्यवान बनो। मैं तुम्हें सम्पूर्ण भोगों को भोगने में समर्थ बनाये देता हूँ ॥२४॥ जो भोग मृत्यलोक में दुर्लभ हैं, उन सब भोगों की अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त कर लो। रथ सहित विभिन्न वाद्यों और अप्सराओं को मांग लो। ऐसी स्त्रियाँ मनुष्यों के लिये लभ्य नहीं हैं। मेरे द्वारा प्रदत्त इन स्त्रियों से परिचर्या कराओ, परन्तु मरने के पश्चात् क्या होता है, ऐसा प्रश्न न करो ॥२५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्-
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।।२६

(नचि.) हे यमराज ! भोग क्षण-भंगुर हैं, मनुष्य की सब इन्द्रियों का जो तेज है उसे यह भोग क्षीण कर डालते हैं। तब आयु कितनी भी लम्बी क्यों न हो अल्प ही हो जाती है। इसलिये तुम्हारे यह रथ-वाहन और नृत्य-गीत आदि तुम्हारे ही पास रहें ।।२६।। मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता। जब तुम्हारे दर्शन प्राप्त हो गये हैं तो धन भी प्राप्त हो जायेगा। जब तक आपका शासन रहेगा, तब तक हम जीवित ही रहेंगे। अतः माँगने योग्य वर तो आत्म ज्ञान सम्बन्धी ही है ।।२७।। मनुष्य जीर्ण होकर मरने वाला है, इस तत्व का ज्ञाता कौन मर्त्यलोक वासी पुरुष है? आप जैसे वृद्धावस्था से रहित, अमर रहने वाले साधुजनों की संगति को प्राप्त होकर भी कौन आमोद प्रमोद का चिन्तन करता हुआ दीर्घजीवी होना चाहेगा ? ।।२८।। हे मृत्यु ! जिस महिमायुक्त आत्म ज्ञान के सम्बन्ध में लोग मरने के पश्चात् आत्मा के अमर रहने या न रहने की शङ्का करते रहते हैं उसमें जो यथार्थ है वह आप कहिये। यह वर अत्यन्त गूढ़ है, इससे अन्य किसी वर की नचिकेता याचना नहीं करता ।।२६।।

।। प्रथम वल्ली समाप्त ।।

द्वितीय वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।।१
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेय हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२
स त्वं प्रियान् प्रियारूपाँश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यास्राक्षीः ।
नतां सृङ्कां वृत्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३
दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः ॥४
अविद्यामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५

(यम) कल्याण के साधन को ग्रहणकरने वाले पुरुष का कल्याण होता है और सांसारिक भोगों में फंसने वाला मनुष्य सत्य-लाभ से गिर जाता है क्योंकि कल्याण के साधन में और सांसारिक भोगों के साधन में विभिन्नता है और यह दोनों ही पृथक-पृथक फल के देने वाले हैं ॥१॥ कल्याण के साधन रूप श्रेय और भोग रूप प्रेय, यह दोनों ही मनुष्य के आगे आते हैं, परन्तु मेधावी पुरुष उन दोनों के स्वरूपों का भले प्रकार मनन कर प्रेय की अपेक्षा श्रेय को ही श्रेष्ठ मानता है और अल्प बुद्धि मनुष्य सांसारिक भोगों को ग्रहण करना ही उचित समझता है ॥ २ ॥ हे नचिकेता ! तुमने मन को आकर्षित करने वाले सुन्दर भोगों का भले प्रकार विचार कर त्याग किया है, इसीलिये तुम माया रूपी बेड़ी के बन्धन में नहीं पड़े, जिसमें अनेक मनुष्य पड़ जाते हैं ॥३॥

विद्या और अविद्या, इन दोनों का फल विपरीत है। हे नचिकेता! तुम्हें अनेकों भोग अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके इसलिये मैं समझता हूं कि तुम विद्या की ही कामना करने वाले हो ॥४॥ जैसे अन्धे मनुष्य के द्वारा अन्धों का संचालन किया जाय वैसे ही अविद्या में वर्तमान पुरुष अपने को विद्वान मानते हुए सर्वत्र भटकते तथा ठोकरें खाते हैं ॥५॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः पृष्टा ॥९

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-

रनित्यैद्रंव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०

वैभव के मोह में पड़े हुए प्रमादी व्यक्ति को परलोक की बात नहीं सूझती उसे तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला लोक ही सत्य प्रतीत होता है। इहलोक से अन्य कुछ नहीं है, ऐसा मानने वाला मनुष्य बारम्बर मेरे वशीभूत होता है ॥६॥ आत्म-ज्ञान अत्यन्त गूढ़ है, अनेकों मनुष्य तो इसे सुन भी नहीं पाते। जो लोग सुनते हैं उनमें से अधिकांश समझ ही नहीं सकते। ऐसे गूढ तत्व को कहने वाला भी आश्चर्यमय होता है और जो ऐसे वक्ता को ढूंढ़ निकालता है वह चतुर मनुष्य भी कोई विरला ही होगा। जो तत्व-ज्ञान पा चुका है, उसके द्वारा शिक्षित हुआ ज्ञानी भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥७॥ आत्म ज्ञान सहज में ही समझ में आने वाली वस्तु नहीं है। अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति द्वारा कहे जाने पर या अनेक प्रकार से चिन्तन किये जाने पर भी इसका ज्ञान सम्भव नहीं है। यह सूक्ष्म-तर्क से परे है और अन्य ज्ञानी जन द्वारा कहे जाने पर भी मनुष्य की इसमें गति नहीं है ॥८॥ हे नाचिकेत! जिस बुद्धि का तुम में समावेश है वह तर्क से प्राप्तव्य नहीं है। यह तो अन्य व्यक्तियों द्वारा कही जाने पर ही आत्मज्ञान वाली होती हैं, तुम अवश्य ही धैर्यवान हो और तुम्हारे समान जिज्ञासु ही हम को प्रिय हैं ॥९॥ कर्म फल रूप निधि अनित्य है यह मैं जानता हूं। अनित्य पदार्थों के द्वारा नित्य पदार्थ प्राप्त नहीं होता। इस लिए मैंने नचिकेत अग्नि का चयन किया और अब मैं नित्य ब्रह्म को पा चुका हूं

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां
दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्ट
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२
एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा
विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥१३
अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४
सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५

हे नचिकेता ! मैं तुम्हें अत्यन्त बुद्धिमान समझता हूँ । क्योंकि तुमने सब भोगों से सम्पन्न, संसार का आधार रूप, यज्ञ का फल रूप तथा स्तुत्य एवं महिमाय स्वर्ग लोक का धैर्यपूर्वक त्याग कर दिया ॥११॥ जो ब्रह्म सनातन, दुर्लभ दर्शन, गूढ़, सर्वव्याप्त, हृदय रूप गुफा में स्थित रहता है, उसे बुद्धिमान पुरुष आध्यात्मिक योग द्वारा समझ कर हर्ष शोकादि से मुक्त हो जाता है ॥१२॥ हे नचिकेता ! मैं तुम्हारे लिये परमधाम का द्वार खुला हुआ समझता हूँ, क्योंकि तुम्हारे समान मनुष्य इस धर्म संयुक्त उपदेश को सुन कर भले प्रकार ग्रहण कर लेते हैं और विचार पूर्वक उस सूक्ष्म आत्मज्ञान को जान लेते हैं तथा सच्चिदानन्द घन परमात्मा को प्राप्त कर अत्यन्त आनन्दित हो जाते हैं ॥१३॥ (नचि०) हे मृत्यो ! जिस परमात्मा को तुम धर्म से परे,

अधर्म से परे और कार्य कारण रूप संसार से भी परे तथा भूत, भविष्यत्, वर्तमान नामक तीनों कालों से भी परे देखते हो, उसे ही बताने की कृपा करो ॥१४॥ (यम) जिस परम पद का सम्पूर्ण वेद प्रतिपादन करते हैं, जिस पद का सम्पूर्ण तप आभास कराते हैं, जिस पद की कामना वाले साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद मैं तुम्हे संक्षेप में कहता हूं। उसका ॐ एक अक्षर मात्र है ॥१५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य यत् ॥१६

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०

यही अक्षर ब्रह्म है, यही परब्रह्म है अतः इस अक्षर को जान कर जिसकी इच्छा करे, वही उसे प्राप्त हो जाता है ॥१६॥ यही एक श्रेष्ठ आधार है, यही परम आधार है, इस आधार के जानने वाला

व्यक्ति ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है ॥१७॥ आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, वह तो नित्य है, वह स्वयं न तो किसी के द्वारा उत्पन्न हुआ है और न इसके द्वारा कोई भी उत्पन्न हुआ है, वह तो अजन्मा, नित्य, सदा रहने वाला और सनातन है। शरीर के नष्ट किये जाने पर भी यह नहीं मरता ॥१८॥ हत्या करने वाला व्यक्ति यदि अपने को मारने वाला समझता है अथवा मारा गया व्यक्ति अपने को मारा गया मानता है तो वे दोनों अज्ञानी हैं। क्योंकि न कोई किसी की हत्या करता है और न कोई किसी के द्वारा मारा जाता है ॥१९॥ जो व्यक्ति इस प्राणी के हृदय गह्वर में निहित सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं महान् से भी महान् परमेश्वर को तथा उसकी महिमा को देख पाता है, उस कामना और दुःख शोक रहित व्यक्ति पर परमेश्वर की कृपा ही समझिये ॥२०॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥२३

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५

वह परमेश्वर बैठा हुआ ही दूर चला जाता है और शयन करता हुआ ही सब ओर जाता है। वह ईश्वर अपने ऐश्वर्य में मत कभी नहीं होता। इसे मेरे सिवा अन्य कौन जान सकता है ? ॥२१॥ वह परमेश्वर सर्वव्यापी है, अस्थिर, शरीरों में भी विदेह अविचल एवं महान् है। उसे जानने वाला और विज्ञ पुरुष कभी शोकातुर नहीं होता ॥२२॥ वह परमेश्वर कहने, सुनने से अथवा बुद्धि से प्राप्त नहीं होता किन्तु जिस पर उसकी कृपा होती है, उसी के द्वारा प्राप्त हो सकता है। क्योंकि वह अपने कृपा-पात्र पर ही अपने रूप को प्रकट करता है ॥२३॥ दुश्चरित्र, अशान्त मन वाला, असंयमयुक्त व्यक्ति अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा भी उस परमेश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता ॥२४॥ वह परमेश्वर जहाँ है, जैसा है उसे कौन जान सकता है है ? क्योंकि जिसके लिये ब्राह्मण क्षत्रिय आदि प्राणी भोजन बन जाते हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन बनती है उसे कौन जान सकता है ? ॥२५॥ ॥ द्वितीय वल्ली समाप्त ॥

तृतीय वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥२

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

श्रेष्ठ कर्मों से प्राप्त मनुष्य देह में स्थित हृदय रूपी परमधाम में बुद्धि गह्वर में स्थित सत्य का पान करने वाले, धूप और छाया के समान दो परस्पर भिन्नत्व हैं, ब्रह्मज्ञानी ऐसा कहते हैं और नाचिकेत-अग्नि का तीन बार चयन करने वाले तथा पंचाग्नि युक्त विद्वान् भी ऐसा ही कहते हैं ॥ १ ॥ जो नाचिकेत-अग्नि यज्ञकर्ता को संसार सागर से पार करने वाले के समान है, उसके द्वारा संसार सागर से तरने की कामना वाले मनुष्यों को अभय पद प्राप्त कराने और अक्षर ब्रह्म को जान कर प्राप्त करने की शक्ति हमें प्राप्त हो ॥२॥ तुम इस शरीर को रथ और जीवात्मा को रथी समझो तथा बुद्धि को सारथि और मन को लगाम जानो ॥३॥ इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उनके गमनागमन का मार्ग विद्वानों ने बताया है तथा इन्द्रियादि के साथ रहने वाला जीवात्मा ही उसका उपभोग करने वाला कहा गया है ॥४॥ उस मनुष्य की इन्द्रियाँ अकुशल सारथि के दुष्ट अश्वों के समान उच्छृंखल हो जाती हैं जो सदा अविवेक बुद्धि वाला और असंयमित मन वाला रहता है ॥५॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सँसारं चाधिगच्छति ॥७
यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०

परन्तु उस व्यक्ति की इन्द्रियां कुशल सारथि के श्रेष्ठ अश्वों के समान वशीभूत रहती हैं जो सदैव विवेकी बुद्धियुक्त और वश में रहने वाले मन से सम्पन्न रहता हैं ॥६॥ अविवेकी बुद्धि और असंयत मन वाला अपवित्र हृदय मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है और परमपद को भी कभी प्राप्त नहीं कर सकता ॥७॥ विवेक, बुद्धि और संयत मन वाला पवित्र हृदय मनुष्य उस परम पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से लौट कर फिर जन्म धारण नहीं करना होता ॥८॥ जो मनुष्य विवेकी सारथी के समान श्रेष्ठ बुद्धि वाला है, वह अपनी मन रूपी लगाम को सदा वश में रखता है। वह इस संसार से पार होकर परमेश्वर के परमपद को पाता है ॥६। इन्द्रियों से विषय अधिक शक्तिशाली हैं। विषयों से मन शक्तिवान् है, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी महान् यह आत्मा है। यह सर्वापेक्षा श्रेष्ठ है। १०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२
यच्छेद्वाङ्‌ मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मानि महिति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥१३
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधत ।
क्षुरस्यधारानिशितादुरत्ययादुर्गंपथस्तत्कवयोवदन्ति ।१४
अशब्दमस्पर्शरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

फ०/म०/१४

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।१५

आत्मा से अव्यक्त शक्ति श्रेष्ठ है, अव्यक्त शक्ति से स्वयं परमेश्वर श्रेष्ठ हैं। उन परमेश्वर से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वही सत्त की चरम सीमा और सब की परम गति है ।।११।। परमेश्वर सभी के आत्म रूप से देहधारियों में निवास करता हुआ भी अपनी माया से आच्छादित रहने के कारण प्रकट नहीं होता, केवल सूक्ष्मदर्शियों को ही सूक्ष्म बुद्धि द्वारा दर्शन देता है ।।१२।। बुद्धिमान् पुरुष वाणी को मन के वश में करे और फिर मन को ज्ञानमयी बुद्धि में निरुद्ध करे तथा बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को शान्त पुरुष परमेश्वर में लीन करने की चेष्टा करे ।।१३।। उठो, जागो और उत्तम पुरुषों के संसर्ग से परमेश्वर को जानो, क्योंकि बुद्धिमान पुरुष उसके मार्ग को उस्तरे की तीक्ष्ण धार के समान दुर्गम कहते हैं ।।१४।। जो परमेश्वर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है तथा जो अनन्त, अनादि नित्य अव्यय और आत्मा से भी श्रेष्ठ, सत्य स्वरूप है, उसको जान लेने पर मनुष्य मृत्यु-मुख से मुक्त हो जाता है ।।१५।।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तँ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ।।१६
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ।
तदानन्त्याय कल्पत इति ।।१७

नचिकेता से यमराज के द्वारा कहे हुए इस सनातन उपाख्यान का, वर्णन और श्रवण करने वाला मेधावी मनुष्य ब्रह्मलोक में अत्यन्त महिमा वाला होता है ।।१६।। इस अत्यन्त गूढ़ रहस्य को जो व्यक्ति शुद्ध भाव से ब्राह्मणों के मध्य कहता है या श्राद्ध के समय कहते हैं।

उसका वह कर्म अनन्त होता है और वह अनन्त होने की शक्ति प्राप्त करता है ।।१७।। ।। प्रथम अध्याय समाप्त ।।

द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।१

पराचः कामाननुयन्ति वाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।।२

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वैतत् ।।३

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।४

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वैतत् ।।५

स्वयम्भु परमेश्वर ने सब इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर निर्मित किए हैं इसलिये बाह्य वस्तुएँ ही देखी जाती हैं, अन्तरात्मा नहीं देखा जा सकता । किसी-किसी मेधावी ने ही अमृतत्व की कामना कर चक्षु आदि को भीतर की ओर प्रेरित कर अन्तरात्मा के दर्शन किये हैं ।।१।। जो बुद्धिहीन पुरुष बाह्य भोगों में ही फँसे रहते हैं, वे मृत्यु के भीषण पाश में बंधते हैं, परन्तु बुद्धिमान् पुरुष सत्य स्वरूप अमरत्व

को जानकर संसार के किसी भी अनित्य भोग की कामना नहीं करते ॥२॥ मनुष्य जिस परमेश्वर की प्रेरणा से शब्दों, स्पर्शों, रूपों रसों, गन्धों और विविध बिहार-सुखों का अनुभव करता है, उसी की प्रेरणा से यह भी जानता है कि यहां क्या शेष रहता है (अर्थात् कुछ भी नहीं) यही वह परमेश्वर है ॥३॥ स्वप्न में देखे हुये या जागते हुये देखे जाने वाले दोनों अवस्था के दृश्यों को जिसके द्वारा मनुष्य देखता है, उस महान् सर्वव्याप्त एवं सर्वात्मा को भले प्रकार जानकर मेधावी जन किसी प्रकार के शोक सतप्त नहीं होते ॥४॥ जो पुरुष इस जीवनदाता, कर्मफलदाता और भूत भविष्यत् आदि कालों में शासन करने वाले परमेश्वर को अपने निकट समझता है, वह किसी की निन्दा-स्तुति में नहीं पड़ता। यही वह परमेश्वर है ॥५॥

य: पूर्वं तपसो जातमद्भ्य: पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥एतद्वै तत् ॥६
या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यजायत ॥एतद्वै तत्॥७
अरण्योर्निहितो जात वेदा गर्भ सुभृतो गर्भिणीभि: ।
दिवे दिव ईड्यो जागृतवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि: ।
एतद्वैतत् ॥८
यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवा: सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥एतद्वै तत्॥९
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०

यही वह परमेश्वर है जो जल से पूर्व उत्पन्न हुआ था। सर्व प्रथम हृदय गह्वर में प्रविष्ट होकर प्राणियों में निवास करने वाले

परमेश्वर को जो देखता है (वही ज्ञानी है) ॥६॥ प्राणों के सहित जो देवी अदिति प्रकट होती है, जो प्राणियों के साथ प्रकट हुई है, वही हृदय गुहा में जाकर विराजती है, यही वह परमेश्वर है ॥७॥ गर्भवती नारी द्वारा धारण किये गर्भ के समान दो अरणियों में जो जातवेदा अग्नि स्थिर है और जो जागरित होकर हवन-सामग्रियों से सम्पन्न होकर मनुष्यों द्वारा स्तुति के योग्य होता है। यही है वह परमेश्वर ॥८॥ जहाँ से सूर्य उदित होते और अस्त भी हो जाते हैं, उसी में सब देवता निहित हैं। यही वह परमेश्वर है जिसे कोई भी लाँघने में समर्थ नहीं है ॥६॥ जो मनुष्य इहलोक में परमेश्वर को अनेक रूपों वाला देखता है, वह मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है क्योंकि जो परमेश्वर यहाँ है, वही वहाँ भी है अथवा जो परलोक में है वही इहलोक में स्थित है ॥१०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥१२
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत्॥१३
यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥१४
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५

यह सत्य तत्व मन के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इस लोक में अनेकत्व किंचित् नहीं है। जो मनुष्य अनेकत्व देखता है वह मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है। ११॥ यही वह परमेश्वर है जिसे जान लेने पर मनुष्य किसी की निन्दा नहीं करता। वह परम पुरुष

अंगुष्ठ मात्र देह गह्वर में स्थित होकर भूत भविष्यत् आदि कालों में सब पर शासन करता है ।।१२।। यही वह परमेश्वर है जो आज है और कल भी रहेगा । यह अंगुष्ठ प्रमाण परिमाण वाला पुरुष निर्धूम ज्योति के समान है एवं भूत भविष्यत् आदि कालों में सब पर शासन करता है ।।१३।। जैसे दुर्ग पर हुई वृष्टि का जल पर्वत के विभिन्न निम्न स्थलों में जाता है, वैसे ही विभिन्न धर्म वाले जीवों को परमेश्वर से भिन्न देखने वाला उन्हीं के पीछे दौड़ता है ।।१४।। हे नचिकेता ! जैसे वृष्टि का शुद्ध जल अन्य जलों में मिलकर वैसा ही हो जाता है, वैसे ही परमेश्वर के जानने वाले सन्त जन का आत्मा परमेश्वर हो जाता है ।।१६।।

।। प्रथम वल्ली समाप्त ।।

द्वितीय वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ।।१

हँ्सः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षस-
द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।।२

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ।।३

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ।।४

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।५

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।।६

चैतन्य स्वरूप अजन्मा ब्रह्म का नगर ग्यारह द्वारों से युक्त है । उस परमेश्वर की उपासना करके जो विज्ञ कभी शोक नहीं करता, वह

जीवन-मरण से विमुक्त हो जाता है। यही है वह परमेश्वर ॥१॥ अपने परमधाम में स्थित ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान है, वही अन्तरिक्ष स्थित वसु है, वही घरों में पहुँचने वाला अतिथि है, वही आहुति देने वाला 'होता' है, वही मनुष्यों में, देवताओं में, सत्य और आकाश में भी निवास करता है। वही जलों में, पृथ्वी में, पर्वतों में और श्रेष्ठ कर्मों में प्रकट होने वाला है, वही महान् सत्य है ॥२॥ जो प्राण को ऊपर उठाता और अपान को नीचे करता है, उस देह में निवास करने वाले भजनीय परमेश्वर की उपासना सभी देवगण करते हैं ॥३॥ इस देह में वर्तमान, एक देह से दूसरे देह को प्राप्त होने वाले आत्मा के देह त्याग करने पर यहाँ क्या अवशिष्ट रहता है ? वह परमेश्वर यही है ॥२४॥ हे नचिकेता ! कोई भी देहधारी प्राण या अपान से ही जीवित नहीं रहना, किन्तु जिसमें यह दोनों आश्रित हैं ऐसे अन्य के द्वारा ही जीवित रहता है। वह गूढ़ एवं सनातन ब्रह्म और आत्मा मरने पर जैसे रहते हैं अब तुम्हें वह बात कहता हूँ ॥५-६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७

ए एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
एतद वै तत् ॥८

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०

अपने-अपने कर्मों के अनुसार, जिसने श्रवण द्वारा जैसा भाव प्राप्त किया, उसके अनुसार कितने ही जीवात्मा देह धारणार्थ विभिन्न योनियों को प्राप्त होते हैं और अनेकों जीवात्मा अपने कर्मानुसार वृक्ष, लता, पर्वत आदि स्थावरत्व को प्राप्त होते हैं ।।७।। यही वह परमेश्वर है जिसे कोई लाँघ नहीं सकता। वही विभिन्न भोगों का निर्माता परमेश्वर सोने पर भी जागता रहता है। वही शुद्ध स्वरूप, परब्रह्म और अविनाशी कहा जाता है, उसी में सम्पूर्ण आश्रित हैं ।।८।। सर्व प्राणियों के अन्तरात्मा रूप परमेश्वर एक होते हुये भी विभिन्न देहधारियों में प्रविष्ट होकर उन्हीं के रूप वाला बना हुआ है। वह भीतर रहने वाला ईश्वर बाहर भी है। जैसे सम्पूर्ण विश्व में स्थित एक अग्नि विभिन्न रूप वाला हो जाता है ।।९।। जैसे वायु एक होते हुए भी विभिन्न रूप वाला हो रहा है, वैसे ही सब प्राणियों में निवास करने वाला परमेश्वर एक होते हुये भी देहधारियों के अनुरूप रूप वाला रहता है। वह उनके बाहर भी स्थित है ।।१०।।

सूर्यो यथा सलोकस्य चक्षुर्न-
न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।११

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।१२

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।१३

तदेतदिति मन्नतोऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५

जैसे सब लोकों का चक्षु रूप सूर्य प्राणियों के नेत्रों से उत्पन्न बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सब प्राणियों में निवास करने वाला परमेश्वर देहधारियों के दुःख क्लेशादि में लिप्त नहीं होता। वह सबके भीतर रहता हुआ भी बाहर स्थित है ॥११.। सब देहधारियों में आत्मा रूप से निवास करने वाला तथा सबको नियन्त्रण में रखने वाला परमेश्वर एक रूप वाला होकर भी अनेक रूप धारण कर लेता है। जो विद्वान् अपने भीतर स्थित उस ब्रह्म के निरन्तर दर्शन करते रहते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं होती ॥१२॥ जो ब्रह्म नित्यों में भी नित्य, चैतन्यों में भी चैतन्य, तथा एक होते हुए भी अनेक देहधारियों के भोगों का विधान करता है, उस अपने देह में स्थित ब्रह्म को मेधावी जन निरन्तर देखते रहते हैं, वही सर्व शान्ति को पाते हैं, अन्य व्यक्ति उसे नहीं पा सकते ॥१३॥ वह अनिर्वचनीय परमानन्द यह ब्रह्म ही है, ऐसा माना जाता है। उसे किस प्रकार समझा जाय ? क्या वह प्रकट होता है अथवा अनुभव से जाना जाता है ? ॥१४॥ वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और यह विद्युत आदि प्रकाशित नहीं होते, फिर यह अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकता है ? उस ब्रह्म के प्रकाशित होने पर ही सब प्रकाशित होते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व ही उससे प्रकाशित है ॥१५॥ द्वितीय वल्ली समाप्त ।

तृतीय वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत्॥१
यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥२
भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥३
इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥४
यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्म-
लोके॥५

यह वही परमेश्वर है, जिसके सब लोक आश्रित हैं। उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। वही ब्रह्म और वही अमृत कहा जाता है। ऊपर की ओर जड़ और नीचे की ओर शाखा वाला यह वह प्राचीन पीपल-वृक्ष है जिसका आश्रय वही शुद्ध तत्वात्मक परमात्मा है॥१॥ उसी ब्रह्म से प्रकट यह सम्पूर्ण विश्व है जो उसी प्राण रूप ईश्वर में गतिमान है। उद्यत वज्र के समान विकराल शक्ति वाले उस ईश्वर को जो मानते हैं, अमरत्व को प्राप्त होते हैं॥२॥ इसी ईश्वर के भय से अग्नि और सूर्य तपते हैं और इसी भय से इन्द्र, वायु और यमराज अपने-अपने कार्यों में लगे हुए हैं॥३॥ शरीर के नष्ट होने से पहिले ही यदि परमेश्वर का बोध प्राप्त कर लिया तो ठीक अन्यथा अनेक युगों तक विभिन्न योनियों में पड़ना होता है॥४॥ दर्पण के समान ही शुद्ध अन्तःकरण है, स्वप्न के समान ही पितर लोक में ईश्वर

दिखाई देता है। जल के समान गंधर्व लोक में ईश्वर के दर्शन से होते हैं और ब्रह्मलोक में तो छाया और धूप के समान ही सब पृथक दृष्टिगोचर होता है ।।५।।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथुगुत्पद्य मानांयां मत्वा धीरो न शोचति ।।६
इन्द्रियेभ्य: परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम् ।
सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।।७
अव्यक्तात्तु पर: पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्व: मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ।।८
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुसा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिलृप्तो
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।९
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।१०

विभिन्न रूपों वाली इन्द्रियों की जो अलग-अलग स्थिति है और जो उदय तथा अस्त हो जाने के स्वभाव वाली है, उस बात को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कभी शोक-संतप्त नहीं होता ।।६।। इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से जीवात्मा और जीवात्मा की अपेक्षा अव्यक्त शक्ति श्रेष्ठ है ।।७।। अव्यक्त शक्ति से व्यापक, निराकार परमेश्वर श्रेष्ठ है, जिसे जानने वाला प्राणी जीवन्मुक्त होकर अमृतत्व को प्राप्त करता है ।।८।। इस ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप सामने नहीं आता, नेत्रों द्वारा कोई मनुष्य उसे नहीं देख सकता। वह तो मानसिक चेतन से पवित्र हृदय और विवेक बुद्धि द्वारा ही दिखाई देता है। जो इसके ज्ञाता हैं, वे अमर हो जाते हैं ।।९।। मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियां जब नियन्त्रित हो जाती और बुद्धि भी स्थिर

हो जाती है, तब उस अवस्था को ही परमगति कहा जाता है ॥१०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२
अस्मीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति ॥१३
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समुश्नते ॥१४
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धनुशासनम् ॥१५

इन्द्रियों की स्थिरता को ही योग माना गया है, तब प्रमाद नहीं रहता । परन्तु, योग उदय और अस्त होने के स्वभाव वाला है अभ्यास छोड़ने पर यह अस्त हो जाता है ॥११॥ 'ब्रह्म अवश्य है' ऐसा कहने मात्र से ही ब्रह्म की उपलब्धि कैसे हो सकती है? क्योंकि वह वाणी, मन अथवा नेत्रों के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥१२॥ "ब्रह्म अवश्य है" इस निश्चय के साथ उसे स्वीकार करे, फिर तत्व-भाव द्वारा उसे प्राप्त करे । इस प्रकार परमेश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले उपासक के निकट परमेश्वर का तत्व-भाव प्रकट हो जाता है ॥ ३॥ जब इसके हृदय में उत्पन्न हुई कामनाओं का नाश होता है, तब मनुष्य ब्रह्म का यहीं साक्षात् कर लेता और अमरत्व को प्राप्त होता है ॥१४॥ जब हृदय की सभी गाँठें खुल जाती हैं, तब मनुष्य अपने इसी देह से अमरत्व का अनुभव करने लगता है यही निश्चित् विधान है ॥१५॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।।१६
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्ठः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजादिवेषीकां धैर्येण
त विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।।१७
मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव १८

हृदय में एक सौ एक नाड़ियां हैं, उनमें से एक कपाल की ओर निकली है । साधक उसके ऊर्ध्व लोक में पहुँच कर अमृतत्व प्राप्त कराता है । अन्य एक सौ नाड़ियां मरने के पश्चात् विभिन्न योनियां प्राप्त करने वाली हैं ।।१६।। सर्वान्तरात्मा, अंगुष्ठ, प्रमाण, परमेश्वर सदा मनुष्यों के हृदय में निवास करता है, उसे जैसे मूंज की सींक पृथक की जाती है वैसे अपने शरीर से पृथक करे और उसी को अमरत्वयुक्त समझें । वही शुद्ध अमृत स्वरूप है ।।१७।। नचिकेता इस उपदेश के श्रवण से यमराज द्वारा कही गई इस विद्या को एवं योग विधियों को जानकर मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म रूप हो गया । अन्य जो कोई इस आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करेगा, वह भी बन्धन से मुक्त हो जायगा ।।१८।।

।। तृतीय वल्ली समाप्त ।।

कठोपनिषत् समाप्त

(४) प्रश्नोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति

शान्तिपाठ—हम कानों से कल्याणमय वचन सुनें, नेत्र से कल्याणमय दृश्य देखें, दृढ़ अङ्गों वाले शरीरों से ईश्वर की स्तुति करते हुए हम जो आयु ईश्वर-हित में लगे उसे उसी प्रकार व्यतीत करें, इन्द्र हमारे लिए कल्याण देने वाले हों, पूषा हमारा कल्याण करें, अरिष्टों के नाशक गरुड़ हमारे लिए कल्याणकारी हों और वृहस्पति भी हमारे कल्याण को पुष्ट करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

प्रथम प्रश्न

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्कामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्ययन स्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ।।१

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नानपृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ।।२

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ।
भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजायन्त इतिः ।।३

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥४

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयि ॥५

भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, राजा शिवि के सुपुत्र सत्यकाम, गर्ग गोत्रोत्पन्न सौर्यायणी, आश्वालायन, भार्गव और कबन्धी यह छहों ऋषि ब्रह्मनिष्ठावान थे। वे सभी परमेश्वर की खोज करते हुए ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा में समिधायें लेकर पिप्पलाद ऋषि के निकट गये ॥१॥ उन ऋषियों से महर्षि पिप्पलाद कहने लगे कि आप लोग श्रद्धा सहित ब्रह्मचर्यपूर्वक, तप करते हुये एक वर्ष तक रहो, इसके पश्चात् अपनी जिज्ञासानुसार प्रश्न करना। यदि मैं उन बातों को जानता हूँगा तो तुम्हें अवश्य बताऊँगा ॥२॥ (महर्षि पिप्पलाद की आज्ञा पालन के पश्चात्) कबन्धी ने उनके समीप जाकर पूछा 'भगवन् ! यह प्रजा किस कारण से विभिन्न रूपों में प्रकट होती है ? ॥३॥ महर्षि ने कहा— प्रजोत्पत्ति की कामना वाले प्रजापति ने तप के द्वारा एक रयि और दूसरा प्राण उत्पन्न किया और उसने विचार किया कि यह दोनों विभिन्न प्रजाओं की उत्पत्ति करेंगे ॥ ४ ॥ इसके अनुसार सूर्य ही प्राण और चन्द्रमा ही रयि है। विश्व में मूर्त और अमूर्त जो कुछ है वह सब रयि है अतः मूर्त मात्र को ही रयि समझना चाहिये ॥५॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥६

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते । तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥७

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥६

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥१०

रात्रि के अवसान काल में उदित होने वाला सूर्य पहिले प्राण को अपनी रश्मियों में धारण करता और फिर प्राची में प्रकट हो जाता है । वही सूर्य दक्षिण को, पश्चिम को, उत्तर को, अधः लोकों को ऊर्ध्व लोकों को तथा दिशाओं के मध्य भागों को प्रकाशित करता है और उससे वह सबके प्राणों को अपनी रश्मियों में धारण करता है ॥६॥ ऐसा वह सूर्य ही उदित होता है जो वैश्वानर अग्नि रूप तथा विश्वरूप एवं प्राणरूप है । यही बात ऋचा द्वारा प्रतिपादित की गई है ।।७॥ विश्वरूप सब के आधार, सर्वज्ञ, तपस्वी, रश्मिवन्त सूर्य को अद्वितीय कहते हैं । वह सहस्र रश्मि सूर्य सैकड़ों प्रकार से स्थित रहता हुआ सब प्राणियों के प्राणरूप होकर उदय को प्राप्त होता है ॥८॥ संवत्सर ही प्रजापति है, वह दो अयन वाला है । एक अयन दक्षिण और दूसरा उत्तर है । वहां जो लोग अभीष्ट पूर्ति को ही कर्म मानकर उपासना करते हैं, वे चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं । वही जब लौट कर आते हैं तब संतान की इच्छा वाले वे ऋषि दक्षिण

में जाते हैं। यही पितृयान नामक मार्ग है। यही वही 'रयि' समझनी चाहिये ।।९।। ऐसे पुरुष तपयुक्त ब्रह्मचर्य सहित श्रद्धावान होकर आध्यात्मिक विद्या से परमेश्वर को खोज कर उत्तरायण से सूर्यलोक पाते हैं। वह सूर्य ही प्राणों के घर हैं यही अविनाशी और भय रहित हैं, इनकी यही परम गति है। यह संसार में पुनरावर्तन नहीं करते। इसे आगे का श्लोक स्पष्ट करता है ।।१०।।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ।।११

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्लः इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥१२

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या सयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या सयुज्यन्ते ।।१३।।

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ।।१४

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ।।१५

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ।।१६

सबके जानने वाला ब्रह्म सात पहिये और छः अरों वाले रथ में स्थित है, वह सब का पिता पांच पाँव और बारह आकृतियों वाला है, वह स्वर्ग लोक से भी ऊँचे स्थान में स्थित और जल का उत्पादक कहा जाता है ।।११।। ऋषिगण सभी यज्ञादि निष्काम भाव से युक्त

शुभ कर्म शुक्ल पक्ष में किया करते हैं, क्योंकि महीना रूप प्रजापति के दो अङ्ग हैं, जिनमें शुक्ल पक्ष ही प्राण है। दूसरा कृष्णपक्ष रयि है, जिसमें साँसारिक भोगों से सम्बन्धित कर्म किये जाते हैं ॥१२॥ दिवस रात्रि मिलकर प्रजापति रूप हैं। दिन उसका प्राण और रात्रि रयि है। इसलिए दिन में विहार करने वाले पुरुष अपने प्राणों को क्षीण करते हैं। इसके विपरीत रात्रि-विहार करने वालों को उनका कर्म नहीं व्यापता और वे ब्रह्मचारी ही माने जाते हैं ॥१३॥ अन्न प्रजापति स्वरूप है. उसी से वीर्य की उत्पत्ति है और यह सम्पूर्ण प्राणी वीर्य के द्वारा ही जन्म लेते हैं ॥१४॥ प्राजापत्य व्रत के अनुष्ठाता पुरुष जोड़े को जन्म देते हैं। जो व्यक्ति तपस्वी और ब्रह्मचर्य युक्त हैं तथा सत्य का जिसमें निवास है वे ही ब्रह्मलोक-प्राप्ति के अधिकारी होते हैं ॥१५॥ जिन पुरुषों में कुटिलता, मिथ्यात्व और माया आदि दुर्गणों का समावेश नहीं है, वही ब्रह्मलोक, प्राप्ति के अधिकारी हैं ॥१६॥

द्वितीय प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भि पप्रच्छ। भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥१॥

तस्मै स स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेत द्वाणमवष्टभ्य विधारनामः ॥२

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्च-धाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामाति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥३

सोऽभियानादूर्ध्वं मुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेरे सवं

एवोत्क्रामन्तो तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्तो तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ।।४

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ।।५

फिर विदर्भदेशीय भार्गव ऋषि ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया कि भगवन् ! प्रजा को धारण करने वाले देवता कितने हैं ? उनसे इसे प्रकाशित करने वाले देवता कौन-से हैं, उन सब में बड़ा देवता कौन है ? ।।१।। महर्षि ने उससे कहा—यह आकाश महान् देवता है। वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्र यह सब भी देवता ही है। यह सब प्रकट होकर कहने लगे 'इस देह को हमने ही धारण किया है, इसलिए हम इसके आश्रयदाता हैं' ।। प्राण उन सब से बड़ा था, उसने कहा—मोह को छोड़ो, क्योंकि मैं ही अपने पाँच रूप बनाकर देह को आश्रय देता हुआ धारण करता हूँ, परन्तु उन देवताओं को उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ ।।३।। जैसे मधुमक्खियों के राजा के छत्ते से बाहर निकलने पर सभी मधुमक्खियाँ उसके साथ बाहर निकलती और राजा के ठहरने पर सभी ठहर जाती हैं, वैसे ही प्राण भी अभिमान करता हुआ ऊपर की ओर उठा और बाहर निकलने लगा। उसके साथ ही वाणी, मन, नेत्र आदि भी शरीर से बाहर निकलने लगे और जब वह ठहर गया तब सभी ठहर गये, इससे प्राण की वरिष्ठता स्पष्ट हो गई और इसका अनुभव हो जाने पर वाणी आदि देवताओं ने प्राण की स्तुति की ।।४।। प्राण अग्नि से ही तपता है। यही सूर्य, मेघ, इन्द्र और वायु है, यही पृथिवी एवं रयि है। सत, असत् तथा अमृतत्व युक्त भी यह प्राण ही है ।।५।

अरा इव रथनाभो प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण
प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७

देवानामसि वह्निनतमः पितृणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसादसि ॥८

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्ष चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०

रथ-चक्र की नाभि लगे अरों के समान ऋक् की ऋचायें यजु, साम के मन्त्र, यज्ञ तथा क्षत्रिय ब्राह्मण आदि सभी इस प्राण में निहित हैं ॥६॥ प्रजापति तू ही है, गर्भ में तू ही विचरण करता है और तू ही माता-पिता के समान आकृति वाला होकर उत्पन्न होता है। हे प्राण! यह सब देहधारी तुझे बलि देते हैं। तू देहगत अन्य प्राणों के साथ प्रतिष्ठित है ॥७॥ देवताओं के लिये अग्नि श्रेष्ठ है, पितरों के लिए स्वधा श्रेष्ठ है। यह सत्य बात अथर्वा और आंगिरस ऋषियों द्वारा प्रमाणित है ॥८॥ हे प्राण! तू अपने तेज से सम्पन्न सभी ज्योतियों का अधीश्वर सूर्य है। तू ही अन्तरिक्ष में विचरण करता है। तू ही इन्द्र और रुद्र रूप से सब की रक्षा करने वाला है ॥९। हे प्राण! जब तू जल-वृष्टि करता है, तब तेरी यह प्रजा अन्न उत्पन्न होने की आशा में आनन्दित हो जाती है ॥१०॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥११

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति १३

हे प्राण ! तू व्रात्य होकर भी ऋषि है और इस विश्व का स्वामी है। हम तेरे लिये भोजन देते हैं और तू उसका भोक्ता है। तू ही हमारा पिता है यथा तू वायु रूप से व्योम में विचरण करने वाला मातरिश्वा है ॥११॥ जो तेरा रूप वाणी में निहित है तथा जो श्रोत्रों, नेत्रों और मन में निहित है, उसे कल्याणकारी बना। तू हमारे देह से उठ कर बाहर जाने की चेष्टा न कर ॥१२॥ यह विश्व अथवा स्वर्ग में स्थित जो कुछ है वह सब प्राण के ही आश्रित है। अतः हे प्राण ! तू माता-पिता के समान हमारा रक्षक बन, हमें धन और बुद्धि दे ॥१३।

॥ द्वितीय प्रश्न समाप्त ॥

तृतीय प्रश्न

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥१

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥२

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे ॥३

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान्पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते ॥४

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येषद्ध त्तमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५

अब कौसल देश के ऋषि आश्वलायन ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया—भगवन् ! इस प्राण की उत्पत्ति किसके द्वारा हुई ? यह देह में किस प्रकार प्रतिष्ठित होता है ? यह अपने को किस प्रकार विभाजित कर शरीर में रहता है ? यह किस प्रकार बाह्य संसार को धारण करता है, किस प्रकार मन, इन्द्रिय आदि को धारणा करता है, और यह किस प्रकार शरीर से उत्क्रमण करता है ? ॥१॥ महर्षि पिप्पलाद बोले—तेरे प्रश्न बड़े कठिन हैं, तू वेदों का ज्ञाता है, मैं तेरे प्रति कहता हूँ ॥२॥ जैसे देहधारी के साथ छाया रहती है, वैसे परमेश्वर से उत्पन्न होने वाला यह प्राण उसी के आश्रित है और देह में मन के सङ्कल्प के अनुसार प्रविष्ट होता है ॥३॥ जैसे सम्राट् स्थान-स्थान पर अपने कर्मचारियों को नियुक्त करता है, वैसे ही प्राण अन्य प्राणों को पृथक्-पृथक् नियुक्त करता है ॥४॥ प्राण स्वयं तो मुख और नासिका द्वारा चक्षु और श्रोत में प्रतिष्ठित होता है। मध्य भाग में यह समान वायु के नाम से स्थित होता है। यही समान वायु अन्न को विभिन्न अङ्गों में पहुँचाता है और उससे ही यह ज्वालायें प्रकट होती हैं। यह प्राण गुद भाग एवं उपस्थ में अपान वायु को नियुक्त करता है ॥५॥

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वसिप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६

अथैकयोर्ध्व उदान पुण्येनः पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७

आदित्यो ह वै वाह्यः प्राण उदत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राण-

मनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमष्टभ्यान्तरा यदाऽकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥८

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ९

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृता भवति तदेष श्लोकः ॥११

उत्पत्तिमायतिं स्थानं
विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृत-
मश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥१२

यह आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित है। इस हृदय में सौ नाड़ियाँ स्थित हैं, प्रत्येक नाड़ी में सौ शाखायें हैं, इन प्रत्येक शाखाओं में भी बहत्तर सहस्र प्रतिशाखा नाड़ियाँ होती हैं, इन सब में व्यान वायु भ्रमण करता रहता है ॥६॥ इनसे पृथक् एक नाड़ी और है (इसे 'सुषुम्ना' कहते हैं) यह उदान वायु को ऊपर की ओर विचरण कराती है। इसी के द्वारा मनुष्य पुण्यकर्म में लगना और तब यही उसे पुण्यलोक की प्राप्ति कराती है। यदि मनुष्य पाप कर्म करता है तो यही अधम योनि प्राप्त कराती है। यह पाप या पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा प्राणी को मृत्युलोक में स्थित करती है ॥७॥ सूर्य ही बाहरी प्राण है, यही चक्षु-सम्बन्धी प्राण पर अनुग्रह करता हुआ प्रकट होता है। भू-देवतारूप अपान मनुष्य के अपान को स्थिर करता है। यह आकाश समान वायु है तथा व्यान भी आकाशस्थ वायु का ही एक बाह्य रूप है ॥ ८ ॥ उदान तेज ही है। जिसके देह का तेज शीतल हो जाता है,

उसकी इन्द्रियाँ मन के साथ विलीन हो जाती हैं और वह अन्य देह को प्राप्त होता है ॥९॥ आत्मा का जैसा मानसिक संकल्प होता है वैसे ही संकल्प के सहित वह प्राणयुक्त होता है, वह प्राण तेज सम्पन्न होता हुआ जीवात्मा के सङ्कल्प के अनुसार उसे विभिन्न योनियों की प्राप्ति कराता है ॥१०॥ जो ज्ञानी इस रहस्य को जानता है उसका वंश कभी नष्ट नहीं होता और वह अमृतत्व को प्राप्त होता है, आगे का श्लोक इस विषय का प्रतिपादक है ॥११॥ जो मनुष्य प्राण की संभूति, स्थिति और व्यापकता को जान लेता है तथा उसके आध्यात्मिक पंच भेदों का ज्ञान प्राप्त करता है उसे अवश्य ही अमरत्व की अनुभूति होती है ॥१२॥ ॥ तृतीय प्रश्न समाप्त ॥

चतुर्थ प्रश्न

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रष्ठिता भवन्तीति ॥1

तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥२

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः।

मनो ह वाव यजमानः इष्टफलमेवोदानः । स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ।।४

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद् दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति । देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वः पश्यति सर्वः पश्यति ।।५

फिर गर्गवंशीव सौर्यायिणी ऋषि ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया—भगवन् ! मनुष्य देह में स्थित कौन-कौन देवता सोते और कौन जागते हैं। कौन स्वप्न देखते हैं ? सुख किसे होता है और सब देवता किस में प्रतिष्ठित रहते हैं ? ।।१।। महर्षि बोले—हे गार्ग्य ! जैसे अस्ताचलगामी सूर्य की सभी रश्मियां सिमट कर एक सूर्य में ही लीन हो जाती हैं और सूर्योदय होने पर वे सर्वत्र फैलती हैं, वैसे ही सब इन्द्रियाँ मन रूपी परमदेव में निहित हो जाती हैं। तब यह देहधारी न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न स्वाद लेता है। बोलना, स्पर्श करना, ग्रहण करना, विहार, मल-मूत्र त्याग, विचरण आदि सब कर्म रुक जाते हैं, उस स्थिति को ही सो जाना कहते हैं ।।२।। इस देह नगरी में पंचाग्नियों का निवास है, यह प्राण रूप में जागरित रहती हैं। इनमें अपान गार्हपत्य अग्नि है, व्यान अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि है और गार्हपत्य से उठायी गयी आहवनीय अग्नि ही प्राण है ।।३।। देहधारियों में जो ऊर्ध्वश्वास और अधोश्वास हैं, वे दोनों आहुतियों के समान है। इन्हें समभाव से पहुँचाने के कारण समान होता हुआ यह वायु ऋत्विक् है, मन यजमान और इच्छित फल उदान है, यही मन को हृदय-गह्वर रूप ब्रह्म में स्थित करता है ।।४।। यह आत्मा स्वप्न में भी अपनी अपनी महिमा का अनुभव करता है। देखे हुए को बारम्बर देखता है, सुनी हुई बातों को ही बारम्बार सुनता है, विभिन्न देशों और

दिशाओं में अनुभव किये हुए विषयों का फिर-फिर चिंतन करता है, सुने, अनसुने, देखे, न देखे, अनुभूत और अनुभव से परे, स्थित एवं स्थिति से परे, ऐसे विषयों को भी स्वयं देखता है ॥५॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः
प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

तेज से परिपूर्ण मन वाला जीवात्मा स्वप्नों को नहीं देखता और उस समय वह सुषुप्ति सुख का पूर्ण अनुभव करता है ॥६॥ हे सोम्य ! जैसे अनेक पक्षी एक वृक्ष पर निवा । करते हैं, वैसे ही यह सभी तत्व परमेश्वर के आश्रित होते हैं ॥७॥ पृथिवी और उसकी तन्मात्रा, जल और रसतन्मात्रा, तेज और तेजोमात्रा, वायु और वायु-मात्रा, आकाश और शब्द तन्मात्रा, नेत्र और दर्शनीय वस्तुयें, कान और सुनने वाली वस्तुयें, घ्राण और घ्राणव्य, रस और रसना के विषय, त्वचा और स्पर्श योग्य वस्तु, वाणी और शब्द, हाथ और पकड़ने योग्य वस्तु, उपस्थ और विषय, गुदा और मल, चरण और गन्तव्य, स्थान, मन और मन्तव्य, बुद्धि और ज्ञातव्य, अहंकार और उसका विषय, चित्त और चिन्तनीय वस्तु, तेज और उसका विषय, प्राण और आश्रित पदार्थ यह सभी परमेश्वर के आश्रित हैं ॥८॥ यह देखने, स्पर्श करने, सुनने, सूँघने और स्वाद लेने वाला, मननशील, ज्ञाता, कर्त्ता एवं विज्ञानात्मा पुरुष भी अविनाशी परमेश्वर के आश्रित है ॥९॥ जो उस छाया-शून्य, विदेह, अलोहित, उज्ज्वल अविनाशी परमेश्वर को जानता है, वह उसी को प्राप्त होता है। हे सोम्य ! ऐसा मनुष्य सर्वज्ञाता और सर्वरूप होता है, आगे का श्लोक इसका प्रतिपादक है ॥१०॥ हे सोम्य ! जो मनुष्य उस नविनाशी परमेश्वर को जान लेता है वह सर्वज्ञ होता है, परमेश्वर में लीन हो जाता है। उसी परमेश्वर में सर्व प्राण, पञ्चभूत, सभी इन्द्रियां और विज्ञानात्मा आश्रित हैं ॥ १ ॥

पंचम प्रश्न

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तत्भग-वन्मनुष्येषु प्र यणान्तमोङ्कारमभिध्यायोत। कतमं वाव क तोन लोकं जयतीति ॥१

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्तकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥२

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोक मुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥५

तिस्रो मात्राः मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६
ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यतच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥७

इसके पश्चात् शिवि-पुत्र सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया – भगवन् जो मनुष्य शरीरान्त होने तक ओंकार का भले प्रकार ध्यान करता है, वह उसके द्वारा किस लोक पर विजय प्राप्त करता है, यह बताइये? ॥१॥ महर्षि बोले – हे सत्यकाम! यह ओंकार परब्रह्म है और यही अपरब्रह्म भी है, ऐसा जानने वाला मनुष्य इस एक प्रयास से ही ब्रह्म के एक रूप को पा लेता है ॥२॥ यदि वह एक

मात्रा वाले ओंकार का ही ध्यान करे तो वह उसके द्वारा शीघ्र ही पृथिवी पर प्रकट हो जाता है। ऋग्वेद की ऋचायें उसे मनुष्य देह की प्राप्ति कराती हैं। वह ब्रह्मचर्य से युक्त एवं श्रद्धान्वित होकर महिमा-युक्त होता है ॥३॥ यदि दो मात्राओं वाले ओंकार का ध्यान करे तो चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। यजुर्वेद के मन्त्र उसे वहाँ ले जाते हैं। वह वहाँ का सुख-भोग कर फिर इस मनुष्य लोक में आ जाता है ॥४॥ त्रिमात्रिक ओंकार के परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने वाला पुरुष तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त होता है। सर्प केंचुली से छूटने के समान वह पापों से छूटकर सामवेद द्वारा ब्रह्मलोक में पहुँचाया जाता है। वह इन प्राणियों से अत्यन्त श्रेष्ठ परमेश्वर से साक्षात्कार करता है। आगे के श्लोक इसका प्रतिपादन करते हैं ॥५॥ ओंकार की तीन मात्रायें परस्पर सम्बद्ध रखती हुई प्रयुक्त होने पर मनुष्य दृढ़ सङ्कल्प होता हुआ परमेश्वर का ज्ञाता बन जाता है ॥६॥ एक मात्रिक उपासना साधक को ऋचाओं द्वारा मृत्युलोक प्राप्त कराती है, द्विमात्रिक साधना यजुर्मन्त्रों द्वारा चन्द्रलोक में पहुँचाती है और ओंकार का उपासक साम-श्रुतियों द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। उस ब्रह्मलोक को केवल ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। बुद्धिमान साधक ओंकार के ध्यान द्वारा ही परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है। वह परमेश्वर अजर, अमर, निर्भीक, शान्त एव सर्वश्रेष्ठ है ॥७॥ ॥ पंचम प्रश्न समाप्त ॥

षष्ठ प्रश्न

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ—भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ। तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥१

तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥२

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥३

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥४

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥५

उसके पश्चात् भरद्वाज सुकेशा ने महर्षि से प्रश्न किया-भगवन् ! मैं जो प्रश्न कर रहा हूँ वह कौशल के राजकुमार हिरण्यनाभ ने मुझसे किया था कि 'क्या' तुम षोडशकला युक्त पुरुष को जानते हो ? मैंने कहा 'नहीं जानता।' यदि जानता होता तो क्यों न बताता ? जो मनुष्य मिथ्या भाषण करता है वह समूल शुष्क हो जाता है, इसलिए मैं मिथ्या नहीं कहता।' राजकुमार रथ पर चढ़कर चला गया। वही प्रश्न मेरा है कि वह षोडशकला युक्त पुरुष कहाँ है ? ॥१॥ महर्षि ने उत्तर दिया—हे सोम्य ! जिनमें षोडश कलायें उत्पन्न होती हैं, वह पुरुष इस देह के भीतर ही विराजमान है ॥२॥ उस पुरुष ने सोचा कि किसके निकल जाने पर मैं उत्क्रान्त हो जाऊँगा तथा किससे प्रतिष्ठित रहूँगा ? ॥३॥ उसने प्रथम प्राण को रचा फिर श्रद्धा को। इसके बाद आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, मन, इन्द्रियाँ और अन्न की रचना हुई। अन्न से वीर्य बना, फिर तप, मन्त्र, कर्म, लोक और

नाम का विधान हुआ ॥४॥ जैसे यह नदियाँ समुद्र की ओर प्रवाहित होती हैं और समुद्र में जाकर मिल जाती हैं और उनके नाम तथा रूप भी मिट जाते हैं, वैसे ही परमेश्वर की षोडश कलायें परमेश्वर को प्राप्त होकर उन्हीं में मिल जाती हैं, उन कलाओं के नाम रूप आदि भी मिट जाते हैं, फिर भी वह परमेश्वर कला रहित एवं अविनाशी है ॥५॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परमस्तीति ॥७
ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारम् तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥८

जैसे अरे रथचक्र की नाभि के आश्रित होते हैं, वैसे ही कलाओं के आश्रय रूप परमेश्वर को जानो । ऐसे करने से मृत्यु तुम्हें व्यथित नहीं करेगी ॥६॥ महर्षि ने सब ऋषियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि उस परब्रह्म को मैं इसी प्रकार जानता हूँ कि उससे अधिक कुछ भी नहीं है ॥७॥ तब उन ऋषियों ने महर्षि का पूजन किया और बोले कि आपने हमें अविद्या के पार कर दिया है, इसलिए आप ही हमारे पिता हैं । आप महर्षि को हमारा नमस्कार है ॥८॥

॥ षष्ठ प्रश्न समाप्त ॥

प्रश्नोपनिषत् समाप्त

———

21/06/95

मुण्डकोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवः भद्रं पश्येमाभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरगैस्तुष्टुवां सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पर्द धातु ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति

"हे देवगण ! हम कानों से कल्याणमय वचन सुनें, नेत्र से कल्याणमय दृश्य देखें, दृढ़ अङ्गों वाले शरीरों से ईश्वर की स्तुति करते हुए हम जो आयु ईश्वर-हित में लगे उसे उसी प्रकार व्यतीत करें, इन्द्र हमारे लिए कल्याण देने वाले हों, पूषा हमारा कल्याण करें, अरिष्टों के नाशक गरुड़ हमारे लिए कल्याणकारी हों और बृहस्पति भी हमारे कल्याण को पुष्ट करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः । "

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथम सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्टपुत्राय प्राह ।।१

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-
थर्वा तां पुरोवाचङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
भारद्वाजाय सत्यवहाय
प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ।।२

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५

ब्रह्मा सम्पूर्ण विश्व के सृजन करने वाले हैं, वे देवताओं में सर्व प्रथम उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को सब विद्याओं की आश्रयदात्री ब्रह्मविद्या बताई ॥१॥ जिस ब्रह्मविद्या का ज्ञान ब्रह्मा ने अथर्वा को कराया, वही ब्रह्मविद्या अथर्वा ने अङ्गी ऋषि से कही। अङ्गीऋषि ने भरद्वाजवंशीय सत्यवह को ब्रह्मज्ञान दिया। सत्यवह ने अङ्गिरा को उसका उपदेश दिया ॥२॥ महर्षि अङ्गिरा के पास शौनकमुनि ने आकर प्रश्न किया—'भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब जाना हुआ होता है 'इतना ही मुझे बताइए' ॥३॥ महर्षि अङ्गीरा ने उनसे कहा कि ब्रह्मज्ञानी दो विद्याओं को ही जानने योग्य बताते हैं, उनमें एक परा और दूसरी अपरा कही गई है ॥४॥ पराविद्या के द्वारा वह अविनाशी परमेश्वर तत्वपूर्वक जाना जाता है और अपरा विद्या में चारों वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष सभी आते हैं ॥५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च

यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।।७
तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ।।८
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।।९

अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, इन्द्रियों से परे, हाथ पांव से रहित, सर्वव्यापी, अविनाशी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, प्राणियों के उत्पत्ति कारण रूप ब्रह्म को विद्वज्जन परिपूर्ण देखते हैं ।६।। मकड़ी जैसे अपने पेट में स्थित जाले को निकाल कर बुनती और फिर निगलती है, पृथिवी जैसे विभिन्न प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न करती है, मनुष्य से जैसे केश और लोम प्रकट होते हैं, वैसे ही उस अविनाशी परमेश्वर से यह विश्व प्रकट होता है ।।७।। सङ्कल्परूप तप के द्वारा ब्रह्म प्रवृद्ध होता है। वही अन्न को उत्पन्न करता है। उसी से अमृतत्व की प्राप्ति होती है ।।८।। परमेश्वर से ही यह ब्रह्माण्ड नाम, रूप और अन्न की उत्पत्ति हुई है। वह सर्वज्ञ और सर्वविद् है। उसका ज्ञान भी तप के समान ही है ।।९।।

।। प्रथम खण्ड समाप्त ।।

द्वितीय खण्ड

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ।।१

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ।।२

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ।।३
काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वा। ।।४
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येता: सूर्यस्त रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ।।५

ज्ञानियों ने वेदमन्त्रों में जिन कर्मों को देखा, उन कर्मों का नियमपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। हे सत्य की कामना वाले पुरुषो! इस लोक में श्रेष्ठ कर्मों के लिए यही एक सुन्दर मार्ग है ।।१।। जब देवताओं को भविष्य प्राप्त कराने वाले अग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर लपटें उठती हैं, तब आज्य भाग के स्थान को छोड़ मध्य भाग में अन्य आहुतियों का प्रतिपादन करे ।।२।। जिस अग्निहोत्री का अग्निहोत्र दर्श नामक, पौर्णमास नामक, चातुर्मास्य नामक यज्ञों से शून्य रहता है तथा आग्रयण कर्म भी जहाँ नहीं होता, अतिथि सत्कार और बलिवैश्वदेव कर्म नहीं किये जाते, जहाँ हवन-कर्म में शास्त्र विधि नहीं निभायी जाती अथवा वेदी आहुति-रहित रहती है, तो इस कारण वह अग्निहोत्री अपने सातों पुण्यलोकों को नष्ट कर डालता है ।।३।। काली, अत्यन्त उग्र, मन के समान चंचल, लाली युक्त, धूम्र-वर्णा, चिङ्गारियों से युक्त, देदीप्यमान विश्वरुचि—यह लपलपाती हुई सात जिह्वायें अग्नि की

हैं ॥४॥ जो व्यक्ति इन दमकती हुई ज्वालाओं में विधिपूर्वक आहुति देता है, उसे वे आहुतियाँ ही सूर्य रश्मियाँ बनकर देवाधिपति इन्द्र के निवासस्थान—स्वर्ग में पहुँचा देती हैं ॥५॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जंघन्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्
तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमंलोक हीनतरं वा विशांति॥१०

वे आहुतियाँ यज्ञकर्त्ता का सत्कार करती हुई उसे सूर्य रश्मियाँ बन कर ले जाती हुई कहती हैं कि आओ, आओ, तुम्हारे शुभ कर्मों का फल रूप ब्रह्मलोक यह है ॥६॥ अवश्य ही यज्ञ रूप अठारह नौकाएँ दृढ़ नहीं है । इनमें सकाम कर्म का उपदेश दिया गया है और

मूढ़जन इनकी प्रशंसा में कहते हैं कि कल्याण रूप यही हैं, परन्तु वे इन कर्मों द्वारा बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥७॥ वे मूढ़ विद्या-शून्य रह कर भी बुद्धिमान बनते हैं और विभिन्न कष्टों को सहन करते हुए उसी प्रकार भटकते हैं, जिस प्रकार अन्धे के नेतृत्व में अन्धे चलते हुये भटकते हैं ।८॥ ऐसे मूर्ख विषयों में आसक्त रहने के कारण कल्याणमार्ग को नहीं जानते और अपने कृतार्थ होने पर अभिमान कर लेते हैं। वे सकाम कर्मों के कारण बारम्बार दुःख भोगते और श्रेष्ठ लोकों से पतित होते हैं ॥९॥ कामना पूर्ति वाले कर्मों को श्रेष्ठ मानने वाले मूढ़जन यथार्थ कल्याण को न जानते हुए, अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग के उच्च नाक-पृष्ठ पर जाकर सुख-भोग करते हैं और पुण्य कर्मों के समाप्त होने पर इसी लोक में या इससे भी नीचे के लोकों में जा पड़ते हैं ॥१०॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां यत्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३

परन्तु जो वन में निवास करते हुये साधना करते और शान्त चित्त में रहते हैं, वे भिक्षाटन करते हुये संयमित जीवन व्यतीत करते हैं। वे रजोगुण रहित सूर्य के मार्ग से अमृतत्वयुक्त अविनाशी ब्रह्म के परमधाम को प्राप्त होते हैं ।।११।। कर्मों द्वारा उपलब्ध लोकों को जान कर ब्राह्मण वैराग्य धारण करे और उस ब्रह्म का ज्ञान पाने के लिए समिधायें हाथ में लेकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय ले क्योंकि केवल किये हुये कर्मों से ही परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती ।।१२।। उस शिष्य रूप में आये हुये ब्राह्मण को ज्ञानी गुरु ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, जिससे शिष्य को सत्य स्वरूप अविनाशी ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो सके ।।१३।

।। द्वितीय खण्ड समाप्त ।।

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

तदेदत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।१

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ।।२

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
ख वायुर्ज्योतिराप पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।३

अग्निर्मूधा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिश श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।

वायु: प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ।।४
तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्य।
सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेत: सिञ्चति योषितायां
बह्वी: प्रजा: पुरुषात् सम्प्रसूता: ।।५

हे सोम्य ! प्रज्ज्वलित अग्नि से उसी के रूप वाली सहस्रों चिन्गारियाँ निकलने के समान अविनाशी ब्रह्म से विविध भाव उत्पन्न होते और उसी में लीन हो जाते हैं ।।१।। वह परमेश्वर दिव्य और निराकार है, वह विश्व के भीतर-बाहर सर्वत्र व्याप्त है, अजन्मा और प्राण, मन आदि से रहित विशुद्ध एवं परिपूर्ण है, इसीलिये वह अमर आत्मा से भी परम श्रेष्ठ है ।।२। इसी परमेश्वर से प्राण, मन, इन्द्रियाँ आकाश, वायु, जल, ज्योति और सब जीवों को आश्रय देने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति हुई ।।३।। इस परमेश्वर का मस्तक अग्नि, सूर्य-चन्द्र दोनों नेत्र, दिशाएँ श्रोत्र, वायु प्राण, संसार हृदय और वेद वाणी हैं। इसके पावों से पृथिवी की उत्पत्ति हुई है। यही सब प्राणियों में आत्मा रूप से प्रतिष्ठित है ।।४।। उससे ही अग्नि, समिधा सूर्य, सोम, पर्जन्य, पृथिवी में औषधियां आदि की उत्पत्ति हुई। औषधियों के वीर्य और उससे विभिन्न प्राणी उत्पन्न हुए हैं ।।५।।

तस्मादृच: साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकः
सोमा यक्ष पवते यत्र सूर्य: ।।६
तस्माच्च देवा वहुधा सम्प्रसता:

साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८।
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्मापरामृतम् । एतद्यो वेद निहित गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

उसी से ऋचाएँ, साम-मन्त्र, श्रुतियां, दीक्षा, यज्ञ, कर्म और दक्षिणाएँ प्रकट हुईं । संवत्सर, यजमान और सब लोक उससे ही उत्पन्न हुए । उसी के द्वारा चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशित होते हैं ॥६॥ उसी से अनेक रूप वाले देवता, साधक, मनुष्य, पशु. पक्षी, प्राणापान, अन्न, तप श्रद्धा, सत्य और ब्रह्मचर्य का प्राकट्य हुआ । उसी ने विविध अनुष्ठानों की विधियों का विधान किया ॥७॥ सातों प्राण उसी से उत्पन्न हुये, अग्नि की सात ज्वालाएँ, सप्त समिधाएँ, सप्त यज्ञ, जिनमें प्राणी विचरण करते हैं ऐसे सप्त लोक, यह सभी उस परमेश्वर द्वारा ही प्रकट हुए हैं ॥८॥ इसी परमेश्वर से सभी समुद्र, समस्त पर्वत और विभिन्न रूप वाली नदियों की उत्पत्ति हुई । इसी से सब औषधियां, रस, और रस से आत्म-पुष्टि हुई । वही परमेश्वर सब में अन्तरात्मा रूप से निवास करता है ॥९॥ हे सोम्य ! तप, कर्म और अमृतत्वयुक्त ब्रह्म और यह विश्व सभी कुछ परमेश्वर है, जो उस अन्तर्यामी पुरुष का ज्ञाता है,

वह इस शरीर के रहते ही अविद्या रूप ग्रन्थि का उद्घाटन कर डालता है ।।१०।।

।। प्रथम खण्ड समाप्त ।।

द्वितीय खण्ड

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्वदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणान्नमिषच्च यतदेञ्जानथ सदसद्वरेण्यं पर विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ।। १ ।।

यदर्चिमद्यदणभ्योऽणु च यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्य सोम्य विधि ।।२

धनुर्गृहीतवौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ।।३

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।४

यस्मिन् द्यौ पृथिवी चान्तरिक्ष-
मोतं मन सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ।।५

उस परमेश्वर को जानना चाहिए जो सत्-असत् रूप, सब के द्वारा वरणीय, वरिष्ठ और जीवात्माओं की बुद्धि से परे है। ज्योति-स्वरूप निकटस्थ, गुहाचर नाम वाले, महान् पद वाले, श्वास लेने वाले, नेत्रों को खोलने बन्द करने वाले जो प्राणी हैं, वह सब इसी में

समर्पित हैं ॥१॥ हे सोम्य ! तू उस वेधने के योग्य लक्ष्य को वेध डाल, जो तेजस्वी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और लोकों में निवास करने वाले प्राणियों के आश्रय स्थान है, वही अविनाशी ब्रह्म है। वही मन, वाणी प्राण, सत्य और अमरत्व से युक्त है ।२॥ उपनिषद् प्रतिपादित ओंकार रूप धनुष को ग्रहण कर उस पर तप द्वारा तीक्ष्ण हुये बाण को चढ़ा कर खींच और अविनाशी ब्रह्म को लक्ष्य मानता हुआ उसे वेध डाल ॥३॥ प्रणव धनुष और आत्मा बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्य बताया गया है। उसे अप्रमत्त मनुष्य ही बांध सकता है। बाण से उसके लक्ष्य भेद कर उसी में तन्मय हो जाय ॥५। ब्रह्म ही अमृत का सेतु है। उसी में स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्ष एवं प्राणों के साथ मन भी गुन्था है अत: उसी आत्मस्वरूप ईश्वर को जानो और विषयों का सर्वथा त्याग करो ॥५॥

अरा एव रथनाभौ संयता यत्र नाड्यः।
स एषोऽन्तश्चरते वहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तपसः परस्तात् ॥६
यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैव महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदय सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ॥७
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८
हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात्‌ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥११

इस परमेश्वर का ॐ के उच्चारण द्वारा ही ध्यान करना चाहिये। अज्ञानान्धकार से परे होने, भवसिन्धु से पार होकर प्रभु-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है। इस प्रकार तुम्हारा कल्याण होगा। रथ चक्र की नाभि में लगे हुए अरों के समान देहगत नाड़ियाँ एकत्र हैं। विभिन्न प्रकार से उत्पन्न होने वाला परमेश्वर हृदय के मध्य भाग में निवास करता है ॥६॥ जो सर्वज्ञ और सर्वविद है, संसार में जिसकी महिमा मानी जाती है, वह सर्वात्मा ब्रह्म अपने लोक में प्रतिष्ठित है। वह प्राण एवं शरीर का नेतृत्व करने वाला, मन से युक्त है और अन्तमय देह में हृदय कमल के आश्रय से निवास करता है। वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर सर्वत्र देदीप्यमान है, उसे मेधावी जन भले प्रकार देख लेते हैं ॥७॥ उस परब्रह्म को तत्व के द्वारा जानने पर हृदय ग्रन्थि स्वयं खुल जाती है और सब संशय नष्ट हो जाते हैं। इसके साथ शुभ अशुभ कर्म भी क्षीण हो जाते हैं॥८॥ वह विकार रहित, अवयव रहित ब्रह्म हिरण्यमय कांश में स्थित है। वह सब ज्योतियों में श्रेष्ठ है, उसे आत्मज्ञानी मनुष्य ही जानते हैं ॥९॥ वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, विद्युत आदि का प्रकाश नहीं होता तो अग्नि का प्रकाश ही कहाँ से होगा? केवल ब्रह्म के प्रकाश से सभी प्रकाशित होते हैं और सम्पूर्ण विश्व ही उसके प्रकाश से प्रकाशित है ॥१०॥ यह ब्रह्म अमृत रूप है, यही सामने और यही

पीछे है, दांयी ओर बांयी ओर भी यही है, नीचे और ऊपर की ओर भी वही विस्तृत हैं। यह सम्पूर्ण विश्व ही महान् ब्रह्म है ॥११॥

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचती मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५

सहवासी, सखा-भाव वाले दो पक्षी एक वृक्ष के आश्रय में रहते हैं। उनमें से एक तो उस वृक्ष के कर्म-फलों का स्वाद लेता है

और दूसरा अनशन करता हुआ केवल देखता ही है ॥१॥ देह रूप वृक्ष पर निवास करने वाला आत्मा मोह में डूबा रह कर शोक-संतृप्त होता है, परन्तु जब अन्य किसी साधक से परमात्मा की महिमा का ज्ञान प्राप्त करता है, तब शोक से मुक्त हो जाता है ॥२॥ जब यह आत्मा उन परम पुरुष, विश्व आदि के कारण और ब्रह्मा के भी रचयिता, सबके परमात्मा से साक्षात् करता है, तब वह अपने पाप-पुण्यों को त्याग कर श्रेष्ठ साम्य प्राप्त करता हैं ॥३॥ यह सब देहधारियों में प्रकाशित हो रहा है, जो इसे जानता है वह विद्वान् अहङ्कारपूर्ण बातें नहीं करता, वह कर्म करने वाला और परमेश्वर की लीलाओं को समझकर उनमें आनन्द लेने वाला होकर परम श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी हो जाता है ॥४॥ परमेश्वर को वही साधक देख पाते हैं जो सब दोषों से मुक्त हो चुके हों। क्योंकि वह तो देह के भीतर प्रकाश रूप से विराजमान है और सत्य भाषण, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि श्रेष्ठ कर्मों से प्राप्त होता है ॥५॥

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥६

बृहच्च तत् दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९
यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥१०

जहाँ सत्य स्वरूप परमेश्वर का श्रेष्ठ निवासस्थान है उनके समीप वहीं ऋषिगण देवयान मार्ग से पहुँचते हैं, जिनकी कोई कामना शेष नहीं रह गई है। यह मार्ग सत्य से परिपूर्ण है क्योंकि सत्य की ही सदा विजय होती है, झूठ की नहीं होती ॥६॥ परमात्मा अत्यन्त समीप और दूर से भी दूर है, वह इन ढूंढने वालों की हृदय गुफा में ही प्रतिष्ठित है। वह अत्यन्त महान् और दिव्य है तथा सहज ही चिन्तन में नहीं आता और सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से प्रकाशित होता है ॥७॥ परमात्मा को सदा श्रेष्ठ अन्तःकरण वाला ज्ञानी ही ज्ञान के प्रसाद से ध्यान के द्वारा देख सकता है। वह नेत्रों से, वाणी से, अथवा अन्य किसी भी इन्द्रिय से ग्रहणी नहीं है अथवा तप आदि कर्मों से भी ग्रहण नहीं किया जा सकता ॥८॥ जिस देह में पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है, देहधारियों का मन उसी प्राण से व्याप्त है। यह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जाना जाता है और उस मन के शुद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार से सशक्त हो जाता है ॥९॥ ऐश्वर्य की अभिलाषा वाला मनुष्य आत्मज्ञानी की सेवा करे। क्योंकि शुद्ध मन वाला ज्ञानी मन से जिस लोक और जिन भोगों की इच्छा करता है वह उस-उस लोक अथवा उन-उन भोगों को प्राप्त करने में समर्थ होता है ॥१०॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खण्ड

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्व-
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥३

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
तेसर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥५

जो साधक परमेश्वर की निष्काम भाव से साधना करते हैं, वे ज्ञानी इस देह के बन्धन से पार हो जाते हैं। क्योंकि कामना रहित साधक उस प्रकाशयुक्त ब्रह्मधाम को शीघ्र ही जान लेता है। उसी धाम में यह सम्पूर्ण विश्व स्थित हुआ है।१। भोगों की इच्छा करने वाला साधक अपनी इच्छाओं को पूर्ति के कारण उन-उन लोकों में जाता है

जहाँ से पूर्ण हो सकें। परन्तु जो कामनाओं से पूर्ण तुष्टि प्राप्त कर चुका है, उसकी कामनायें इसी शरीर में लीन हो जाती हैं ॥२॥ यह परमात्मा प्रवचन, बुद्धि अथवा श्रवणादि द्वारा प्राप्ति नहीं होता अपितु जिसे अनुग्रहपूर्वक स्वीकार कर लेता है उसी के द्वारा प्राप्त हो सकता है। क्योंकि वह उस साधक को अपना स्वरूप दिखा देता है ॥३॥ जिस मनुष्य में उपासना रूपी बल नहीं है, उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती और प्रमादयुक्त व्यक्ति भी उसे नहीं पाता। जिस तप का कोई रूप न हो, वैसा तप भी निरर्थक है। परन्तु ज्ञानी साधक उसे प्राप्त कर लेता है ॥४॥ परमात्मा में लीन हो जाने वाले ज्ञानी उसे प्राप्त करके उसी में लीन हो जाते हैं, क्योंकि कामना रहित शुद्ध अन्तः-करण वाले ऋषिगण ज्ञान से तृप्त होकर परम शान्त होते हुए परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं ॥५॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
सन्यासयोगाद् यतय शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

गताः कला पंचदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति ॥७॥

यथा नद्यःस्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नापरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्म-वित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
स्वं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

जो वेदान्त ज्ञान द्वारा परमेश्वर को जान चुके हैं और संन्यास तथा योग के द्वारा शुद्ध हो चुके हैं, ऐसे साधक शरीर त्याग कर ब्रह्म-लोक को प्राप्त होते हैं और वहां परम अमृतत्व का लाभ पाकर जीवन मुक्त हो जाते हैं ॥६॥ पन्द्रह कलाएँ और देहगत सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने अभिमानी देवताओं से सुसङ्गत प्राप्त करते हैं, फिर सभी कर्म और जीवात्मा अविनाशी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ॥७॥ प्रवाहमाना नदियाँ जैसे अपने नाम-रूप को मिटाकर समुद्र में मिल जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी जन अपने नाम रूप का त्याग कर सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ॥८॥ जो उस परमेश्वर को जान लेता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है। उसके वंश में कोई ब्रह्म-ज्ञान से रहित नहीं होता। वह और पापों से पार होकर हृदय ग्रन्थियों से मुक्त होकर अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है ॥९॥ ब्रह्मविद्या उन्हीं को बतानी चाहिए, जो वेद के जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ, श्रद्धावान्, नियमपूर्वक यज्ञ करने वाले हैं. जिन्होंने विधि पूर्वक शिरोव्रत का पालन किया है और जो निष्काम कर्म द्वारा साधना करते हैं। यह बात ऋचाओं में कही गई है ॥१०॥ इस सत्य को प्रथम अंगिरा ऋषि ने बताया था। जिसने ब्रह्मचर्य पालन नहीं किया, वह इसे नहीं जान सकता। उन ब्रह्मज्ञानी महर्षियों को बारम्बार नमस्कार है ॥११॥

॥ मुण्डकोपनिषत् समाप्त ॥

(६) माराडूक्योपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरगैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम वहितं यदायुः ।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

"हे देवगण ! हम कानों से कल्याणमय वचन सुनें, नेत्र से कल्याणमय दृश्य देखें, दृढ़ अङ्गों वाले शरीरों से ईश्वर की स्तुति करते हुए हम जो आयु ईश्वर-हित में लगे उसे उसी प्रकार व्यतीत करें, इन्द्र हमारे लिए कल्याण देने वाले हों, पूषा हमारा कल्याण करें, अरिष्टों के नाशक गरुड़ हमारे लिए कल्याणकारी हों और वृहस्पति भी हमारे कल्याण को पुष्ट करें ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एवं । यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योङ्कार एवं ॥१

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात ॥२

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञःसप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखःप्रविविक्तिभुक् तैजसी द्वितीयः पादः ॥४

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति

तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

ॐकारमय अविनाशी ब्रह्म है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्यत, वर्तमान आदि तीनों कालों वाला यह संसार ॐकार ही है और तीनों कालों से परे भी जो अन्य तत्व है वह भी ॐकार ही है ॥१॥ यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है, यह आत्मा भी ब्रह्म है और यह आत्मा चार पावों वाला है ।२। यह सम्पूर्ण विश्व जिसका देह है, सात लोक जिसके सात अङ्ग हैं; पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण और चार अन्तःकरण यह उन्नीस जिसके मुख हैं जिसके द्वारा प्रकट ज्ञान इस वाह्य संसार में प्रसारित है, जो इस स्थूल विश्व का भोगने वाला है, वह वैश्वानर उस ब्रह्म का प्रथम चरण है ।३। स्वप्न के समान अनित्य विश्व जिसका स्थान है, जो सात अङ्गों में युक्त उन्नीस मुख वाला है, जिसके द्वारा प्रकट ज्ञान संसार से प्रसारित है जो सूक्ष्म विश्व का भोक्ता और ज्योतिर्मय हैं वह उस ब्रह्म का द्वितीय चरण है ।४। जो सोता हुआ भोग-कामनाओं से रहित, स्वप्नों से रहित है, ऐसी सुषुप्तावस्था जिसकी देह है, जो स्वयं घनीभूत, आनन्दमय और एक रूप है, जिसका मुख प्रकाशयुक्त है और जो परमानन्द का एक-मात्र भोगने वाला है, वह ब्रह्म का तृतीय पाद है ॥५॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्त प्रभावाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६

नान्तःप्रज्ञं न वहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७

सोऽयमात्माध्यक्षरयोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२

वह ब्रह्म ही सब भूतों का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय स्थानी है। वही सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सब संसार का कारणभूत, तथा सब का ईश्वर है ॥६॥ जो भीतर बाहर प्रज्ञावाला नहीं है, जो दोनों ओर भी प्रज्ञा वाला नहीं है, जो न जानने वाला है और जो न अज्ञान है, जो अदृष्ट, अव्यवहार्थं और अग्राह्य है, जो लक्षण-रहित, एवं प्रज्ञानघन है, जो न बतलाने में आ सकता है और न चिन्तन में, एकात्म सत्ता ही जिसका सार है, जो प्रपंच रहित, कल्याणकारी अद्वैत, सर्वथा शान्त है, उसे ब्रह्म का चतुर्थ चरण माना गया है। उसे जानना चाहिये ॥७॥ यह अध्यक्षर रूप परमात्मा त्रिमात्रिक ॐकार है। अकार, उकार और मकार यही इसके पाद हैं और पाद ही मात्रायें हैं ॥८॥ प्रथम मात्रा 'अकार' व्याप्त होने और आदि होने के कारण जागरित स्थान रूप वैश्वानर नामक प्रथम चरण है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त करता हुआ सब में प्रमुख हो जाता है ॥९॥ ॐकार की द्वितीय मात्रा 'उकार' श्रेष्ठ होने और द्विभा-

वात्मक होने के कारण स्वप्न स्थान रूप तैजस नामक दूसरा चरण है। इस प्रकार जानने वाला मनुष्य ज्ञान की उन्नति करता और समान भाव वाला हो जाता है। उसके वंश में परमेश्वर को न जानने वाला कोई नहीं होता।१०। ॐकार की तृतीय मात्रा 'मकार' मापक और विलीन करने वाली होने से सुषुप्त स्थान वाला प्राज्ञ नामक तृतीय चरण है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी इस सम्पूर्ण विश्व के परिणाम का ज्ञाता होकर इस सब को स्वयं में निहित करने वाला हो जाता है।११। मात्रा रहित ॐकार अव्यवहार्य, प्रपंचातीत एवं कल्याण रूप है। यही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है। जो इस प्रकार जानता है वह आत्मज्ञानी आत्मा के द्वारा ही परब्रह्म में लीन हो जाता है।१२।

॥ माण्डूक्योपनिषत् समाप्त ॥

ऐतरेयोपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु ववतारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हे परमात्मन्! मेरी वागेन्द्रिय मन में स्थित हो जाय और मेरा मन वागेन्द्रिय में स्थित हो। तुम मेरे निमित्त प्रत्यक्ष होओ। मेरे निमित्त वेद विदित ज्ञान को लाओ। मैं सुने हुए ज्ञान को भूल न जाऊँ। मैं श्रेष्ठ शब्दों को ही बोलूँ। दिन-रात्रियों को एक कर दूँ। मैं सदा सत्य बोलूँगा। वह ब्रह्म मेरा रक्षक हो। वह आचार्य का भी रक्षक हो। वह मेरी और आचार्य की, दोनों की ही रक्षा करे।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥१

स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं परीचयः पृथिवीः मनो या अधस्तात्ता आपः॥२

स ईक्षतेमे नु लोकापालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥३

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग् वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्य त हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥४

सृष्टि से पूर्व एक मात्र परमात्मा ही था, अन्य कोई भी न था। उस परमात्मा ने लोक रचना का विचार किया ॥१॥ उसने स्वर्गादि उच्च लोक, अन्तरिक्ष, मर्त्य लोक और जल आदि की रचना की। स्वर्ग से ऊपर के लोक और उनका आश्रय स्थान द्युलोक 'अम्भ' और अन्तरिक्ष मरीचि है। यह पृथिवी मर्त्यलोक के नाम से और नीचे के सब लोक जल के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं ॥२॥ लोकों की रचना करने के पश्चात् उन्होंने लोकपालों की रचना करने का विचार किया और जल से ज्योतिर्मय पुरुष को प्रकट किया ॥३॥ उस ज्योतिर्मय पुरुष को देख कर उस परमात्मा ने तप किया और उनके तप से तेजस्वी हुए देह से अण्डे के समान हुआ, उसमें मुख का छेद बना, मुख से वागेन्द्रिय और वाणी से अग्नि का प्राकट्य हुआ, फिर दो छिद्र युक्त नासिका और उससे प्राण की उत्पत्ति हुई। प्राण से वायु और नेत्र छिद्र हुए, उनमें चक्षु उत्पन्न हुये। चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुए। फिर कानों के छिद्र बने, उनमें सुनने की शक्ति उत्पन्न हुई। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा दिशायें प्रकटीं और फिर त्वचा उत्पन्न हुई, त्वचा से रोम, रोमों से ओषधियाँ, फिर हृदय और हृदय से मन, मन से चन्द्रमा प्रकट हुआ।

फिर नाभि उत्पन्न हुई, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु देवता प्रकट हुये। फिर उपस्थ, उपस्थ से रेत और रेत से जल की उत्पत्ति हुई ॥४॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खण्ड

ता एता देवता। सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनाया-पिपासाभ्यामन्ववाजंत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठता अन्नमदामेति ॥१

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमा नयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥२

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। सुरुषो बाव सकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥३

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चंद्रमा मनो भूत्वा हृदय प्राविशन्मृत्युरपाना भूत्वा नाभि प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजनीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥५

परमात्मा द्वारा उत्पन्न देतवा इस विशाल समुद्र में आ पड़े। तब परमात्मा ने उनमें भूख प्यास की अनुभूति उत्पन्न की। इस पर

उन्होंने परमात्मा से कहा कि हमारे लिए ऐसे शरीर का निर्माण करो जिसमें रहकर हम अन्न आदि खा सकें ॥ १ ॥ परमात्मा ने उन्हें गौ का शरीर बना कर दिखाया, उसे देख कर देवता बोले कि यह हमारे लिए ठीक नही है, तब परमात्मा ने उन्हें अश्व का शरीर दिखाया, उसे देख कर भी उन्होंने वही उत्तर दिया कि यह ठीक नहीं है ॥ २ ॥ तब परमात्मा ने मनुष्य देह दिखाया, उसे देखकर देवता बोले कि यह बहुत ही सुन्दर रचना है, तब परमात्मा ने कहा अपने-अपने योग्य स्थानों में घुस जाओ ॥३। तब अग्नि देवता वाणी बन कर मुख में घुस गया। वायु देवता प्राण बन कर नासिका में घुसा, सूर्य चक्षु बन कर नेत्र गोलकों में प्रविष्ट हुआ, दिशायें श्रोत्र बन कर कानों में घुसीं, ओषधि रोम बन कर त्वचा में पहुँची, चन्द्रमा मन बन कर हृदय में स्थित हुआ, मृत्यु अपान बन कर नाभि में और जल रेत बन कर उपस्थ में स्थित हो गया ॥४॥ तब उस परमेश्वर से क्षुधा पिपासा ने कहा कि हमारे लिए भी स्थान बनाइये। परमेश्वर बोले कि तुम्हें इन देवताओं में से ही अंश देता हूं। अतः जिस देवता के लिए हवि ग्रहण होगी उसमें क्षुधा - पिपासा दोनों ही भाग प्राप्त करेंगी ॥५॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

तृतीय खण्ड

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥१

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥२

तदेनत सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्। ३

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥५

फिर परमात्मा ने सोचा कि सब लोक और लोकपालों की रचना हो चुकी, अब इनके लिये अन्न की रचना और होनी चाहिए ॥१॥ उस परमात्मा ने जलों को तपाया, उन जलों से जो मूर्ति प्रकट हुई वही अन्न है ॥२॥ यह उत्पन्न हुआ अन्न परामुख होने लगा तब उसे वाणी द्वारा ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह अन्न वाणी के द्वारा ग्रहण न हो सका। यदि ऐसा हो सकता तो मनुष्य अन्न के वर्णन द्वारा ही तृप्ति को प्राप्त हो जाता ॥३॥ तब उस अन्न को प्राण के द्वारा ग्रहण करने की इच्छा की, परन्तु वह प्राण के द्वारा भी ग्रहण न किया जा सका। यदि वह प्राण द्वारा ग्रहण हो सकता तो देहधारी अन्न को सूंघकर ही तृप्त हो जाता ॥४॥ तब उस अन्न को आंखों द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की, परन्तु यह आँखों द्वारा भी ग्रहण न हो सका। यदि ऐसा हो सकता तो अन्न को देखने मात्र से ही भूख मिट जाती ॥५

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७

तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥८

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥९

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥१०॥

तब उस अन्न को श्रोत्रों द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की, परन्तु वह श्रोत्रों द्वारा भी ग्रहण न हो सका। यदि ऐसा हो सकता तो अन्न का नाम सुनकर ही भूख मिट जाती ॥५॥ तब उस अन्न को त्वचा द्वारा ग्रहण करना चाहा, परन्तु वह त्वचा द्वारा भी ग्रहण न हो सका। यदि ऐसा हो सकता तो अन्न के स्पर्श मात्र से भूख मिट जाती ॥७॥ तब उस अन्न को मन के द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की परन्तु वह मन के द्वारा भी ग्रहण न हो सका। यदि मन के द्वारा ग्रहण हो सकता तो अन्न के चिन्तन मात्र से भूख मिट जाती ॥८॥ तब उस अन्न को उपस्थ द्वारा ग्रहण करना चाहा, परन्तु वह उपस्थ द्वारा भी ग्रहण न हो सका। यदि ऐसा हो सकता तो अन्न का त्याग करने से ही तृप्ति हो जाती ॥६॥ तब उस अन्न को अपान वायु द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की इससे वह ग्रहण हो गया। तब यह अपान वायु ही अन्न को ग्रहण करने वाला हुआ। यह वायु अन्न के द्वारा देह की रक्षा करने में समर्थ है ॥१०॥

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥११

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दन। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः अयमावसथोऽमावसथोऽयमावसथ इति ॥१२

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्। इदमदर्शमिति ॥१३

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ।।१४

फिर परमात्मा ने विचार किया कि मनुष्य मेरे बिना कैसे रहेगा ? फिर सोचा कि इसने वाणी से बोल लिया, प्राण से सूँघ लिया, नेत्र से देख लिया, कान से सुन लिया, त्वचा से स्पर्श कर लिया, मन से ध्यान कर लिया, अपान से अन्न ग्रहण कर लिया, उपस्थ से उसकी क्रिया करली, तो फिर उसके लिए मैं कौन रहा ? फिर सोचा कि मुझे किस मार्ग से इसके शरीर में प्रविष्ट होना चाहिए ? ।।११। तब परमेश्वर ने मनुष्य की मूर्धा को चीर कर देह में प्रवेश किया यह द्वार विदृति कहा जाता है, यह आनन्द प्राप्त कराने वाला द्वार है। उस परमेश्वर के तीन आश्रय हैं, तीन ही स्वप्न हैं। हृदय एक स्थान है, ब्रह्म धाम दूसरा और ब्रह्माण्ड तीसरा स्थान है ।।१२।। मनुष्य रूप से प्रकट हुए उस पुरुष ने पञ्च महाभूतों को सब ओर देखकर कहा कि यहाँ दूसरा कौन है ? तब उसने परम पुरुष परब्रह्म को ही वहाँ देखा और सोचा कि अहा ! मैंने परमेश्वर के दर्शन प्राप्त कर लिए ।।१३।। अतः वह परमात्मा इदन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु इदन्द्र होते हुए भी उसे परोक्ष भाव से इन्द्र कहते हैं। देवगण परोक्षप्रिय होते हैं ।।१४।।

। प्रथम अध्याय समाप्त ।।

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतः तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ।।१

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति। यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति ॥२

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं विभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां संतत्या। एवं संतता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ।४

तदुक्तमृषिणा—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति
गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥५

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वं उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥६

प्रारम्भ में गर्भ बनता है। यह वीर्य सभी अङ्गों से प्रकट होने वाला तेज है। पुरुष इसे अपने शरीर में ही धारण करता है, फिर उसे सिंचन द्वारा गर्भ रूप में स्थित करता है। वह इसका प्रथम जन्म है ॥१॥ वह स्थापित गर्भ स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त होता है। वह उस समय स्त्री के अपने अङ्ग समान ही हो जाता है, इसीलिए स्त्री को उसे धारण किये हुए कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता। वह स्त्री पति के आत्मरूप से प्राप्त हुए गर्भ का पोषण करती है ॥१॥ प्रसव के पहले स्त्री गर्भ का पोषण करती है और उसके उत्पन्न होने पर उसका पिता उसे कर्मवान् बनाने का यत्न करता है। जो पिता अपने

बालक की इस प्रकार उन्नति करता है, वह यथार्थ में अपनी ही उन्नति करता है क्योंकि सब लोक इसी प्रकार विस्तृत हुए हैं। इस प्रकार बालक का यह दूसरा जन्म हुआ ॥३॥ पिता के पुण्य कर्मों के निमित्त पिता का ही आत्मा पुत्र रूप में प्रतिनिधि बनता है, तब पिता रूप आत्मा अपना कर्त्तव्य पूरा हो जाने पर मृत्यु को प्राप्त होकर संसार से गमन करता है और जाकर फिर जन्म लेकर लौट आता है यही इसका तृतीय जन्म है ॥४॥ यही बात ऋषि कहते हैं कि मैं गर्भ में रहकर ही देवताओं के अनेक जन्मों को जान चुका हूँ। तत्व ज्ञान की प्राप्ति से पहले मुझे सैंकड़ों कठोर पिंजरों ने बांध रखा था। अब मैं श्येन के समान वेग द्वारा उन्हें काटकर मुक्त हुआ हूं। वामदेव ने गर्भ से शयन करते हुए उपरोक्त बात कही ॥५॥ इस प्रकार का ज्ञानी वामदेव ऋषि देह नष्ट होने पर संसार से उन्नत हुआ और स्वर्ग में पहुँच कर सब कामनाओं का उपभोग कर अमर हो गया ॥६॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥१

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य भवन्ति ॥२

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पंच महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतीषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वंतत्प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥४

हम जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह कौन है ? जिससे मनुष्य देखता, सुनता, गन्ध लेता, बोलता और स्वाद लेता है, वह आत्मा कौन है ? ॥१॥ यह हृदय ही मन है। ज्ञान-शक्ति, आदेश शक्ति, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धैर्य बुद्धि, मनन शक्ति, स्मृति, सङ्कल्प, वेग, मनोरथ, कामना, भोग, प्राण शक्ति आदि सभी परमात्मा की सत्ता का ज्ञान कराने वाले हैं ॥ ॥ ब्रह्मा, इन्द्र प्रजापति आदि सम्पूर्ण देवता, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज यह पञ्च महाभूत और छोटे तथा बीज रूप प्राणी इनसे भिन्न अण्डोत्पन्न, जारुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गौऐं, हाथी मनुष्य आदि यह सम्पूर्ण विश्व, स्थावर, जङ्गम आदि सभी परमेश्वर की शक्ति से अपना-अपना कर्म करते हैं। उसी परमात्मा में लोक स्थित हैं और वह सब के आश्रय रूप हैं ॥३॥ जिसने परमेश्वर को जान लिया वह इस लोक से उठकर स्वर्ग लोक में ब्रह्म के साथ सभी दिव्य भोगों को पाता है। वह ज्ञानी अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥४॥

॥ ऐतरेयोपनिषत् समाप्त ॥

(८) तैत्तिरीयोपनिषत्

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(अर्थ नीचे प्रथम मन्त्र के अनुवाद में दिया गया है।)

शिक्षा वल्ली

प्रथम अनुवाक

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हमारे निमित्त मित्र देवता कल्याणकारी हों। वरुण कल्याणकारी हों, अर्यमा कल्याणकारी हों, इन्द्र और बृहस्पति भी कल्याणकारी हों, विष्णु कल्याणकारी हों। उस ब्रह्म के लिए नमस्कार हो। हे वायो! तुम्हारे लिए नमस्कार है, क्योंकि तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। मैं

तुम्हें ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, ऋत और सत्य के नाम से भी कहूँगा। वह मेरी रक्षा करें। आचार्य की भी रक्षा करें। ॐ शान्तिः ॥

द्वितीय अनुवाक

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

अब शिक्षा का वर्णन किया जायेगा। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्धि इस प्रकार यह वेद की शिक्षा का अध्याय बताया गया है ॥१॥

तृतीय अनुवाक

सः नो यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पंचस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्।

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तर रूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्योतिषम्।

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं संधानम्। इत्याधिविद्यम्।

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः। प्रजननं सन्धानम्। इत्यधिप्रजम्।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वा सन्धानम्। इत्यध्यात्मम्।

इतीमा महासंहिता य एवमेता मजासंहिता व्या-

ख्याता वेद। सधीयते प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।

(गुरु शिष्य के सम्बन्ध में कहा गया है) हम दोनों समान रूप से बढ़ें, हमारे ब्रह्मतेज की भी वृद्धि हो। हम इस प्रकार लोकों, ज्योतियों, विद्या, संतति, शरीर, पञ्च अधिकरण और संहिता के उपनिषद् व्यख्या करेंगे। यह सब महासंहिता कही गई हैं। उसमें प्रथम लोक-संबंधिनी है। पृथ्वी पूर्व दिशा रूप और स्वर्ग उत्तर दिशा रूप है, स्वर्ग और पृथिवी की सन्धि रूप वायु इन दोनों का नियामक है। यह लोक-सम्बधिनी संहिता है।

ज्योति-विषयक संहिता इस प्रकार कही गई है कि अग्नि पूर्व रूप है, आदित्य उत्तर रूप है, जल इन दोनों की सन्धि है, विद्युत संयोजक है।

विद्यासम्बन्धित संहिता इस प्रकार बताई गई है कि गुरु इसका पूर्व रूप हैं, शिष्य उत्तर रूप है, और विद्या सन्धि है और प्रवचन ही संधान है।

संतति से संबंधित संहिता इस प्रकार कही गई है कि माता पूर्व रूप है, पिता उत्तर रूप है, सन्तान सन्धि है और प्रजनन कर्म सन्धान है।

आत्म-विषयक संहिता इस प्रकार कही गई है कि नीचे का जबड़ा पूर्व है, ऊपर का उत्तर रूप है, वाणी सन्धि है और जिह्वा सन्धान है।

इस प्रकार यह महासंहितायें कही गईं। जो व्यक्ति पूर्वोक्त रूप से जान लेता है, वह प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस, अन्न आदि और स्वर्ग लोक आदि में प्रतिष्ठित होता है।

चतुथ अनुवाक

यश्चन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय।

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणाचीरमात्मनः। वासाँसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा।

आ मायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा।

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व।

जो प्रणव वेदों में सर्वोत्तम है, विश्व रूप और अमृत से युक्त है, वेदों से मुख्य होकर निकला है, वह इन्द्र रूप ईश्वर होकर मुझे मेधावान् बनावे। हे देव ! मैं अविनाशी ब्रह्म का धारण करने वाला बनूँ, मेरी देह स्फूर्तियुक्त हो, मेरी जिह्वा मिष्ठभाषिणी हो, मेरे कान शुभ सुनने वाले हों। तू मेधा से आच्छादित ब्रह्म की निधि के समान है। मैं जो उपदेश सुन चुका हूँ उसे भूल न जाऊँ, ऐसा कर।

हे देव ! रोम युक्त पशुओं सहित उस श्री को मेरे निमित्त ले आ जो तुरन्त ही विभिन्न प्रकार के वस्त्र, अन्न, गौयें सदा ले आती हैं। वह उन्हें बनाकर उनकी वृद्धि करने में समर्थ है।

ब्रह्मचारीगण मेरे समीप आवें, वे कपट रहित हों, प्रामाणिक बातों को स्वीकार करें, वे इन्द्रियों का दमन करें और मन को, वशीभूत रखें।

मैं सब मनुष्यों में अधिक यश वाला होऊँ, धनिकों में अधिक धनवान् बनूँ, हे प्रभो ! मैं तुम में लीन होऊँ, तुम मुझमें प्रवेश करो; तुम सहस्रशाख वाले हो ऐसे तुम्हारी उपासना से मैं अपने को पवित्र कर लूँ।

जैसे जल नीचे स्थानों में जाते हैं, जैसे महीने संवत्सरों में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही सब ओर से ब्रह्मचारीगण मेरे समीप आवें। हे परमेश्वर ! तू सबका आश्रयस्थल है, मेरे निमित्त अपने तेज को प्रकाशित कर और मुझे प्राप्त हो।

पञ्चम अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थी माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।

भूरिति वै प्राणः भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एतश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।

भूः, भुवः, स्वः यही तीन व्याहृतियाँ प्रसिद्ध हैं। चौथी व्याहृति महः है, जिसे महाचमस के पुत्र ने सर्व प्रथम जाना, वही ब्रह्म है, वही उक्त तीनों व्याहृतियों का आत्मा है, सभी देवता उसके अंग हैं। भूः पृथिवी है, भुवः अन्तरिक्ष है, स्वः स्वर्ग है, महः आदित्य है और उस आदित्य की महिमा से ही सम्पूर्ण लोकों की महिमा है।

भूः अग्नि है, भुवः वायु है, स्वः आदित्य है, महः चन्द्रमा है। चन्द्रमा ही सब ज्योतियों को महिमान्वित करता है। भूः ऋग्वेद, भुवः सामवेद, स्वः यजुर्वेद और महः ब्रह्म है। उस ब्रह्म से ही सब वेदों की महिमा है।

भूः प्राण है, भुवः अपान है, स्वः व्यान है, महः अन्न है, अन्न से ही प्राण में शक्ति रहती है। इन चारों व्याहृतियों के चार-चार भेद हैं, इस प्रकार यह सोलह व्याहृतियाँ हुईं। ऐसा जानने वाला ब्रह्मवेत्ता कहाता है, उस पर सभी देवता कृपा करते हैं।

षष्ठ अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तये। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये

म . ।' । ।

आप्नोति स्वराज्यम् । आप्नोति । मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति ।

आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम् । शान्ति समृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ।

उस हृदयाकाश में अविनाशी, हिरण्मय, मनोयुक्त, परमेश्वर निवास करता है।

दोनों तालुओं के मध्य स्तन समान मांस पिंड लटकता है । उससे भीतर शान्त स्थान है, वहाँ शीर्ष कपाल को भेद कर निकली हुई सुषुम्ना नाड़ी है, वहीं इन्द्रयोनि है । अवसान काल में साधक भूः स्वरूप अग्नि में स्थित होता है, फिर भुवः स्वरूप वायु में, स्वः स्वरूप आदित्य में और महः स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाता है ।

वह अपने राज्य पर अधिष्ठित होता है, मनस्पति को प्राप्त कर वाणी का स्वामी हो जाता है । नेत्रों, श्रोत्रों और विज्ञान का आधिपत्य भी उसे मिलता है, पूर्वोक्त साधन का यह फल मिलता हैं ।

ब्रह्म आकाश के समान विशाल है । वह सत्तावन्त, प्राणों को विश्रामदायक, मन को सुखकारी, शान्तिमय और अविनाशी है । ऐसा जानकर उसकी उपासना करनी चाहिये ।

सप्तम अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्याधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यनोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म मांँ सँ स्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदँ सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तँ स्पृणोतीति ।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग अवान्तर दिशायें, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, जल, औषधियाँ, आकाश, आत्मा यह सब अधिभौतिक हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान, नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी, त्वचा, चर्म, माँस, अस्थि, नाड़ी मज्जा इस प्रकार कल्पित कर ऋषि बोले कि यह पांङ्क्त है। पाँङ्क्ति के द्वारा पांङ्क्त की पूर्ति होती है।

अष्टम अनुवाक

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदँ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिह स्म वा अप्य श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओँ शोमिति शस्त्राणि शँसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्याग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्म वोपाप्नोति।

'ओम' ब्रह्म है, ओम ही विश्व है, ओम ही अनुकृति है। गुरुदेव! सुनाओ। ओम से ही साम गायक, सामगान करते हैं, ओम् ओम् कहते हुए ही शास्त्र पढ़े जाते हैं, ओम् से ही अध्वर्यु प्रतिगर मन्त्र प्रारम्भ करता है, ओम् कहकर ही ब्रह्मा यज्ञ की अनुमति देता है, ओम् से ही अग्निहोत्र की आज्ञा दी जाती है ओम् का उच्चारण करता हुआ अध्ययन प्रारम्भ करने वाला ब्राह्मण ब्रह्म को प्राप्त करने की बात कहता है। ओम् के प्रभाव से ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

नवम अनुवाक

ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्य च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ।

सदाचार-पालन, शास्त्राध्ययन, सत्य-भाषण आदि कर्म उचित हैं । इनके साथ ही इन्द्रियों का दमन, मन का निग्रह, यज्ञाग्नि का चयन, आतिथ्य-सत्कार, मनुष्योचित व्यवहार, गर्भाधान संस्कार, परिवार वृद्धि संबंध कर्म सभी शास्त्र-विधि से करने चाहिये । सत्य ही इसमें सर्वश्रेष्ठ है । इस प्रकार रथीतर-तनय सत्यवचा का कथन है । पुरुशिष्ट के पुत्र तपोनित्य ऋषि तप को ही श्रेष्ठ बताते हैं । मुद्गल-तनय नाक ऋषि का कथन है कि स्वाध्याय ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि स्वाध्याय ही तप है ।

दशम अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ।

मैं इस विश्व-वृक्ष का उच्छेदक हूँ, मेरा यश गिरि-शिखर के समान उन्नत है, शस्योत्पादिका शक्ति सम्पन्न सूर्य में श्रेष्ठ अमृत है, उसी समान मैं भी अमृत रूप हूँ, तेजयुक्त द्रव्य वाला हूँ, अमृत से अभिषिक्त, श्रेष्ठ मेधा से युक्त हूँ । त्रिशंकु ऋषि ने अनुभव और ज्ञान आधार पर ऐसा कहा ॥१॥

एकादश अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं

चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणः। तेषां त्वया ऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये यत्र ब्राह्मणः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवम् चैतदुपास्यम्।

वेदाध्ययन के पश्चात् आचार्य अपने शिष्य को शिक्षा देता है कि सत्य बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में आलस्य न करो, आचार्य को इच्छित दक्षिणा दो फिर गृहस्थ-धर्म पालन करो, सत्य को न छोड़ो, धर्म से न हटो, श्रेष्ठ कर्मों से न डिगो, उन्नति के साधनों और शास्त्रादि के पठन-पाठन को न छोड़ो तथा देवता और पितरों के कर्मों से विरत न होओ।

माता पिता को देवता समान समझो, आचार्य को देवता समझो

अतिथि को देवता मानो, दोष रहित कर्मों को करो, श्रेष्ठ चरित्र बनाओ, अपने से श्रेष्ठ ब्राह्मण को उच्च आसन दो, दान श्रद्धापूर्वक और अपनी स्थिति के अनुसार देना चाहिए, परन्तु बिना श्रद्धा के दान न दे। दान लज्जा और भय पूर्वक भी दे (अर्थात् दान न देने में लज्जा आनी चाहिए और भय भी) परन्तु जो दान दे वह विवेक बुद्धि से दे।

कर्तव्य-निर्णय की शंका उपस्थित होने पर परामर्श-कुशल, धर्म की कामना वाले ब्राह्मण जिस प्रकार का आचरण करें, वैसा ही आचरण करना चाहिये। यदि किसी अपराध का आरोप हो और उसके सम्बन्ध में कुछ शङ्का हो तो भी व्यवहारकुशल एवं धर्मज्ञ ब्राह्मण के अनुसार ही आचरण करे। यही आदेश एवं उपदेश है। वेदों का रहस्य भी यही है, इसी को अनुशासन कहा गया है।

द्वादश अनुवाक

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं नो इन्द्रो-बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मवदिष्यामि। ऋत-मवदिष्यामि। सत्यमवदिष्यामि। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमा-वीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्।

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, वृहस्पति और विष्णु हमारे लिये कल्याणकारी हों। ब्रह्म और वायु के लिए नमस्कार हो। तुम ही साक्षात् ब्रह्म हो, तुम्हें ही ब्रह्म कहा है, तुम ऋत और सत्य नाम से कहे गये हो। उस परमात्मा ने मेरी और आचार्य की रक्षा की है।

॥ प्रथम वल्ली समाप्त ॥

ब्रह्मानन्द वल्ली

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

प्रथम अनुवाक

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाऽभ्युक्ता ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ।

यह कहा गया है कि ब्रह्म के जानने वाला साधक परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।

परम आकाश और हृदय गुहा में निहित सत्य ज्ञान वाले अनन्त ब्रह्म को जो जानता है, वह ब्रह्म के साथ ही सब भोगों का उपभोग करता है ।

परमात्मा से आकाश प्रकट हुआ । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ और औषधियों से अन्न की उत्पत्ति हुई। अन्न से मनुष्य हुआ, क्योंकि मनुष्य का देह अन्न-रस वाला है । यह सिर ही इस मनुष्य रूपी पक्षी का सिर है, यह बाहु दक्षिण पंख है, अन्त बाहु वाम पंख हैं, आत्मा मध्य अङ्ग है, पाँव ही पूँछ है ।

द्वितीय अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजा। प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीᳬश्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः अन्नᳬहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नᳬहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषध-मुच्यते । अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधातामन्वयं पुरुषविधः । तस्य ाण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथ्वी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ।

पृथिवी के सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवित रहते और अन्न में ही लय होते हैं । अन्न सब में श्रेष्ठ है और सर्वोषधि कहा गया है । जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी कामना करते हैं, वे उसे अवश्य पाते हैं । क्योंकि अन्न ही प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है, यही सर्वोषधि कहा गया है । प्राणी अन्न से प्रकट होकर उसी से बढ़ते हैं । वह खाया जाता है और अन्न भी प्राणियों का भक्षण कर लेता है, इसीलिए अन्न कहा गया है ।

अन्न-रस युक्त देह से भिन्न, इस देह में निवास करने वाला प्राण रूप आत्मा है, उसी से देह व्याप्त है, क्योंकि उसका आकार भी देहधारी के समान ही है । उस आत्मा का प्राण शिर, व्यान दक्षिण पंख अपान वाम पंख है । आकाश आत्मा और पृथिवी पूँछ है ।

तृतीय अनुवाक

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधता-मन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

देव, मनुष्य, पक्षी आदि प्राणी प्राण के कारण ही चेष्टावान् हैं। प्राण ही आयु है, इसलिए इसे आयु कहा गया है। जो मनुष्य प्राण रूप ब्रह्म के उपासक हैं, वे पूर्ण आयु पाते हैं, क्योंकि यही शरीर-गत निवास करने वाला आत्मा है।

इस प्राणमय पुरुष से अन्य भीतर निवास करने वाला आत्मा है। यह शरीर उसी से व्याप्त है, यह शरीर उसी के आकार का है, यह देह के अनुसार आकार का है। उसका यजुर्वेद सिर, ऋग्वेद दक्षिण पक्ष, सामवेद वाम पक्ष, आदेश आत्मा है। अथर्वा और अंगिरा ऋषियों द्वारा अवलोकित अथर्व के मन्त्र पूँछ और प्रतिष्ठा हैं।

चतुर्थ अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय-स्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधता-मन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋत दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

जिस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त मनयुक्त वाणी उसे न पाकर लौटती है, उनका ज्ञाता विद्वान कभी भयभीत नहीं होता। पूर्वोक्त अन्नरसमय शरीर की आत्मा ही परमात्मा है।

पूर्वोक्त मनोमय मनुष्य के अन्दर में निवास करने वाला आत्मा विज्ञान से युक्त है। यह देह उस आत्मा में ही व्याप्त है। यह पुरुष की आकृति के समान होने से ही पुरुषाकार कहा गया है। उसका सिर श्रद्धा ही है। ऋत दक्षिण पक्ष और सत्य वाम पक्ष है, योग इस देह का मध्य भाग है, महः नामक परमात्मा पुच्छ और प्रतिष्ठा है।

पंचम अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्त पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

विज्ञान में यज्ञों और कर्मों का विस्तार होता है। सब देवता प्रमुख ब्रह्म के रूप में विज्ञान की ही उपासना करते हैं। जो विज्ञान

को ब्रह्म का रूप जानता है, उसमें प्रमाद नहीं करता, वह पापों को अपने देह रहते ही त्याग कर सब भोगों को पाता है। शरीर में निवास करने वाला आत्मा ही परमात्मा है।

पूर्वोक्त विज्ञानमय जीवात्मा से अन्न देह में रहने वाला परमात्मा है, यह उससे पूर्व व्याप्त है। वह परमात्मा भी पुरुषाकार है। उसकी इच्छा ही सिर है, मोद दक्षिण पंख, प्रमाद वाम पंख और आनन्द देह का मध्य है, ब्रह्म पूँछ और आश्रयस्थान।

षष्ठ अनुवाक

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेतिवेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छति (३) आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ)

सोऽकामयत्। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इद सर्वमसृजत यदि किं च। सत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशित्। तदनुप्रविश्य सच्च त्याच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयन चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोका भवति।

जो ब्रह्म को सत्य नहीं समझता वह असत्य ही हो जाता है, परन्तु जो ब्रह्म के अस्तित्व को जानता है वह साधु पुरुष समझा जाता है।

पूर्वोक्त विज्ञानमय देह का आत्मा है, वही उसका भी देहगत आत्मा है।

अज्ञानी पुरुष मरने के बाद परलोकगामी होता है या नहीं अथवा ज्ञानी पुरुष मरने पर परलोक गामी होता है या नहीं ?

परमेश्वर ने प्रकट होने की इच्छा की, उसने तप किया और तप से तेजस्वी होकर इस दृश्य जगत को रचा और उसी में प्रविष्ट हो गया। फिर वह साकार और आकार रहित हुआ। निरुक्त, अनिरुक्त तथा आश्रय रूप एवं अनाश्रय रूप हुआ। वही चैतन्य स्वरूप और चेतनहीन भी हुआ, वही सत्य स्वरूप हुआ। बुद्धिमानों का कहना है कि जो कुछ देखा, सुना या अनुभव में आया वही सत्य है। मिथ्या भी वही हुआ (क्योंकि दिखाई न देने के कारण उसके सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होती है।)

सप्तम अनुवाक

असद्वा इदग्रम आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानँ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

यद्व तत्सुकृतं रसो वै सः। रसँह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।

यवा ह्येवेष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।

यदा ह्येवेष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्वेत भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येषश्लोको भवति।

प्राकट्य से पूर्व यह विश्व दिखाई नहीं देता था, उससे ही रस प्रत्यक्ष विश्व की उत्पति हुई। स्वयं प्रकट होने के कारण उसे 'सुकृत' कहते हैं।

सुकृत ही रस है। प्राणी इसे पाकर आनन्दित होता है। परमात्मा आकाश के समान व्यापक है। यदि वह न होता तो कौन जीवित रहता ? प्राणों की चेष्टा कौन करता ? परमेश्वर ही सबके लिए सुखदाता है।

जब यह प्राणी अदृश्य, निराकार, अनिरुक्त. निराश्रय परमेश्वर में स्थित हो जाता है तब उके अभयपद की प्राप्ति की जाती है।

जब तक जीव परमात्मा से किंचित् भी खेद रखता है, तब तक वह भय से नहीं छूट पाता। वही भय अहङ्कारी विद्वान् को भी हो जाता है।

अष्टम अनवाक

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्नि-श्चेन्द्रश्च। मृत्यर्धावति पञ्चम इति।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवा ध्यापक आशिष्ठो द्रढिष्ठो वलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

ते ये शतं मानुषा आनन्दः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्यचा कामहतस्य।

ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य। चाकामहतस्य।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्म-

देवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं देवानामानन्दः। स एको इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

स यश्चाय पुरुषे यश्चासावादित्यं त एकः। स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। ईवं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।

भय से ही वायु गतिमान है, भय से ही सूर्योदय होता है, भय से ही अग्नि, इन्द्र और यमराज अपने-अपने कर्मों को करते हैं।

अब आनन्द विषयक विवेचन किया जाता है—सदाचारी युवक शिष्ट, वेदाध्यायनयुक्त, स्वस्थ्य वलिष्ठ हो, इस पर भी उसे वैभवयुक्त पृथिवी मिल जाय तो यह संसार में एक आनन्द ही है।

मनुष्य के सौ आनन्द मनुष्य गंधर्वों के एक आनन्द के तुल्य हैं। वे आनन्द शुद्ध अन्तःकरण वाले श्रोत्रिय मनुष्य के लिये स्वभाव से ही प्राप्य हैं।

मनुष्य–गन्धर्वों के सौ आनन्द देव-गन्धर्वों के एक आनन्द के बराबर हैं और जिसकी कामनायें नष्ट हो चुकी हैं, उस श्रोत्रिय मनुष्य को वे स्वभाव से ही प्राप्य हैं।

जो पितर स्थायी रूप से पितृलोक पा चुके हैं उनके सौ आनन्द आजानज संज्ञक देवताओं का एक आनन्द है और वे कामनामुक्त वेदवेत्ता को स्वभावतः प्राप्त हैं।

आजानज संज्ञक देवों के सौ आनन्द कर्म संज्ञक देवताओं के एक आनन्द के तुल्य है, जो व्यक्ति अपने कर्म द्वारा देवों को प्राप्त हुए हैं तथा जो कामनामुक्त वेदवेत्ता हैं उन्हें वे आनन्द सहज में ही प्राप्त है।

जो कर्म देवों के सौ आनन्द हैं, वह देवताओं के एक आनन्द के समान हैं, और नष्टकाम्य वेदज्ञ के लिए वे आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त हैं।

देवताओं के सौ आनन्दों के समान इन्द्र का एक आनन्द है। और कामनामुक्त वेदवेत्ता के लिए वह स्वभाव से ही संभाव्य है।

इन्द्र के सौ आनन्दों के समान बृहस्पति का एक आनन्द है। जो वेदवेत्ता कामनाओं से मुक्त हो चुका है, वह इस आनन्द को स्वभाव से ही प्राप्त कर लेता है।

बृहस्पति के सौ आनन्दों के समान प्रजापति का एक आनन्द है। वेद के जानने वाला, मुक्तकाम्य पुरुष उस आनन्द को स्वभाव से ही पा लेता है।

प्रजापति के सौ आनन्दों के समान ब्रह्मा का एक आनन्द है। वेद के जानने वाला, कामनाओं से मुक्त पुरुष उस आनन्द को स्वभाव से ही प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य में और सूर्य में जो निहित है वह एक ही है। इस प्रकार [जानने वाला ज्ञानी इस लोक को त्याग कर अन्नमय आत्मा को प्राप्त

होता है। वह इस प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आत्मा भी प्राप्त होता है।

नवम अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।

एतँह वाव न तपति। किमँहसाधु नाकरवम। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानँस्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्यानँ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

मनयुक्त वाणी जहाँ से उसे प्राप्त न कर लौटती है उस ब्रह्मानन्द का ज्ञानी किसी से भी नहीं डरता।

ज्ञानी जन इस बात का विचार नहीं करते कि मैंने श्रेष्ठ कर्म क्यों नहीं किया? मैं पाप क्यों करता रहा? जो व्यक्ति पाप-पुण्य को जानता है, वह पाप से अपनी रक्षा करता है इस प्रकार का ज्ञाता स्वयं अपनी रक्षा कर लेता है।

भृगुवल्ली

प्रथम अनुवाक

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तँहोवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

भृगु ऋषि अपने पिता वरुण के पास गये और बोले भगवन्! मुझे ब्रह्मज्ञान बताइए। वरुण बोले—अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन

वाणी सब उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए द्वार रूप हैं। यह प्राणी जिस ब्रह्म से प्रकट होते हैं, जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अन्त में इस लोक से चले जाते और जिसमें प्रविष्ट होते हैं, वही ब्रह्म है। यह सुन कर भृगु तपस्या करने लगे।

द्वितीय अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेनजातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीत। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्येति। स तपोऽतप्त्वा।

अन्न 'ब्रह्म' है, यह तपस्या के बाद ज्ञान हुआ। यथार्थ में यह सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवित रहते हैं और मरने पर अन्न में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसा जान कर वह फिर अपने पिता के निकट गया और अपने अनुभव की बात कही। जब वे उससे सहमत न हुए तो भृगु ने उनसे कहा कि मुझे ब्रह्म का ज्ञान कराइये। तब वरुण बोले—तप के द्वारा ब्रह्म को जान, क्योंकि तप ही ब्रह्म है। यह सुन कर भृगु ने फिर तपस्या की।

तृतीय अनुवाक

प्राणो ब्रह्येति व्यजानात्। प्राणद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्भिसं-भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

प्राण ब्रह्म है, ऐसा समझ, क्योंकि यह सम्पूर्ण प्राणी प्राण से

ही उत्पन्न होकर जीवित रहते और इस लोक से जाने पर प्राण में ही मिल जाते हैं। यह सोचकर वह फिर अपने पिता के पास गया और विचार न मिलने पर बोला—मुझे ब्रह्म ज्ञान दीजिये। तब वरुण बोले कि ब्रह्म को तपस्या से जान, क्योंकि तपस्या ही ब्रह्म है। यह सुनकर उसने फिर तपस्या की।

चतुर्थ अनुवाक

मनो ब्रह्मे ति व्यजनात् मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुअरेवत्ररुणं पितरमुपससार। अधीहि भगत्रो ब्रह्मे ति त्ँहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मे ति। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा।

मन ब्रह्म है, क्योंकि मन से ही सम्पूर्ण प्राणी जन्म लेते और जीवित रहते हैं, फिर इहलोक को त्याग कर मन में ही लीन हो जाते है। इस प्रकार मन को ब्रह्म समझ कर वह पुनः वरुण के पास गया परन्तु अपने पक्ष का समर्थन न पाकर बोला— भगवान्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये। वरुण बोले—तप ही ब्रह्म है। ब्रह्म को तप से ही जान। लह सुनकर वह फिर तप करने चला गया।

पंचम अनुवाक

विज्ञानं ब्रह्मे ति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्य व खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञान पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मे ति। त्ँहोबाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मे ति'। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

विज्ञान ब्रह्म है, क्योंकि यथार्थ में विज्ञान से ही यह सब प्राणी जन्म लेते, जीवित रहते, मरते और यहां से जाकर विज्ञान में ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार विज्ञान को ब्रह्म मानकर वह पुनः वरुण के पास गया और अपनी बात का समर्थन पाकर बोला—भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश कीजिये। वरुण ने कहा—ब्रह्म को तपस्या से जान क्योंकि तपस्या ही ब्रह्म है। यह सुन कर वह फिर तपस्या करने चला गया।

षष्ठ अनुवाक

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्य-भिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजता पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या

आनन्द ही ब्रह्म है क्योंकि आनन्द से ही सबका जन्म होता है आनन्द से ही सब जीवित रपते हैं, आनन्द से ही मरते और मरकर आनन्द में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा निच्श्रय होने पर भृगु ब्रह्मज्ञानी हो गया। भृगू द्वारा अनुभव की हुई तथा वरुण द्वारा उपदेशित विद्या परम व्योम रूप ब्रह्म में स्थित है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है तथा बहुत अन्नवान, अन्न-पाचन शक्ति से युक्त, संतान पशु, ब्रह्मवर्चस्व और कीर्ति से सम्पन्न होता हुआ महान बनता है।

सप्तम अनुवाक

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीर-मन्नादम्। प्राणो शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठित वेद

प्रतिष्ठिति। अन्नावानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान कीर्त्या।

अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिए। अन्न ही व्रत है, वही प्राण है, शरीर उस अन्न का भोगने वाला है, शरीर प्राण के आश्रित है और प्राण शरीर के आश्रित है, इस प्रकार अन्न में अन्न स्थित है। जो ज्ञानी ऐसा जानता है, वह अन्न में प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् व्यक्ति अन्न से सम्पन्न, संतान, पशु, ब्रह्मवर्चस्व कीर्ति से युक्त होकर महान् बनता है।

अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत। तद् ब्रतम्। आपो वा अन्नम् ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्न का कभी परित्याग न करे। जल ही अन्न है, तेज अन्न को भोगने वाला है। जल में तेज निहित है और तेज में जल निहित है, इसी प्रकार अन्न में निहित है। जो इसे जानता है वह इस विज्ञान में निपुण हो जाता है। अन्नवान् अन्न सेवन करने में समर्थ होता है और संततिवान्, पशुवान् ब्रह्म तेजस्वी तथा कीर्तियुक्त होकर महान बन जाता है।

नवम अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम् आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी

प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्न की वृद्धि करे, यह एक व्रत है। पृथिवी ही अन्न है, आकाश अन्नाद है, पृथिवी में आकाश निहित है और आकाश में पृथिवी निहित है। अन्न में अन्न निहित है जो ज्ञानी पुरुष इसे जानता है वह प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। अन्नवान अन्न भक्षक होता है और संतान, पशु, तेज और कीर्ति वाला होकर महान् बन जाता है।

दशम अनुवाक

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद व्रतम्। तस्माद्यया कथा च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम्। मध्यतोऽस्माअन्नꣳराध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। य एवं वेद।

क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापाययोः कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवाः। तृप्तिरितिवृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। मयान् भवति। तन्मयइत्युपासीत। मानवान् भवति। तन्नभ इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः तद ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः।

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एव

वित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एत ममोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमांल्लोकान्कामान्नो कामरूप्यनुसचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते ।

हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः । अहँ् श्लोककृदहँ् श्लोककृदहँ् श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि । यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा३दि म । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्ण ज्योतीः । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ।

घर पर आये हुए को निराश न करे, यह एक व्रत है। जैसे भी हो बहुत-सा अन्न प्राप्त करे । अतिथि सेवा में तत्पर रहे और उसे अधिक आदर सहित भोजन करावे तो उसे अधिक आदर सहित ही अन्न मिलता है । यदि मध्यम श्रेणी के आदर से भोजन करावे तो मध्यम श्रेणी का और निम्न श्रेणी के आदर से भोजन करावे तो निम्न श्रेणी का अन्न मिलता है । जो इसका ज्ञाता है, वह अतिथि का सत्कार करने वाला है ।

परमेश्वर वाणी में क्षेम रूप से है, प्राणापान में योगक्षेम रूप वाला है, हाथों में कर्म-सामर्थ्य वाला है, पावों में गति करने की शक्ति से युक्त है, गुदा में मल त्याग की सामर्थ्य वाला है। यह आध्यात्मिक उपासनाओं का वर्णन हुआ । दृष्टि में तृप्ति, विद्युत में शक्ति, पशुओं में यश, नक्षत्रों में ज्योति, उपस्थ में प्रजनन शक्ति, वीर्य और सुखानुभूति और आकाश में सब का आश्रयरूप है। यह परमात्मा की दैवी उपासनाओं का वर्णन है ।

परमेश्वर सबका आश्रय रूप है यह मानकर उपासना करने वाला आश्रययुक्त हो जाता है। यह सबसे महान् है, ऐसा मानकर उपासना करे तो उपासक महान् बन जाता है, वह नमन योग्य है ऐसा मानने वाला उपासक नमस्कार योग्य होता है, वह मन है, यह मानने वाला मनस्वी होता है, वह ब्रह्म है ऐसे मानने वाला उपासक ब्रह्ममय हो जाता है, वह दुष्टों को मारने वाला है, ऐसा मानने वाले उपासक के शत्रु आदि नष्ट हो जाते हैं और अप्रिय चाहने वाले बन्धुजन भी नष्ट होते हैं।

जो इस पुरुष में है, वही सूर्य में है। वह एक ही है, जो ऐसा जानता है वह इहलोक को त्याग कर अन्नमय आत्मा को पाता है और जब अन्नमय आत्मा को पा लेता है तब प्राणमय आत्मा को पाता हुआ मनोमय आत्मा को पाकर विज्ञानमय आत्मा को पाता है। फिर आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होकर इच्छित भोगों और अभीष्ट रूप को प्राप्त होता है। फिर सब लोकों में विचरण करता हुआ सामगान में तल्लीन रहता है।

आश्चर्य है कि मैं अन्न हूँ और मैं ही अन्न का उपभोग करने वाला हूँ। मै ही इनका संयोजक हूँ। मैं सत्य रूप विश्व में देवताओं से भी पूर्व उत्पन्न होने वाला ब्रह्म में प्रतिष्ठित अमृत का नाभि रूप हूँ। जो कोई मुझे दान करता है, वह मेरी रक्षा करता है, मैं अन्न रूप होकर अन्न भक्षक का भक्षण कर लेता हूँ, मैं अखिल विश्व का तिरस्कारकर्ता हूँ, मेरा तेज सूर्य के समान है, इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी भी वैसे ही सामर्थ्य वाला होता है।

तैत्तिरीयोपनिषत् समाप्त

(८) छांदोग्योपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षु: श्रोत्रमथो बल-मिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति

'मेरे अङ्ग तृप्त हों, वृद्धि को प्राप्त हों । वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों । सब उपनिषद् ब्रह्मरूप हैं, मैं उनमें प्रतिपादित ब्रह्म का त्याग न करूँ और ब्रह्म मेरा त्याग न करे । इस प्रकार ब्रह्मरत रहते हुए मुझे उपनिषदों में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्‌गीथो रसः ॥२

स एष रसनां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥३

कतमा कतमक्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥४

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः । तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च ॥५

ॐ रूप जो अक्षर यज्ञ में उद्गाता द्वारा सर्व प्रथम उच्चारण किया जाता है वही परमात्मा का नाम और प्रतीक है । उसी ओंकार की यहाँ व्याख्या की जाती है ॥१॥ समस्त स्थावर और जङ्गम प्राणियों और पदार्थों का रस (सारांश) पृथ्वी है । पृथ्वी का रस अथवा कारण जल है । जल का रस औषधियाँ (अन्न) हैं, औषधियों का रस यह मनुष्य देह है, मनुष्य का रस (सार) वाणी है, वाणी का सार ऋचा है, ऋचा का सार साम है और साम का सार उद्गीथ (ॐकार) है ।२। यह ॐकार जो पृथ्वी आदि रसों की गणना में आठवाँ है, वह सब रसों का स्वरूप परमात्मा का प्रतीक होने के कारण परमात्मा के समान ही उपासना करने योग्य है और इसको वैसी ही भावना से ग्रहण करना चाहिए ॥३॥ अब यह विचार करना चाहिये कि कौन-कौन ऋचा है, कौन साम है, और कौन उद्गीथ है ? ॥४॥ तो मालूम होता है कि वाणी ही ऋचा है, प्राणी साम है और ॐकार ही उद्गीथ है । ऋचा रूप जो वाणी और सामरूप जो प्राण है उन दोनों का जोड़ा प्रसिद्ध है ॥५॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥६

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥७

तद्वा एतदनुज्ञारं यद्धि किं चानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा । समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥८

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति श्ꣳसत्यो-मित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥९॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥१०॥

जिस प्रकार एक मिथुन (नर और मादा का जोड़) मिलने पर पारस्परिक कामना की पूर्ति करते हैं उसी प्रकार यह वाणी और प्राण अथवा ऋचा और साम का जोड़ा जब ॐकार से मिलता है तो वह भी पूर्ण काम हो जाता है ॥६॥ जो इस प्रकार प्राप्त होने के रहस्य को जानता है और जानकर इस ॐकार रूप अक्षर की उपासना करता वह निश्चय ही कामनाओं को पूर्ण कराने वाला बन जाता है ॥७॥ यह प्रसिद्ध ॐकार अनुमति रूप भी है। क्योंकि जब कोई किसी को अनुमति देता है तो उसे प्रकट करने को ॐ ही कहता है। पर ॐकार समृद्धि रूप भी है, क्योंकि अनुमति ही समृद्धि का मूल मानी गई है। जो इस रहस्य को समझ कर ॐ की उपासना करता है वह निश्चय ही कामनाओं की समृद्धि कराने वाला होता है ॥८॥ इस ॐ से तीनों वेदों में बतलाई यज्ञादि विधि प्रचलित होती हैं। अध्वर्यु इसी का ॐ मन्त्र सुनाता है, होता इसी की प्रशंसा करता है और उद्गाता इसी का गान करता है। ये सब कर्म इस अक्षर की पूजा के निमित्त ही किये जाते हैं। ९॥ जो इसको जानता है अथवा जो इसे भली प्रकार नहीं समझता वे दोनों इसी के लिए कर्म करते हैं। विद्या और अविद्या (विज्ञान और कर्म) अलग-अलग हैं। जो कर्म विज्ञानयुक्त, आस्तिक बुद्धियुक्त' उपासनायुक्त हो किया जाता है वही अधिक शक्तिशाली होता है, ऐसा इस प्रसिद्ध अक्षर की व्याख्या (महिमा) है ॥१०॥ ॥इति प्रथम खण्ड समाप्त॥

द्वितीय खण्ड

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनानभिभविष्याम इति ॥१

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तं हासुराः प्राप्मना विविधुस्तस्मात्तेनाभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धिः ॥२॥

यथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तां हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चनृतं च पाप्मना ह्येषा विपा ॥३॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥४॥

अथ ह श्रोत्रद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥५॥

प्रसिद्ध देव और असुर दोनों प्रजापति की संतानें है। जब उन दोनों में संग्राम होने लगा तो देवों ने विचार किया कि हम उद्गीथ की उपासना के बल से असुरों को पराभूत कर सकेंगे ॥१॥ यह सोचकर उन्होंने नासिका में रहने वाले घ्राणरूप उद्गीथ की उपासना की, पर उस घ्राण को असुरों ने पाप से भ्रष्ट कर दिया। उस पाप से युक्त होने के कारण ही वह सुगन्ध और दुर्गन्ध (भली और बुरी) को ग्रहण करती है ॥२॥ तब उद्गाता ने वाणी रूप ॐकार की उपासना की पर असुरों ने उसे भी पापयुक्त कर दिया, जिससे वह सत्य और मिथ्या दोनों प्रकार का भाषण करती है ॥३॥ फिर देव नेत्ररूप ॐकार की उपासना करने लगे पर असुरों ने पाप द्वारा उसे भ्रष्ट कर दिया जिससे

वह देखने योग्य और न देखने योग्य सबको देखता है ।।४।। फिर देवगण श्रोत्ररूप ॐकार की उपासना करने लगे, तब असुरों ने उसमें भी पाप का संयोग कर दिया जिससे वह सुनने योग्य और न सुनने योग्य सभी बातों को सुनता है ।।५।।

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयँ संकल्पयते सङ्कल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्यताद्विद्धम् ।।६

अथ ह व एवायं मुख्यः प्राणस्तामुद्गीथमुपासांचकिरे । तँहासुरा ऋत्वा बिदवंसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वँसेत ।।७

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वँसता एवँहैव स विध्वँसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ।।८

नँवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन दयश्नाति यत्पिवति तेनेतरान्प्राणानवति । एतमुएवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ।।६

पाँचों इन्द्रियों की तरफ से निराश होकर देवगणों ने मन को ॐकार समझ कर उसकी उपासना की । पर जब असुरोंने उसे भी पाप से प्रभावित कर दिया तो वह विचारने योग्य और न विचारने योग्य सभी बातों पर विचार करने लगा ।।६।। तब देवताओं ने शरीर में रहने वाले मुख्य प्राण को ॐकार मान कर उपासना की । प्रसिद्ध असुरों ने पहले के समान उसे भी पापयुक्त कर देना चाहा, पर उसके निकट जाकर वे ऐसे ध्वस्त हो गये जैसे कठोर पत्थर पर लगने से मिट्टी का ढेला विदीर्ण हो जाता है ।।७।। इस प्रकार असुरगण प्राण का पराभव नहीं कर सके, इसीलिए उसकी उपासना ही कर्तव्य रूप है । जो पापी व्यक्ति इस

प्रकाह उद्गीथ (ॐकार) के रहस्य को समझने वाले का अहित साधन करना चाहता है वह उसके प्रभाव से स्वयं ही मिट्टी के ढेले की तरह छिन्न भिन्न हो जाता है । । इस रहस्य को जानने वाले को अभेद पाषाणों समान ही समझना चाहिये ॥८॥ इस प्राण के द्वारा मनुष्य सुगन्ध-दुर्गन्ध का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह पाप रहित (शुद्ध) होता है । मनुष्य उसके द्वारा जो कुछ खाता पीता है उससे वह प्राण आदि समस्त इन्द्रियों का पालन, रक्षण करता है । जब अन्त काल में प्राण द्वारा अन्न ग्रहण बन्द हो जाता है तो समस्त इन्द्रियों की शक्ति भी शरीर से बाहर निकल जाती है और मुख फटा रह जाता है ॥९॥

त्ँहाङ्गिरा उद्गीथमुपासाँचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥१०

तेन त्ँह बृहस्पति रुद्गीथमुपासाचक्र एतमु एव बृहस्पति मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥११

तेन त्ँ हायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु ऐवायास्यं मन्यन्त आस्पाद्यदयते ॥१२

तेन त्ँह बको दाल्भ्यो विदांचकार । सह नौमिशोयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥१३

आगात ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥१४

पहले अंगिरा ऋषि ने इस प्राणरूप ॐकार को प्राणरूप बन कर उपासना की थी । इससे लोग प्राण को 'अङ्गिरस' कहने लगे, अर्थात प्राण ही समस्त अंगों का रस अथवा आधार है ॥१०॥ इस प्रकार बृहस्पति ने भी प्राण की ॐकार रूप में उपासना की और तब प्राण बृहस्पति भी कहा जाने लगा । क्योंकि वाणी का एक नाम बृहती भी है और उसका पति होने से प्राण को बृहस्पति कहना यथार्थ है ॥११॥

आयास्य ऋषि ने ॐकार के रूप में प्राण की उपासना की थी, इस पर लोग प्राण को ही 'आयास्य' कहने लगे, क्योंकि "आस्य" (मुख) से जो निकले उसे आयास्य कहना यथार्थ ही है। दाल्भ्य ऋषि के पुत्र बक नाम के प्रसिद्ध ऋषि ने प्राणरूप ॐकार की उपासना की। वे नैमिषारण्य में निवास करने वाले ऋषियों के उद्गाता हुए। उन्होंने प्राणोपासना की सामर्थ्य से ही ऋषियों की कामना पूर्ति के लिए उद्गीथ गान किया ॥१३॥ इस प्रकार इस तथ्य को समझने वाला प्राणरूप ॐकार की जो उपासना करता है वह निश्चय रूप से कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है। इस प्रकार यह शरीर में रहने वाले प्राण की आध्यात्मिक उपासना है ॥१४॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

तीसरा खण्ड

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति। उद्यँस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥१

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममुं चोद्गीथमुपासीत ॥२

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक्। तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥३

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तास्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥४

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढ़स्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपान्ंस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोग्द्‌गीथमुपासीत ॥५

अब आदित्य रूप देवता से सम्बन्धित ॐकारोपासना कही जाती है। यह जो प्रसिद्ध आदित्य (सूर्य) तपता है वह ॐकार की उपासना करता है। उदय होकर समस्त मनुष्यों के लिए उच्चस्वर से उद्‌गीथ गान करता है। सूर्य के बिना अन्न पक कर तैयार नहीं हो सकता और उसके बिना लोग प्राण धारण नहीं कर सकते। इस प्रकार उसका यह कार्य उद्‌गीथ रूप ही है। वह प्राणियों के अन्धकार से उत्पन्न भय का भी निराकरण करता है। जो इस प्रकार के गुण वाले सूर्य की उपासना करता है वह जन्म-मरण के भय और उसके कारण स्वरूप अज्ञान का भी नाश कर डालता है ॥१॥ गुण और नाम की दृष्टि से यह प्राण सूर्य के तुल्य ही है। यह प्राण उष्ण है और सूर्य भी उष्ण है। प्राण को स्वर कहा जाता है, सूर्य सन्ध्या समय गमन करने से "स्वर" कहलाता है। इसलिए प्राण और सूर्य दोनों रूपों में प्राण की ॐकार के रूप में उपासना करनी चाहिए ॥२॥ 'व्यान' नामक प्रसिद्ध शरीरस्थ वायु की दृष्टि से भी ॐकारोपासना की जाती है। मनुष्य जो श्वास निकालता है वह प्राण और जो श्वास भीतर खींचता है वह अपान है। प्राण और अपान के मध्य में रहने वाली जो वृत्ति है वह व्यान है। व्यान ही वाणी है। इसलिए मनुष्य वायु को न खींचते हुये और न निकालते हुए व्यान की अवस्था में ही वाणी का स्पष्ट उच्चारण कर सकता है ॥३॥ जो वाणी है वही ऋचा है। इससे पुरुष श्वास और प्रश्वास की क्रिया को न करता हुआ भी ऋचा उच्चारण करता है। जो ऋचा है वह साम है, इसलिए श्वास-प्रश्वास को रोक कर साम का गान करता है। जो साम है वही उद्‌गीथ है। इसलिए मनुष्य

श्वास-प्रश्वास न लेता हुआ उद्गीय का गान करता है ॥४॥ इसके अतिरिक्त जो अन्य शक्ति की अपेक्षा रखने वाले कर्म हैं—जैसे अग्नि-मंथन, विशेष लक्ष्य तक दौडना, दृढ़ धनुष को खींचना इनको भी मनुष्य श्वास-प्रश्वास को रोक कर ध्यान द्वारा करता है। इस कारण ध्यास से से ॐकारोपासना (उद्गीथ) करनी चाहिये ॥५॥

ध्यान

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठिति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीद्ँ-सर्व्ँस्थितम् ।

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य वोद्वायुर्गीरग्नि स्थ्ँसामवेद ऐवोद्यजुर्वेदो गीऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य ऐतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षरा-ण्युपास्त उद्गीथ इति ।

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥८॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्य न्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥९॥

येनच्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्त्ँस्तोममुपधावेत् ॥१०॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥११॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीत यत्कामः स्तुवीतेति ।-१२॥

इसके अतिरिक्त 'उद्गीथ' शब्द के अक्षरों से भी उद्गीथ की उपासना की जाती है। इस शब्द में जो 'उद्' अक्षर है वही प्राण

हैं, क्योंकि प्राण की शक्ति से सब प्राणी उठते है। इसमें जो 'ग' अक्षर हैं वही प्राणी है। और 'थ' अक्षर है वही 'अन्न' है, क्योंकि अन्न के आधार पर हीं सब स्थित रहते हैं ।।६। अथवा ऊँचा होने से 'उत्' स्वर्ग है, 'गी' अंतरिक्ष है और 'थ' पृथ्वी है। अथवा अग्नि आदि को ग्रहण कर लेने से आदित्य ही 'उत्' है, यज्ञ-सम्बन्धी कर्म के कारण वायु ही 'गी' है, और स्वर्ग के रूप में स्तुत्य होने के कारण अग्नि ही 'थ' है। अथवा सामवेद उत्' है यजुर्वेद 'गी' है और ऋग्वेद 'थ' है। इस प्रकार जो व्यक्ति 'उद्गीथ' के रहस्य को समझ कर उसकी उपासना करता है वह वाणी के रहस्य को प्राप्त करके वेदों का ज्ञाता हो जाता हैं और बहुत से भोगों का प्राप्त करने वाला तथा उन्हे भोगने की शक्ति वाला होता है ।।७।। अब यह बताया जाता है कि उत्तम फल किस प्रकार मिल सकता है। जो साम को मानता है और उसके द्वारा उपासना करता है उसे सदा उसका चिन्तन करना चाहिये। वह साम जिस ऋचा में हो उसके ऋषि और देवता का भी चिन्तन करे। जिस (गायत्री आदि) छन्द द्वारा स्तुति करता हो उस छन्द का भी चिन्तन करे। जिस स्तोत्र से स्तुति की जाय उस स्तोत्र का भी चिन्तन करे। जिस दिशा की तरफ मुख करके स्तुति करनी हो उस दिशा का उसके अधिष्ठाता देव सहित चिन्तन करे ।।८—११।। इस प्रकार इन साम, ऋचा आदि सातों बातों को ध्यान रख कर फिर अपने नाम, गोत्रादि द्वारा अपना चिन्तन करे और जिस कामना से स्तुति करता हो उसका ध्यान करके प्रसाद रहित स्तुति करे। जो इस प्रकार परमात्मा के निकट स्तुति करता है वह शीघ्र ही अभिलाषित फल को प्राप्त करता है ।।१२

।। तृतीय खण्ड समाप्त ।।

चतुर्थ खण्ड

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥२॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि । ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥३॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳसामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥४॥

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳस्वर ममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥५॥

उद्गीथ रूप ॐ अक्षर को समझकर जो इसकी उपासना करता है, वह यज्ञादि में उसका उच्च स्वर से गान करता है । उसी ॐ की व्याख्या यहां की जाती है ॥१॥ सात्विकी वृत्ति रूप देवों ने तामसी वृत्ति रूप मृत्यु से डरते हुए तीन विद्याओं (तीन वेदों, में प्रवेश किया । उन्होंने वेद मन्त्रों द्वारा अपने को आच्छादित कर लिया जिससे वे सब छन्द आच्छादित करने वाले कहलाने लगे ॥२॥ जिस प्रकार मछली पकड़ने वाला धीवर जल के भीतर की मछली को जान लेता है उसी प्रकार मृत्यु ने देवों को ऋक, यजु, साम के कर्मों में भी देख लिया । देवताओं को भी मृत्यु की यह बात मालुम हो गई और वे ऋक, यजु, साम के कर्मों को त्याग स्वर (ॐ) में प्रविष्ट हो गये अर्थात् वैदिक कर्म काण्ड के बजाय शुद्ध परब्रह्म की उपासना करने लगे ॥३॥ जब कोई ऋक—

ऋग्वेद की ऋचा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब अत्यन्त आदर बुद्धि से ॐ का उच्चारण करता है। इसी प्रकार जब कोई साम और यजुः को जान लेता है तो वह भी अत्यन्त आदर बुद्धि से ॐ का उच्चारण करता है। इस प्रकार ॐ यद्यपि स्वर है पर वह ब्रह्म का प्रतीक है और इस लिए उसमें प्रवेश कर लेने से देवगण अमर और अभय हो गये ॥४॥ जो कोई व्यक्ति इस ॐकार को देवगण की तरह अमृत और अभय गुण वाला जान कर उपासना करता है और इस परमात्मा स्वरूप स्वर (ॐ) में प्रवेश कर जाता है वह भी मृत्यु के भय से रहित हो जाता है ॥५॥

Most Imp.

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चम खण्ड

अथ खलु य उद्गीथः न प्रणवो यः प्रणवोः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयाद्वहबो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥२॥

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथ मुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥३॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणाँस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै म भविष्यन्तीति ॥४॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ

इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥५

अब जो यह प्रसिद्ध उदगीथ है वही प्रणव (ॐ) है और जो प्रणव है वही उदगीथ है, अर्थात् ये दोनों वास्तव में एक ही हैं केवल नाम का भेद है। यह सूर्य भी प्रणव (ॐ) है, क्योंकि वह गमन करता हुआ ॐ का ही उच्चारण करता है। कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र को एक समय बताया—मैंने इसी आदित्य का ध्यान किया इससे तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू भी जो सूर्य रश्मियों का इस प्रकार ध्यान करेगा तो तेरे अनेक पुत्र होगे। (यह ॐकार की अधिदैवत उपासना है।) ॥२॥ अब अध्यात्म की दृष्टि से ॐकारोपासना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हमारा जो प्राण है वह श्वास-प्रश्वास के रूप में ॐकार की उपासना ही करता है ॥३॥ कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा कि मैंने इस प्राण का ध्यान किया इससे मुझे तू एक पुत्र प्राप्त हुआ। तूभी इस प्राण रूप परमात्मा का इस भावना से ध्यान कर कि निश्चय ही मेरे बहुत से पुत्र होंगे, ॥४॥ यह जो प्रसिद्ध उदगीथ (ॐ) है वही प्रणव है और जो प्रणव है वही उदगीथ (ॐ) है। ज्ञान-दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जो इस बात को समझता है वह यज्ञादि में उद्गाता द्वारा हुये दोष को भी प्रणव का श्रेष्ठ रीति से प्रयोग करके सुधार देता है ॥५॥

॥ पञ्चम खण्ड समाप्त ॥

षष्ठम् खण्ड

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम ॥१

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ

साम तस्माद्दच्यध्यूढं साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव स वायु रमस्तत्साम ॥२॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । तस्माद्दच्यध्यूढं साम गीयते । द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम ॥३॥

नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । तस्माद्दच्यध्यूढं साम गीयते । नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥४॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नील परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । तस्माद्दच्यध्यूढं साम गीयते ॥५॥

अब विभिन्न ऐश्वर्यों के निमित्त जो विविध प्रकार से प्रणवोपासना की जाती है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह पृथ्वी ही ऋचा (ऋक्) है और अग्नि साम है। यह साम रूपी अग्नि इस ऋचा रूपी पृथ्वी पर भली प्रकार स्थित है। इस प्रकार पृथ्वी को "सा" और अग्नि को 'अम' समझ कर साम का गान किया जाता है ॥१॥ फिर यह अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है। यह साम इस ऋक् के ऊपर स्थित है। इस प्रकार अन्तरिक्ष को 'सा' और वायु को 'अम' मान कर साम का गान किया जाता है ॥२॥ यह स्वर्ग ही ऋक है और आदित्य साम है। यह आदित्य रूप साम स्वर्ग रूप ऋक में स्थित है। इससे ऋक में स्थित साम का गान किया जाता है। इसमें स्वर्ग ही 'सा' है और आदित्य 'अम' और दोनों मिल कर साम होते हैं ॥३॥ ये नक्षत्र ही ऋक् है और नक्षत्रों का अधिपति रूप चन्द्रमा साम है। यह साम इस ऋचा के ऊपर है, इसमें ऋचा के ऊपर स्थित साम का गान किया जाता है। इससे नक्षत्र ही 'सा' है और चन्द्रमा ही 'अम' है और ये दोनों मिल कर साम हैं ॥४॥ यह जो

आदित्य रूप मण्डल का श्वेत प्रकाश है वही ऋक् है और जो नीलवर्ण (अत्यन्त कालापन) है वही साम है। वह साम इस ऋचा के ऊपर भली प्रकार स्थित है। इस प्रकार ऋक् के ऊपर साम गान किया जाता है ॥५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परःकृष्णं तदतस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥६॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥७॥

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता। स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥८

इस आदित्य का जो श्वेत प्रकाश है वही 'सा' है और जो 'नील' रूप अत्यन्त कृष्ण वर्ण है वह 'अम' है, इस प्रकार ये दोनों मिल कर साम हैं। इस आदित्य के मध्य में एक प्रकाशमान पुरुष दिखाई देता है जो सुवर्ण के समान चमकीली दाढ़ी वाला और चमकीले केशों वाला है। उसके नख से लेकर शिखा तक के समस्त अवयव प्रकाश रूप ही हैं ॥६॥ इस पुरुष के नेत्र कमल के समान सुन्दर हैं। उसका नाम 'उत्' (ऊपर को उठा हुआ) है। इन समस्त पापों से ऊपर उठे हुए परम पुरुष की जो इस भाव से उपासना करता है वह भी सब पापों से पर हो जाता है। ७.। ऋक् और साम वेद इसी पुरुष का वर्णन करते हैं, इससे वे उद्गीथ हैं। इस लिए जो उद्गाता है वह वास्तव में उसी परम पुरुष का गान करता है। वही 'उत्' नाम वाला परम

most imp'

पुरुष आदित्य से ऊँचे लोकों और देवताओं का नियामक और इच्छित फल देने वाला है। उद्गीथ (ॐ) की अधिदैवत उपासना का यही स्वरूप है ॥८॥

॥ छटवाँ खण्ड समाप्त ॥

सप्तम् खण्ड

अथाध्यात्मं वागेवक्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते। वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥१

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्ययढँ साम गीयते। चक्षुरेव सात्मामस्तत्साम ॥२

श्रोत्रमेवङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥३

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथयन्नीलं परः कृष्ण तत्साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम। तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते। अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥४

अथ य एषोऽन्तरक्षिणी पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥५

अब अध्यात्म दृष्टि से उपासना का वर्णन किया जाता है कि यह वाणी ही ऋक है और प्राण साम है। यह साम ऋक् में भली प्रकार स्थित है। इसलिए ऋक् में स्थित साम का गान किया जाता है जिसमें वाणी ही 'सा' है और प्राण ही 'अम' है तथा दोनों मिल कर साम होते हैं ॥१॥ नेत्र ही ऋक् हैं और आत्मा साम है। इससे इस ऋचा में साम का गान किया जाता है जिसमें नेत्र ही 'सा' हैं और

आत्मा ही 'अम' हैं तथा दोनों मिल साम होते हैं ॥२॥ श्रोत्र ही ऋक हैं और मन ही साम है। यह साम इस ऋचा के ऊपर स्थित है, इससे इस ऋचा में साम का गान किया जाता है। श्रोत्र ही 'सा' है और मन ही 'अम' है तथा दोनों मिलकर साम होते हैं ॥३॥ अब जो नेत्र में यह श्वेत प्रकाश है यह ऋक् है और जो नील रूप, कृष्ण वर्ण है वही साम है। यह साम इस ऋचा में स्थित है। इससे इस ऋचा में साम गान किया जाता है। इनमें नेत्रों का श्वेत प्रकाश ही 'सा' है और अति कृष्णवर्ण ही 'अम' है तथा दोनों मिलकर 'साम' होते हैं ॥४॥ अब इस नेत्र के भीतर जो पुरुष दिखाई पड़ता है वही ऋक् साम और यजुर्वेद है, वही स्तोत्र है, वही सर्वात्मा और सबका कारण है। जैसा पहले आदित्य पुरुष का रूप बतालाया है वही इसका रूप है, जो गुण थे वही इसके गुण हैं, उसका जो 'उत्' (उद्गीथ) नाम था वही इसका नाम है ॥५॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति। तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः ॥६

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति देवकामाँश्च। ७

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति मनुष्यकामाँश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येष कामागानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति ॥९

यही परम पुरुष पृथ्वी के नीचे के लोकों पर शासन करता और यही मनुष्यों के इच्छित फलों का नियामक है। यह गवैया जो वीणा में गायन करता है। वह भी उसी परम पुरुष का गायन है। इसी से

गवैया को धन की प्राप्ति होती है ॥६॥ जो इस देव को उद्गीथ रूप जानकर सूर्य और नेत्र दोनों में दिखाई देने वाले दोनों पुरुषों के लिए साम गायन करता है वह आदित्य के लोक को तथा उससे ऊपर वाले लोकों को भी प्राप्त करता है वहाँ के देवताओं के भोगों को भी प्राप्त करता है। इसी प्रकार वह पृथ्वी और पृथ्वी से भी नीचे के लोकों के भोगों को भी प्राप्त करता है तथा इच्छित फल को भी प्राप्त करता है। इस रहस्य को जानने वाला उद्गाता यजमान के प्रति इस प्रकार कहता है— 'तेरी किस-किस कामना के लिए गान करूँ ? इस प्रकार जानने वाला साम गाता है और उससे अवश्य ही इच्छित फल प्राप्त कर लेता है ॥७—६॥

॥ सातवाँ खण्ड समाप्त ॥

अष्टम खण्ड

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चै-कितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति । ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥१

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचँ श्रोष्यामीति ॥२

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥३

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच । स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच । प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥४

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य

का गतिरित न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसंस्तवं हि सामेति ॥५

तीन ऋषि उद्‌गीथ सम्बन्धी ज्ञान में निपुण थे। एक शलावान के पुत्र शिलक, चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य और तीसरे जीवत्व के पुत्र प्रवाहण। एक दिन मिलने पर तीनों कहने लगे कि हम लोग उद्‌गीथ ज्ञान को जानते हैं, अच्छा हो इस सम्बन्ध में कुछ चर्चा करें ॥१॥ उन्होंने कहा कि ऐसा ही हो और किसी उत्तम स्थान में बैठ गये। तब राजर्षि जीवत्व का पुत्र प्रवाहण बोला आप दोनों पहले चर्चा करें मैं दोनों ब्राह्मणों के वचनों को सुनूंगा ॥२॥ तब शिलक ने कहा कि "यदि आप आज्ञा दें तो मैं प्रश्न करूं ?' दाल्भ्य ने उत्तर दिया 'करो' ।३॥ शिलक ने पूछा—'उद्‌गीथ का आश्रय क्या है ? ॥ दाल्भ्य ने उत्तर दिया—उद्‌गीथ का आश्रय स्वर है।' शिलक ने पूछा 'स्वर का आश्रय क्या है ?' दाल्भ्य बोला 'प्राण'। शिलक ने फिर कहा—'प्राण का आश्रय कौन है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया 'अन्न' 'अन्न का आश्रय कौन ?' शिलक ने पूछा। दाल्भ्य ने कहा 'अन्न का आश्रय जल है (क्योंकि उसके बिना अन्न की उत्पत्ति नहीं हो सकती) ॥४॥ जल का आश्रय क्या है ?' यह प्रश्न करने पर दाल्भ्य ने कहा 'जल का आश्रय स्वर्ग है' क्योंकि जल ऊपर से वृष्टि द्वारा ही मिलता है। शिलक ने पूछा कि 'स्वर्ग लोक का आश्रय क्या है ?' दाल्भ्य ने कहा हमको स्वर्ग लोक का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। हम साम की स्थिति पूर्णतया स्वर्ग में ही मानते हैं और उसी स्वर्गभाव से उसकी स्तुति करते हैं। ।७॥

तं ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥६

हन्ताहमेतद् भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोकं इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठाँ लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठा वयं लोकं सामाभिसं स्थापयामः प्रतिष्ठासँ स्ता हि सामेति ॥७

त ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद् भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥८

तब शलावान् के पुत्र शिलक ने चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य से कहा—'हे दाल्भ्य। तुम्हारा बताया साम तो न्याय की दृष्टि से अप्रतिष्ठित है। इसलिए यदि कोई असहनशील शास्त्रार्थ करने वाला कहे कि 'तुम्हारा मस्तक गिर जायगा' तो तुम्हारा मस्तक अभी गिर जाय ॥६॥ दाल्भ्य ने कहा कि 'अगर आज्ञा हो तो मैं साम की स्थिति को आप से जानूं।' शिलक ने कहा 'हाँ, जानो।' तब दाल्भ्य ने पूछा कि 'इस स्वर्ग का आधार कौन है ?' शिलक ने कहा कि 'स्वर्ग लोक का आधार यह पृथ्वीलोक ही है (क्योंकि यहां के यज्ञों द्वारा ही स्वर्ग का पोषण होता है।' दाल्भ्य ने पूछा—'इस लोक का आश्रय कौन है ?' शिलक ने कहा 'सबके आधार रूप पृथ्वी लोक का अतिक्रमण करके आगे की बात नहीं करनी चाहिए। पृथ्वी को सब की आधार रूप कह कर ही उसकी स्तुति की जाती है। इसलिए साम पृथ्वी के आश्रय वाला ही है' ॥७॥ तब जीवल के पुत्र प्रवाहण ने कहा कि 'हे शिलक ! तुम्हारा बताया साम तक और शास्त्र द्वारा समाप्त हो जाने वाला है। इसलिए यदि कोई प्रतिद्वन्द्वी कहे कि 'तुम्हारा मस्तक गिर जाय तो तुम्हारा मस्तक अभी गिर पड़ेगा। तब शिलक ने कहा— अगर आज्ञा हो तो मैं इस रहस्य को आप से पूछूं ?' प्रवाहण ने उत्तर दिया—'पूछो ?' ॥८॥

॥ अष्टम खण्ड समाप्त ॥

नवम खण्ड

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह या इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यान्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥१

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकांजयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाँ्समुद्गीथमुपास्ते ॥२

तँ्हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥३

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति। स य एतदेव विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोक लोक इति ॥४

शिलक के प्रश्न किया कि "इस पृथ्वी लोक का आश्रय कौन है?" प्रवाहण ने उत्तर दिया "इसका आश्रय आकाश है। स्थावर और जङ्गम पदार्थ आकाश रूपी परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं और उसी परमात्मा में लय हो जाते हैं। परमात्मा ही इन जीवों से महान् है, और इसलिए तीनों कालों में वही इन सबका आश्रय है ॥१॥ वही श्रेष्ठ से अति श्रेष्ठ उद्गीथ है, वह अन्त रहित है। जो इसे इस रूप में समझता है वही अतिश्रेष्ठ उद्गीथ की उपासना करता है और उसी का जीवन निरन्तर अधिक से अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है और वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त कर लेता है ॥२॥ एक समय शुनक के पुत्र अतिधन्वा ऋषि ने इस उद्गीथोपासना का रहस्य उदरशांडिल्य को बताया था और कहा था कि 'जब तक तेरी प्रजा इस उद्गीथ को जानती रहेगी तब तक उसका इहलौकिक और पारलौकिक जीवन उत्तरोत्तर

श्रेष्ठ होता जायगा ॥३॥ इस प्रकार जो व्यक्ति इस उद्गीथ के रहस्य को जानकर उपासना करता है उसका जीवन इस लोक में उत्तरोत्तर विशिष्ट होता जाता है और परलोक में भी वह श्रेष्ठतम स्थान को प्राप्त करता है ॥४॥

॥ नौवाँ खण्ड समाप्त ॥

दशम खण्ड

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ।

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं विभिक्षे तं होवाच । नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥२

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमित्यु-च्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच ॥३

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखाद-न्निति होवाच कामो म उदकपानमिति ॥४

स ह खादित्वातिशेषांजायाया आजहार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥५

एक समय ओलों की वृष्टि से कुरु देश में खेती का नाश हो गया और बड़ा अकाल पड़ गया। उस समय चक्र ऋषि के पुत्र उषास्त अपनी बालिका पत्नी के साथ बड़ी दीन अवस्था में किसी महावतों के ग्राम में आश्रय लेकर रहने लगे थे ॥१॥ एक दिन उन उषस्ति ऋषि ने किसी महावत को बहुत निकृष्ट उड़द खाते देखा और उससे उड़द की भिक्षा मांगी। महावत ने उत्तर दिया कि "मैं इस वर्तन में जिन उड़दों को खा रहा हूँ उनके सिवाय और उड़द मेरे पास

नहीं हैं, इसलिए तुमको कहाँ से दूँ ?' उषस्ति ने कहा 'इन्हीं में से मुझे दे दे।' तब महावत ने वे उड़द उषस्ति को दे दिये और कहा कि 'इन्हें खाकर जल भी पीलो।' उषस्ति ने कहा कि 'इस जल को पीने से मुझे झूँठा जल के पीने का दोष लग जायगा' ॥३॥ इस पर महावत ने कहा 'क्या यह उड़द झूँठे नहीं थे ?' उषस्ति ने उत्तर दिया 'यदि इन उड़दों को मैं नहीं खाता तो मैं अवश्य ही जीवित नही रह सकता था. पर जल तो मुझे इच्छानुसार कहीं से मिल सकता है' ॥४॥ उषस्ति ने उन उड़दों में से एक भाग खाकर शेष ले जाकर अपनी स्त्री को दे दिये। पर स्त्री को पहले ही कोई उत्तम भिक्षा प्राप्त हो चुकी थी इसलिए उसने उन उड़दों को लेकर रख लिया ॥५॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्बतान्नस्य लभेमहि धनमात्रां राजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥६

त जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ॥७

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥८

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्ताष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥९

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वयत्ता तां चेदाविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥१०

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदाविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपत्तिष्यतीति ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥११

दूसरे दिन प्रातःकाल निद्राभङ्ग होने पर उषस्ति अपनी स्त्री को सुना कर कहने लगे कि 'यदि कहीं से थोड़ा-सा अन्न प्राप्त हो जाय तो

उसे खाकर निर्वाहार्थ कुछ धन प्राप्त कर सकता हूं। यहाँ से समीप के प्रदेश में एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह मुझे ऋत्विज का कर्म करने को वरण कर सकता है' ॥६॥ उनकी स्त्री ने कहा 'हे स्वामिन! आपके दिये हुए उड़द रखे हैं, इन्हें ले लें।' तब उषस्ति उन्हीं को खाकर राजा के यज्ञ में पहुँचा ॥७॥ वहाँ पहुंच कर वह उद्गाता के पास बैठ गया और प्रस्तोता से बोला—'हे प्रस्तोता! जिस देवता के प्रति यह स्तुति करते हो यदि तुम उसे जाने बिना स्तुति करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा' ॥८—९॥ इसी प्रकार उन्होंने उदगाता स कहा--'हे उद्गाता! उद्गीथ से सम्बन्धित देवता को तुम नहीं जानते तो उसका उद्गान करने से तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा' ॥१०॥ इसीप्रकार उन्होंने प्रतिहर्ता (उद्गाता की सहायता करने वाला ऋत्विज) से कहा—'हे प्रतिहर्ता! जिस देवता का प्रतिहार से सम्बन्ध है उसे बिना जाने यदि प्रतिहरण करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा।' यह बात सुनकर प्रस्तोता आदि सबने यज्ञ कर्म को बन्द कर दिया ॥११॥

॥ दसवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकादश खण्ड

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥१

स हो वाच भगवतं वा अहमेभिः सर्वेरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं भगवतो वा वहमवित्यान्यानवृषि ॥२

भगवाँस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच ॥३

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥४

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते । सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥५

फिर उषस्ति ऋषि से यजमान राजा ने कहा—'भगवन् ! मैं आप परम पूज्य को जानना चाहता हूँ। इस पर उषस्ति कहने लगे—'मैं चक्र का पुत्र उषस्ति हूँ ॥१॥ इस पर राजा कहने लगा—'इन सब ऋत्विजों को वरण करने पूर्व से मैंने आपकी प्रशंसा सुनकर आपको ही पहले ढुँढ़वाया था। पर जब आप न मिल सके तब इनको चुना। अब आपही मेरे समस्त यज्ञ सम्बन्धी कार्यों को यथाविधि पूर्ण कराइये।' उषस्ति ने कहा—'ऐसा ही हो। अब मैं इन्हीं प्रस्तोता आदिक को कार्य करने की अनुमति देता हूँ। पर जितना धन इन सब को मिला कर दिया जाय उतना ही मुझे मिले' राजा ने कहा—'ऐसा ही होगा' ॥२-३॥ तब प्रस्तोता उषस्ति के निकट आकर विनय पूर्वक कहने लगा कि 'आपने मुझसे कहा था कि 'हे प्रस्तोता ! तू जिस देवता की स्तुति करता है, उसे यदि नहीं जानता तो तेरा मस्तक गिर पड़ेगा अब कृपा करके बतलाइये कि वह देवता कौनसा है ?' ॥४॥ तब उषस्ति कहने लगे कि 'वह देवता प्राण है प्रलय काल में सर्वभूत प्राण में ही प्रविष्ट हो जाते हैं और सृष्टि होते समय प्राण में से ही उत्पन्न होते हैं। यही प्रस्ताव (स्तुति) के अनुगत देवता है। उसको न जान कर तुम मेरे सामने स्तुति पढ़ते तो तुम्हारा माथा गिर पड़ता' ॥५॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां

चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्क तमा सा देवतेति ॥६

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतादुगीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥७

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥८

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥९

फिर उद्गाता उषस्ति के समीप आकर बोला—"आपने मुझ से कहा था कि हे उद्गाता ! जो देवता उद्गीथ से सम्बन्धित है उसे बिना जाने तू उद्गान करेगा तो तेरा माथा गिर पड़ेगा। अब कृपाकर बता ये कि वह देवता कौन है ?' ॥६॥ इस पर उषस्ति ने उत्तर दिया—'वह देवता आदित्य है। समस्त प्राणी इस ऊपर रहने वाले आदित्य की स्तुति करते हैं। वही उद्गीथ से सम्बन्धित है। यदि इसको बिना जाने हुए तू मेरे सम्मुख उद्गान करता तो तेरा माथा गिर पड़ता ॥७॥ फिर प्रतिहर्ता इन उषस्ति ऋषि के समीप आकर कहने लगा कि 'आपने कहा था कि हे प्रतिहर्ता ! जो देवता प्रतिहरण से सम्बन्धित है अगर तू उसे नहीं जानता और मेरे सामने प्रतिहरण करता है तो मेरा माथा गिर पड़ेगा, अब कृपाकर बताइए कि वह कौनसा देवता है' ॥८॥ उषस्ति ने उतर दिया—'वह अन्न है। सब प्राणी अन्न को ग्रहण करके ही जीते हैं यही देवता प्रतिहरण से सम्बन्धित है। इसको

न जानते हुए यदि तू मेरे सम्मुख प्रतिहरण करता तो निश्चय ही तेरा माथा गिर जाता ।।६।।

।। ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ।।

द्वादश खण्ड

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ।।१

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ।।२

तान्होवाचेहैव मा प्रातरूपसमीयातेति तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ।।३

ते ह यथैवेह बहिष्प्रवमानेन स्तोस्यमाणाः सँरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हि चक्रुः ।।४

ओ ३ मदा ३ मो ३ पिबा ३ मों ३ देवो वरुणः प्रजापतिः सविता २ न्नमिहा २ हरदन्नपते ३ ऽन्नमिहा २ हरा २ हरो ३ मिति ।।५

अब अन्न के लिए लौकिक कुत्तों द्वारा किया उद्गान आरम्भ होता है। एक दिन दाल्भ्य का पुत्र बक और मित्रा का पुत्र ग्लाव, ये दोनों ऋषि स्वाध्याय के निमित्त ग्राम बाहर जल के समीप जाकर बैठ गए ।।1।। उनके स्वाध्याय से संतुष्ट होकर एक अलौकिक श्वेत श्वान (जो वास्तव में मुख्य प्राण था) वहां प्रकट हुआ। उसके पश्चात् कुछ छोटे कुत्ते वहाँ आकर उस श्वेत श्वान से बोले "आप हमारे लिए अन्न मँगाने की उद्गीथ का गायन करो, हम सब भूखे हैं" ।२।। श्वेत श्वान ने उन क्षुद्र श्वानों से कहा कल प्रातःकाल यहीं मेरे पास आना।'

इस कौतूहलजनक घटना को देखकर बक और ग्लाब भी दूसरे दिन प्रातः काल वहाँ पहुँच गए ॥३॥ प्रातः वे सब श्वान वहाँ आकर जिस प्रकार बहिष्पवमान स्तोत्र में परस्पर संलग्न 'स्तुति की जाती है उसी प्रकार परस्पर में एक दूसरे की पूँछों को मुख द्वारा पकड़ कर चक्कर लगाने लगे। इसके पश्चात् वे बैठकर 'हिंस्तोभ' का प्रारम्भ करते हुए इस प्रकार गायन करने लगे—'ॐ' भक्षण करिए, ॐ पान करिए। ॐ देव वरुण, प्रजापति, सविता, हमारे लिए यहाँ अन्न भेजो।' इस प्रकार हिंकार करके वे फिर कहने लगे–'हे अन्नपते! आप हमारे लिए यहाँ अन्न लाओ' ॥४–५॥

॥ बारहवां खण्ड समाप्त ॥

त्रयोदश खण्ड

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकारः। आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥१

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वे देवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोन्नं या वाग्विराट् ॥२

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुँकारः ॥३

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ॥४

अब एक ऐसी उपासना का वर्णन करते हैं जो साम से सम्बन्धित है और 'स्तोभ' कहलाती है। इसमें गायन होता है पर उसका कोई अर्थ नहीं होता। इस तरह स्तोभों में 'हाउ' शब्द पृथ्वी लोक के लिए आता है, 'हाइ' वायुलोक के लिए। 'अथ' चन्द्रमा के लिए प्रयुक्त किया गया है। 'इह' आत्मा है और 'ई' अग्नि है। ऐसा समझकर

यह उपासना करनी चाहिए ॥१॥ 'ऊ' आदित्य है, 'ए' आमन्त्रण का बोधक है, 'औहोमि विश्वेदेवा है, 'हिं' प्रजापति के लिए है, 'स्वर' प्राण रूप है, 'या' अन्न है 'वाक्' विराट स्वरूप है ॥२॥ तेरहवाँ स्तोभ 'हुं' है, वह सब में व्याप्त कारणरूप है। उसकी इस दृष्टि से उपासना करनी चाहिए ॥३॥ जो इस साम सम्बन्धी 'स्तोभों' की उपासना को समझ कर तदनुसार उपासना करता है उस पर वाणी अपना रहस्य आप ही प्रकट कर देती है। वह बहुत अन्न और जठराग्नि (भोगने की सामर्थ्य) वाला होता है ॥४॥

॥ तेहरवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

卐

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनँ साधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥१

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥२

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥३

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनँ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥४

साम की समस्त उपासना श्रेष्ठ। संसार में जो कुछ श्रेष्ठ है वह सब साम है, ऐसा बुद्धिमान पुरुष बतलाते हैं। जो अश्रेष्ठ है उसे 'असाम'

कहते हैं ॥१॥ इसलिये जब कोई कहता कि 'वह साम द्वारा राजा के समीप गया' तो इससे उसका श्रेष्ठ भाव प्रकट होता हैं। यदि यह कहा जाय कि 'वह असाम द्वारा राजा के समीप गया' तो इससे उसका अश्रेष्ठपना प्रकट होता है ॥२॥ इसी प्रकार यदि स्वानुभव के सम्बन्ध में हमको 'साम' प्राप्त हुआ तो वह शुभ समझा जायगा और यदि कहा जाय कि हमको 'असाम' हुआ तो वह कोई अशुभ या खेद की बात समझी जायगी ॥३॥ इस साम को जो इस प्रकार साधु (श्रेष्ठ) जान कर इसी प्रकार उपासना करता है उसे श्रेष्ठ धर्म की शीघ्र ही प्राप्ति हो जाती है ॥४॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खण्ड

लोकेषु पञ्चविधँ सामोपासीत पृथिवी हिंकारः। अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधन-मित्यूर्ध्वेषु ॥१

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गी-थोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥२

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविध सामोपास्ते ॥३

इस लोक में पाँच प्रकार से साम की उपासना की जाती है। पृथ्वी हिंसक है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रति-हार है और स्वर्ग निधन है। इस प्रकार ऊर्ध्व लोकों में साम की दृष्टि करे ॥१॥ फिर अधो लोकों में भी पाँच प्रकार की सामोपासना कही जाती है। स्वर्ग हिंसक है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ

है, अग्नि प्रतिहार है और पृथ्वी निधन है ।।२।। इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष समस्त श्रेष्ठ गुण वाले साम की उपासना करता है उसके लिए ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग रूप से मिलते हैं ।।३।।

।। द्वितीय खण्ड समाप्त ।।

तृतीय खण्ड

वृष्टौ पञ्चविधँ सामोपासीत पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ।।१

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधँ सामोपास्ते ।।२

अब वर्षा में पांच प्रकार की उपासना को बतलाते हैं । पूर्व का वायु हिंकार है, जो मेघ उत्पन्न होते हैं वे प्रस्ताव हैं, जल बरसता है वह उद्गीथ है, जो बिजली चमकती है वह प्रतिहार है, और जो जल को ग्रहण करके वर्षा समाप्त करता है वह निधन है । इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष वर्षा में पाँच प्रकार से साम की उपासना करता है उसके लिये इच्छानुसार वर्षा होती है और वह स्वयं वर्षा कराता है ।।१-२।।

।। तीसरा खण्ड समाप्त ।।

चतुर्थ खण्ड

सर्वास्वप्सु पंचविधँ सामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ।।१

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पंचविधँ सामोपास्ते ।।

समस्त जलों में पांच प्रकार की सामोपासना करे। जो मेघ एकत्रित हो घनीभूत होता है वह हिंकार है, बरसता है वह प्रस्ताव है, जो नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं वे उद्गीथ है, जो पश्चिम को बहती हैं वे प्रतिहार है और समुद्र निधन है। इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पाँच प्रकार जल में सामोपासना करता है वह जल में नहीं मरता और जलशून्य स्थान में भी जल प्राप्त कर लेता है ॥१-२॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चम खण्ड

ऋतुषु पंचविधँ सामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥१

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वानृतुषु पंचविधँ सामोपास्ते ॥२

ऋतुओं में पंचविधि सामोपासना करे। बसंत हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है और हेमन्त निधन है। इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पाँच प्रकार से ऋतुओं में सामोपासना करता है उसको ऋतुएँ उपयुक्त रूप में भोग देती हैं और ऋतुमान होता है ॥१-२॥

॥ पांचवा खण्ड समाप्त ॥

षष्ठ खण्ड

पशुषु पंचविधँ सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथाऽश्वाः प्रतिहाराः पुरुषो निधनम् ॥१

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पंचविधँ सामोपास्ते ॥२

पशुओं में पंच विधि सामोपासना करे। बकरी हिंकार हैं, भेड़ प्रस्ताव हैं, गाय उद्गीथ है, अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष निधन हैं। इस प्रकार

जानने वाला जो पुरुष पशुओं में पंच विधि सामोपासना करता है, उसे पशु मिलते हैं और पशु वाला होता है ॥१–२॥

॥ छठवां खण्ड समाप्त ॥

सप्तम् खण्ड

प्राणेषु पञ्चविध परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्‌गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाँसि वा एतानि ॥१

परोवरीयोयो हस्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥२

प्राणों (इन्द्रियों) में पाँच प्रकार से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ की उपासना करे। यह प्राण हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्‌गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है। यह सब अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस प्रकार जानने वाला जो प्राणों में पञ्च विधि अत्यन्त श्रेष्ठ साम की उपासना करता है, उसे श्रेष्ठ जीवन प्राप्त होता है और वह अतिश्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करता है। इस प्रकार की यह पंच विधि सामोपासना है ॥१–२॥

॥ सातवां खण्ड समाप्त ॥

अष्टम खण्ड

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधँ सामोपासीत यत्किं च वाचो हुमति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥१

यदुदिति स उद्‌गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपनुवो यन्नीति तन्निधनम् ॥२

अब समस्त साम की सप्तविधि उपासना कही जाती है। वाणी में सप्त विधि सामोपासना की जाती है। शब्द का जो 'हुँ' ऐसा भेद

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नन्दो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधँ सामोपास्ते ॥३

अब समस्त साम की सप्तविधि उपासना कही जाती है। वाणी में सप्त विधि सामोपासना की जाती है। शब्द का जो 'हुँ' ऐसा भेद है वह हिंकार है, 'प्र' जैसा रूप है यह प्रस्ताव है और 'अ' ऐसा रूप है वह आदि (ॐ) है। जो 'उत्' ऐसा रूप है वह उद्गीथ है, जो 'प्रति' जैसा रूप है वह प्रतिहार है और जो 'नि' ऐसा रूप है वह निधन है। इसको इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष वाणी में सप्तविधि साम की उपासना करता है उसे वाणी अपना सार देती और वह बहुत अन्न तथा प्रदीप्त जठराग्नि वाला होता है ॥१-३॥

॥ आठवाँ खण्ड समाप्त ॥

नवम खण्ड

अथ खल्वमुमादित्यँ सप्तविधँसामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥१

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥२

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशँसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नाः ॥३

अथ यत्सङ्गववेलायां स आदिस्तदस्य वयाँस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नाः ॥४

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥५

यह जो प्रसिद्ध आदित्य है उसकी दृष्टि से सप्त विधि सामोपासना करे। आदित्य कभी न घटने-बढ़ने के कारण सम रहता है। अतः वह साम है। वह सब को समान भाव उत्पन्न करता है इससे वह साम है ॥१॥ इस आदित्य में सर्वभूत आश्रित भाव से अनुगत हैं, ऐसा जाने। उसका जो उदय से पहले का रूप है वह हिंकार है। इस हिंकारयुक्त रूप के पशु अनुगत होते हैं। इसलिये वे इस आदित्य रूप साम को भजने वाले होते हैं और उसका उदय होने पर हिंकार करते हैं ॥२॥ अब उदय होने वाले सूर्य का जो प्रथम रूप है वह प्रस्ताव है। इस रूप के आश्रित भाव में मनुष्य अनुगत होते हैं। इससे वे इस साम के भजने वाले हैं, और स्तुति तथा प्रशंसा की कामना वाले होते हैं ॥३॥ अब जो सङ्गवकाल (सूर्योदय से सात घड़ी से बारह घड़ी तक के समय में) आदित्य का रूप है वह 'आदि' (ॐ) हैं। उसके आश्रितभाव से पक्षी अनुगत हैं। इससे वे इस साम के भजने वाले हैं और अपने शरीर को निरालम्ब होकर अन्तरिक्ष में ले जाते हैं ॥४॥ अब जो मध्य दिवस में सूर्य का रूप होता है, वह उद्गीथ है। इसके आश्रितभाव से देवता अनुगत होते हैं। इससे वे इस साम के भजने वाले होते हैं और प्रजापति के श्रेष्ठ संतान होते हैं ॥५॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥६

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्याऽरण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षँ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥७

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पिरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यँ सप्तविधँ सामोपास्ते ॥८

अब जो मध्य दिवस के पीछे का और अपराह्न से पहले का सूर्य का रूप है वह प्रतिहार है। इसके आश्रित भाव से गर्भ अनुगत होते हैं। इससे वे इस साम के भजने वाले हैं, और इससे वे ऊपर रहते हुए भी नीचे नहीं गिर जाते ॥६॥ अब जो अपराह्न से पीछे और अस्त होने से पहले का सूर्य का रूप है वह उपद्रव है। उसके आश्रित भाव से जङ्गली पशु अनुगत होते हैं। इससे वे इस साम के उपद्रव को भजने वाले होते हैं। इससे वे पुरुष को देखकर जङ्गल में अथवा गुफा में जाकर भय रहित हो जाते हैं ॥७॥ अब जो अस्त होते हुए सूर्य का रूप है वह निधन है। उसके आश्रित भाव से पितृगण अनुगत हैं। इससे वे इस साम के निधन को भजने वाले हैं और उनको दर्भ पर स्थापित किया जाता है। इस प्रकार सप्त विधि से इस आदित्य रूप साम की उपासना की जाती है ॥८॥

॥ नवाँ खण्ड समाप्त ॥

दशम खण्ड

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधँ सामोपासीत हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इतित्र्यक्षरं तत्समम् ॥१

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥२

उद्‌गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्टे त्र्यक्षरं तत्समम् ॥३

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविँशतिरक्षराणि ॥४

एकविँशत्यादित्यमाप्नोत्येकविँशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविँशेन परसादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ।।५

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्यदित्यजयाज्जयों भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधँ सामोपास्ते सामोपास्ते ।।६

अब परमात्मा तुल्य अतिमृत्यु रूप सात प्रकार वाले साम की उपासना करे । 'हिंकार' यह तीन अक्षर वाला शब्द है, 'प्रस्ताव' भी उसी के समान तीन अक्षरों का है और उसी के समान है ।।१।। 'आदि' यह दो अक्षरों वाला नाम है और 'प्रतिहार' चार अक्षर वाला है । इस चार अक्षर वाले में से एक अक्षर दो वाले में डाल दिया जाय तो दोनों समान हो जायेंगे ।।२।। 'उद्गीथ' यह तीन अक्षर वाला नाम है और 'उपद्रव' चार अक्षरों का है । ये तीन-तीन अक्षरों में तो समान हैं, एक अक्षर शेष रह जाता है । यह शेष रहने वाला भी 'अक्षर' कहा जाता है, जिसमें तीन ही अक्षर हैं, इसलिये वह भी साम है ।।३।। 'निधन' तीन अक्षर वाला नाम है, वह समान है । इस प्रकार कुल सात विभाग होते हैं, जिनमें कुल बाईस अक्षर हैं । इक्कीस अक्षर होने से साधक आदित्य-लोक को प्राप्त करता है (बारह महीने, पाँच ऋतुएँ और तीन लोक मिलकर बीस होते हैं आदित्य इक्कीसवाँ है ही) । बाईसवें अक्षर से साधक उस सुख रूप, शोक रहित लोक को जीत लेता है जो आदित्य से भी परे है ।।५।। इक्कीस की संख्या से साधक आदित्य को जय कर लेता है । इसको इस प्रकार जानने वाला परमात्मा-समान और मृत्यु की जय के निमित्त सप्त विधि-सामोपासना करता है । बाईसवे अक्षर से वह आदित्य से परे सत्य लोक को जीत लेता है ।।६।।

।। दसवां खण्ड समाप्त ।।

एकादश खण्ड

मनो हिंकारोवक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहार। प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥१

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥

गायत्र अब गायत्र आदि विशिष्ट फल वाली उपासनाएं बतलाई जाती हैं। मन हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्गीथ हैं, श्रोत्र प्रतिहार हैं, घ्राण निधन है। यह गायत्र-साम प्राणों में प्रतिष्ठित है ॥१॥ जो इस प्रकार इस गायत्र-साम को प्राणों में स्थित करके उपासना करता है वह प्राणवान होता है, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता है। वह कीर्ति से भी महान होता है। वह उदार मन वाला महान मनस्वी होता — यही उसका व्रत है ॥२॥

॥ ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

द्वादश खण्ड

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनं संशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥१

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥२

जो अभिमंथन किया जाता है वह हिंकार है, जो धुवाँ होता है वह प्रस्ताव है, जलना उद्गीथ है, अंगार जो होते हैं वह प्रतिहार हैं,

जो उपशम (अग्नि का बुझने लगना) होता है वह निघन है, और अग्नि जब सर्वथा बुझ जाती है अर्थात् संशय होना भी निघन ही है। यह रथन्तर साम अग्नि में स्थित है ॥१॥ जो इस प्रकार इस रथन्तर साम की अग्नि में उपासना करता है, वह तेजस्वी, प्रदीप्त जठराग्नि वाला होता है, पूर्ण आयु को पाता है, प्रतिष्ठित होता है, प्रजा तथा पशुओं से सम्पन्न होता है। वह कीर्ति से भी महान् होता है। अग्नि की ओर मुख करके कुछ भक्षण न करे और न थूके—यह व्रत है।

॥ बारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

प्रथम खण्ड

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥२

इसमें स्त्री-पुरुष के जोड़े के रूप में वामदेव्य साम की उपासना का वर्णन है कि जो व्यक्ति दाम्पत्य-धर्म के नियमों का पालन करता हुआ उपासना करता है वह गृहस्थ रूप में ही सदा सुखी रहता है। उसके सुसन्तान होती है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तथा प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता है। स्वपत्नियों के अतिरिक्त परस्त्री के लिए कामना न करे, व्यभिचार से सर्वथा विलग रहे—यह व्रत है।

॥ तेरहवाँ खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खण्ड

उद्यन्हिङ्कार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्त यन्निधनमेतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ॥१

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्त न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२

उदय होता सूर्य हिंकार है, उगा हुआ प्रस्ताव है, मध्य दिवस का उद्गीथ है, ऊपर का प्रतिहार है और जो अन्त होता है वह निधन है। यह बृहत् साम आदित्य में स्थित है ।१।। जो इस बृहत् साम की आदित्य में उपासना करता है वह क्रांतियुक्त और प्रदीप्त जठराग्निवाला होता है, पूर्ण आयु प्राप्त करता है, यशस्वी होता है, प्रजा पशुओं से महान् बनता है, सर्वत्र विख्यात होता है। आदित्य की निन्दा न करे यह व्रत है ।।२।।

।। चौदहवां खण्ड समाप्त ।।

पंचदश खण्ड

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥१

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाँश्चसुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२

बादल दौड़ते हैं, यह हिंकार है, बिजली चमकती यह प्रस्ताव है, वर्षा होती है यह उद्गीथ है, बिजली चमकती है और गर्जना होती है यह प्रतिहार है, वर्षा की समाप्ति निधन है। यह वैरूप साम पर्जन्य

में स्थित है ॥१॥ जो इस प्रकार पर्जन्य में वैरूप साम की उपासना करता है वह विरूप और सुरूप पशुओं को पाता है। पूर्ण आयु को पाता है और प्रतिष्ठायुक्त जीवन व्यतीत करता है। वह प्रजा और पशुओं से महान् होता है, और कीर्तिमान होता है। पर्जन्य की निन्दा न करे व्रत है ॥२

॥ पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त ॥

षोडश खण्ड

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥१

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तूंन्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२

अब ऋतुओं में वैराज सामोपासना कहते हैं। वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद प्रतिहार है, हेमन्त निधन है। यह वैराज साम ऋतुओं में स्थित है ॥१॥ जो इस प्रकार वैराज साम की ऋतुओं में उपासना करता है वह प्रजा द्वारा और तेज द्वारा शोभित होता है। पूर्ण आयु को पाता है, प्रतिष्ठित होता है। प्रजा और पशुओं से महान् बनता है कीर्तिमान होता है। । ऋतुओं की निन्दा न करे यह व्रत है ॥२॥

॥ षोडश खण्ड समाप्त ॥

सप्तदश खण्ड

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥१

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति

सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२

अब पृथ्वी सम्बन्धी शक्वरी सामोपासना कही जाती है। पृथ्वी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, स्वर्ग उद्गीथ है, दिशा प्रतिहार है, समुद्र निधन है। यह शक्वरी साम लोकों में स्थित है ॥ १ ॥ जो इस शक्वरी साम को इस प्रकार लोकों में स्थित जान कर उपासना करता है वह लोक वाला होता है, पूर्ण आयु पाता है, प्रतिष्ठित होता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है, कीर्तिमान होता है। लोकों की निन्दा न करे—यह व्रत है। २॥

॥ सत्रहवाँ खण्ड समाप्त ॥

अष्टादश खंड

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥१

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान् भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२

पशुओं की दृष्टि से रेवती सामोपासना कही जाती है। बकरी हिंकार है, भेड़ प्रस्ताव है, गाय उद्गीथ है, घोड़ा प्रतिहार है, पुरुष निधन है। यह रेवती साम पशुओं में स्थित है ॥१॥ जो इस प्रकार इस रेवती साम को पशुओं में स्थित जान उपासना करता है वह पशुओं वाला होता है, पूर्ण आयु पाता है, प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओं द्वारा महान् होता है तथा यशस्वी बनता है। पशुओं की निंदा न करे—यह व्रत है ॥२॥

॥ अठारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकोनविंश खंड

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो माँ्समुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥१

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयत्तद् व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥२

अब यज्ञायज्ञीय सामोपासना कहते हैं। लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है, मज्जा निधन है। यह यज्ञायज्ञीय साम शरीर के अङ्गों में स्थित है ॥ १ ॥ जो इस यज्ञायज्ञीय साम को अङ्गों में स्थित जान उपासना करता है वह समस्त अङ्गों वाला होता है, किसी अङ्ग में हीन नहीं होता है, प्रजा और पशुओं द्वारा महान् बनता है, यशस्वी होता है। अगर पहले से मांस खाने वाला हो तो एक वर्ष तक मांस-मछली न खाय—यह व्रत है ॥२॥

॥ उन्नीसवां खण्ड समाप्त ॥

विंश खंड

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गाथा नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥१

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाँ् सलोकताँ् सार्ष्टिताँ् सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२

अब देवता की दृष्टि से राजन साम की उपासना कहते हैं। अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार है, चन्द्रमा निधन है। यह राजन साम देवताओं में स्थित है ॥१॥ जो इस राजन साम को देवताओं में स्थित समझ कर उपासना करता है वह देवताओं के समान लोकों, ऋद्धियों और सायुज्य को प्राप्त होता है। वह पूर्ण आयु पाता है, प्रतिष्ठित होता है, प्रजा और पशुओं द्वारा महान् होता है तथा यशस्वी बनता है। ब्राह्मणों की निंदा न करे—यह व्रत है ॥२॥

॥ बीसवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकविंश खंड

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयांसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥१

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वं ह भवति ॥२

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥३

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतम् तद् व्रतम् ॥४

अब वेद विद्या की दृष्टि से सामोपासना कहते हैं। त्रयु वेद विद्या हिंकार है, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—ये तीन लोक प्रस्ताव हैं, अग्नि, वायु, आदित्य - ये तीन उद्गीथ हैं, नक्षत्र, किरण और पक्षी प्रतिहार हैं, सर्प, गन्धर्व, पितृ निधन हैं। यह साम सब में स्थित है ॥ १ ॥ जो इस साम-समूह को वेद-विद्या में स्थित जानकर उपासना करता है वह

सर्व रूप (ईश्वर) ही हो जाता है ॥ २ ॥ इसमें जो पाँच प्रकार के तीन-तीन बतलाये गये हैं, उनसे बढ़कर संसार में अन्य कुछ भी नहीं है ॥३॥ जो इस सर्व रूप को जानकर उपासना करता है। वह दिशाओं के भोग प्राप्त करता है। "मैं सब कुछ हूँ" इस प्रकार की उपासना उसे करनी चाहिये—यही व्रत है ॥४॥

॥ इक्कीसवाँ खण्ड समाप्त ॥

द्वाविंश खंड

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥१

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्न मात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥२

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपाल भेतेन्द्रं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥३

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतित्येनं ब्रूयादथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥४

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥५

अब उद्गाता के लिए गान विषयक उपदेश करते हैं कि जो 'विनर्दि' नाम का गायन है वह पशुओं के लिए हितकारी है। वह अग्नि का उद्गान है। प्रजापति का उद्गान अस्पष्ट है और सोम का उद्गान स्पष्ट है, वायु देवता का उद्गान मृदु और मधुर है, इन्द्र का मधुर और प्रयत्नयुक्त है, बृहस्पति का क्रौञ्च पक्षी के शब्द सदृश्य है, वरुण के फूटे हुये कांसी के बर्तन जैसा है। इनमें से सब के उद्गीथों का उच्चारण करे केवल वरुण का छोड़ दे ॥१॥ देवताओं के लिए अमृतपना का साधन करूं—ऐसा विचार कर उद्गान करे। पितृों के लिए स्वधा, मनुष्यों के लिए उनकी इच्छित बात, पशुओं के लिए घास और जल, यजमान के स्वर्गलोक, अपने लिए अन्न का साधन करूं, ऐसा उसे मन में ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार ध्यान करके सावधान होकर स्तुति करे ॥२॥ सम्पूर्ण स्वर इन्द्र की आत्मा हैं, सब ऊष्माक्षर प्रजापति की आत्मा हैं, सब स्पर्शाक्षर मृत्यु की आत्मा हैं, अगर कोई उद्गाता के स्वरोच्चारण में दोष बतलावे तो उससे कहे कि "मैं तो इन्द्र के आश्रय में था वही तुझे उत्तर देगा।" अगर कोई ऊष्माक्षरों में दोष निकाले तो उससे कहे कि "मैं तो प्रजापति के आश्रय में था वही तुझको चूर्ण करेगा।" अगर कोई उसके स्पर्शाक्षरों में दोष निकाले तो कहे कि "मैं तो मृत्यु देवता के आश्रय में था वही तुझे भस्म करेगा" ॥३-४॥ सर्व स्वर घोषयुक्त जोर से बोलने योग्य होते हैं। उनको बोलते समय ऐसा बिचार करना चाहिये कि "मैं इन्द्र में प्रयत्न की स्थापना करता हूं।" सब ऊष्माक्षर अग्रस्त (अन्तर में प्रवेश न करने वाले) अनिरस्त (बाहर न फेंके हुए) और विवृत (प्रत्यक्ष प्रयत्न वाले) होते हैं। उनका उच्चारण करते समय विचारे कि मैं प्रजापति की आत्मा को दे रहा हूं। सब स्पर्शाक्षर धीरे और एक अक्षर दूसरे में न मिल जाय इस प्रकार प्रयोग करने योग्य होते हैं। उनका चिंतन करते समय विचारे कि मैं मृत्यु की आत्मा को अपने शरीर के अवयवों से बाहर निकालता हूं ॥५॥

॥ बाईसवाँ खंड समाप्त ॥

त्रयोविंश खंड

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसँ्स्थोऽमृतत्वमेति ॥१

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥२

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शंकुना सर्वानि पर्णाणि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक्संतृण्णोङ्कार ऐवेदँ सर्वमोङ्कार एवेदँ सर्वम् ॥३

अब धर्म के तीनों स्कंधों के विषय में कहते हैं। धर्म के तीन विभाग हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान, पहला स्कन्ध है, तप दूसरा है और आचार्य के घर रहने वाला ब्रह्मचारी जो सेवा आदि द्वारा अपने शरीर को क्षीण करता है वह तीसरा है। ये सब पुण्यलोक प्राप्त करते हैं और ब्रह्म में स्थित अमृतभाव को पाते हैं ॥ १ ॥ प्रजापति लोकों का सार ग्रहण करने के उद्देश्य से तप करने लगा। उन ध्यान किए लोकों से ऋग, यजुष, साम—इन तीन विद्याओं की प्रतीत हुई। जब प्रजापति ने इन तीनों का ध्यान किया तो उसमें से भूः भुवः, स्वः की प्रतीत हुई ॥ २ ॥ जब फिर इन तीनों से सार ग्रहण करने को ध्यान किया तो ॐकार प्रतीत हुआ। यही ब्रह्म है और जिस प्रकार शंकु द्वारा समस्त पत्ता नसों से व्याप्त होता है उसी प्रकार ॐकार द्वारा समस्त वाणी (शब्द) व्याप्त होने से यह परमात्मा से भिन्न नहीं है। ॐकार ही सब कुछ है ॥३॥

॥ चौबीसवाँ खण्ड समाप्त ॥

(ॐ कार ही सब कुछ है।)

चतुर्विंश खंड

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनँ रुद्राणां माध्यन्दिनँ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीय-सवनम् ॥१

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स सस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥२

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेनगार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवँ सामाभिगायति ॥३

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्ण ३ ३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥४

अथ जुहोति नमोऽग्नयेपृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥५

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिघमित्यु-क्त्वोत्तिष्ठति तस्मै । वसवः प्रातः सवनँसम्प्रयच्छन्ति ॥६

अब यज्ञों के अङ्गों के सम्बन्ध में कहते हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःकाल का सवन वसुओं का है, मध्य दिवस रुद्रों का और तीसरा सायं सवन आदित्यों का है ॥१॥ तब यजमान का लोक कहाँ है? जो उस समय के लोक को नहीं जानता वह अज्ञानी यज्ञ क्यों करता है? इसलिए उसे जानने वाले को ही यज्ञ करना चाहिये ॥ २ ॥ प्रातःकाल अनुवाक् (ऋचा) का पाठ करने से पहले वह यजमान गार्हपत्य के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वसु देवता के साम का भली प्रकार गायन करता है—'हे अग्ने पृथ्वी लोक की प्राप्ति के लिये द्वार को खोलो जिससे राज्य प्राप्ति के निमित्त हम तुम्हें देख सकें ॥ ४ ॥ फिर इस मन्त्र द्वारा हवन करे—"पृथ्वी में निवास करने वाले, लोक में निवास करने वाले अग्नि

को नमस्कार, मैं (यजमान) लोक को प्राप्त करूँगा, यही यजमान का लोक है, मैं उसमें जाऊँगा ॥५॥ यजमान "मृत्यु के पश्चात् इस लोक में जाऊँगा, स्वाहा ।" कहकर हवन करता है और 'परिधि को दूर करो' कहकर उठ बैठता है । ऐसा करने से वसुगण उसे प्रातः सवन प्रदान करते हैं ॥६॥

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ् मुख उपविश्य स रौद्रँ सामाभिगायति ॥७

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥८

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥९

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनँ सवनँ सम्प्रयच्छन्ति ॥१०

मध्य दिवस के सवन में यजमान दक्षिणाग्नि के पीछे की तरफ उत्तराभिमुख होकर बैठे और रुद्र देवता के साम का भली प्रकार गायन करे—"हे अग्ने ! अन्तरिक्ष लोक की प्राप्ति के निमित्त द्वार खोलो । वैराज्य को प्राप्त करने के लिए हम तुम्हारा दर्शन करेंगे ॥ ७–८ ॥ फिर इस मन्त्र द्वारा हवन करे—"अन्तरिक्ष में बसने वाले तथा लोक में रहने वाले वायु को नमस्कार ! मुझ यजमान को लोक की प्राप्ति कराओ । यही यजमान का लोक है, इसी में मैं जाने वाला हूँ ॥९॥ इस लोक में यजमान आयु पूर्ण होने के पश्चात् जाने वाला है–स्वाहा ।" "परिधि को दूर करो" यह मन्त्र बोलकर उठ जाता है । इस प्रकार हवन करने से रुद्रगण उसे मध्य दिवस का सवन प्रदान करते हैं ॥१०॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ् मुख उपविश्ये स आदित्यँ स वैश्वदेवं सामाभिगायति ॥११

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयँ स्वारा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ १ १ १ १ इति ।। १२ ।। आदित्यमथ वैश्वदेवं लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयँ साम्रा ३ ३ ३ ३ ३ हु ३ म् आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ।।१३

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोक मे यजमानाय विन्दत ।।१४।।

एष वै यजमानस्य लोकं एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ।।१५

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवनँ सम्प्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ।।१६

तीसरे सवन के प्रारम्भ में आहवनीय के पीछे की तरफ उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य देवता का साम भली प्रकार गायन करे—"हे अग्ने ! स्वर्ग लोक का द्वार उन्मुक्त करो । स्वराज्य की प्राप्ति के लिए हम तुम्हारा दर्शन करेंगे" ।।११-१२।। इस प्रकार आदित्य देवता का साम गाने के पश्चात् विश्वे देवता वाला साम गावे—'हे अग्ने ! स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए द्वार को खोलो । हम साम्राज्य की प्राप्ति के निमित्त तुम्हारा दर्शन करेंगे ।।१३।। फिर इस मन्त्र से हवन करे—"स्वर्ग में बसने वाले आदित्यों तथा विश्वेदेवों को नमस्कार । मुझ यजमान को लोक की प्राप्ति कराओ । यही यजमान लोक है । आयु पूर्ण होने के पश्चात् मैं इसी में जाऊँगा—स्वाहा ।" फिर उत्थानपूर्वक कहे "परिधि को दूर करो ।" ।। १४-१५ ।। उस यजमान को आदित्य और विश्वे देव तृतीय सवन प्रदान करते हैं । जो इसे जानता है वही जानता है और उसी को फल प्राप्ति की सम्भावना होती है ।।१६।।

।। चौबीसवाँ खण्ड समाप्त ।।

।। द्वितीय अध्याय समाप्त ।।

तृतीय अध्याय

प्रथम खंड

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवँ शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ।।१

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ।।२

एतमृग्वेदमभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ।।३

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमाभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितँ रूपम् ।।४

यज्ञ का वर्णन करके अब आदित्य की स्वतन्त्र उपासना के विषय में कहते हैं—ॐकार ही सूर्य देव का मधु है । स्वर्ग लोक ही इसका टेढ़ा बाँसरूप है, अन्तरिक्ष छत्ता है और किरणें मधुमक्खियों के बच्चों की तरह हैं ।। १ ।। इस सूर्य की जो पूर्व दिशा की ओर की किरणें हैं वे ही छत्ते के छिद्र है, ऋचायें मधुमक्खी हैं, ऋग्वेद ही पुष्प है, सोम आदि अमृतरूप जल हैं ।। २ ।। वे ऋचायें ही इस ऋग्वेद का आलोचन करती हैं। उस आलोचन रूप यज्ञादि से कीर्ति, प्रकाश, इन्द्रियों का सामर्थ्य, बल और भक्षण करने योग्य अन्न की उत्पत्ति हुई ।। ३ ।। वह रस विशेष रूप से गतिशील हुआ और उसने आदित्य के पूर्व भाग में आश्रय लिया। हम जो सूर्य का लाल वर्ण वाला रूप देखते हैं वही वह रस है ।।४।।

।। प्रथम खण्ड समाप्त ।।

द्वितीय खंड

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूँष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१

तानि वा एतानि यजूँष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ॥२

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लँ रूपम् ॥३

अब जो इस सूर्य की दक्षिण की ओर किरणें हैं वे इस छत्ते की दक्षिण तरफ की मधु नाड़ियाँ हैं। यजुर्वेद के मन्त्र ही मधुमक्खी हैं यजुर्वेद ही पुष्प है और सोमादि अमृतरूप जल है ॥१॥ उन्हीं यजु मंत्रों ने यजुर्वेद को अभितप्त किया। उस अभितप्त यजु कर्मों से कीर्ति, तेज, इन्द्रिय, बल और भक्षण करने योग्य अन्न उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥ इस कीर्ति से लेकर अन्न तक के रस ने विशेष गमन किया और आदित्य का आश्रय लिया। सूर्य का जो श्वेत रूप दिखाई पड़ता है वह यही है ॥३॥

॥ दूसरा खण्ड समाप्त ॥

तृतीय खंड

अथ येऽस्यो प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेदम एवं पुष्पं ता अमृता आपः ॥१

तानि वा एतानि सामान्येतं सामवेदमभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ॥२

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णँ रूपम् ॥३

अब जो सूर्य की पश्चिम ओर की किरणें हैं वे दूसरी पश्चिम तरफ की मधु नाड़ियाँ हैं। साम-मन्त्र ही मधुमक्खी हैं, सामवेद ही पुष्प हैं और सोमादि अमृत रूप जल हैं ॥१॥ साम मन्त्रों ने सामवेद के कर्मों को अभितप्त किया। उस अभितप्त सामवेद से कीर्ति, तेज, इन्द्रिय, बल और भक्षण करने योग्य अन्न उत्पन्न हुए। इनके रस ने विशेष गमन किया और आदित्य का सब ओर से आश्रय लिया। जो इस आदित्य का काला रूप दिखाई देता है वही यह है ।२--३॥

॥ तीसरा खण्ड समाप्त ॥

चतुर्थ खंड

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥१

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपँ्स्तस्याभिरप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ् रसोऽजायत ॥२

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णँ् रूपम् ॥३

अब जो इसकी उत्तर की तरफ की किरणें हैं वे इसकी उत्तर वाली मधु नाड़ियाँ हैं। अथर्वा-मन्त्र ही मधु मक्खी हैं, इतिहास, पुराण पुष्प हैं, सोमादि अमृत रूप जल है ॥१॥ इन अथर्वा-मन्त्रों ने इतिहास पुराण आदि को अभितप्त किया। अभितप्त करने से कीर्ति, तेज, इन्द्रिय बल और भक्षण करने योग्य अन्न रूप रस निकला ॥ २ ॥ इस रस ने विशेष गमन किया और आदित्य का सब तरफ से आश्रय लिया। आदित्य का अत्यन्त काला रूप यही है ॥३॥

॥ चौथा खण्ड समाप्त ॥

पञ्चम खंड

अथ तेऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ॥२

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥३

ते वा एते रसानाँ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥४

अब जो इसकी ऊर्ध्व किरणें हैं वे ही इसकी मधु नाड़ियाँ हैं। गुह्य आदेश मधुमक्खी है, प्राण ही पुष्प है और सोमादि अमृत रूप जल हैं ॥१॥ इन गुह्य आदेशों ने इस प्रणव (ॐ) का आलोचन किया। उस आलोचन से कीर्ति, तेज, इन्द्रिय, बल और भक्षण योग्य अन्न रूप रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥ इस रस ने विशेष गमन किया और सब तरफ से आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य के मध्य में जो चलता-सा दिखाई पड़ता है वह यही मधु है। यह लोहित आदि वर्ण ही रसों के रस हैं। वेद भी रस हैं और उनके ये रस हैं। ये ही अमृतों के अमृत हैं—वेद ही अमृत हैं ॥३-४॥

॥ पाँचवाँ खण्ड समाप्त ॥

षष्ठ खंड

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२

स य एतदेवमृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्ये- तस्माद्रू पादुदेति ॥३

स यावदादित्या। पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४

अब अमृत से सम्बन्धित देव समूहों को बतलाते हैं। इनमें जो रोहित वर्ण का प्रथम अमृत है उससे वसुगण अग्नि द्वारा जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो भक्षण करते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृत को अनुभव करके ही तृप्त हो जाते हैं। वे वसुगण इसके रूप से ही उपराम हो जाते हैं और फिर समय आने पर उत्साहित हो जाते हैं ॥ २ ॥ जो इस अमृत को इस प्रकार जानता है, वह वसुओं में से ही कोई एक होकर अग्नि की प्रधानता से इस अमृत को अनुभव करके ही तृप्त हो जाता है। वह इस रूप द्वारा उदासीन होता है, फिर उत्साह वाला भी हो जाता है। वह विद्वान् जहाँ तक सूर्य पूर्व में उदय होता हैं और पश्चिम में अस्त होता है वहाँ तक वसुओं के आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होता है ॥३-४॥

॥ छठवाँ खंड समाप्त ॥

सातवां खंड

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतमाद्रूपादुद्यन्ति ॥२

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनै- तदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति सं एतदेव रूपमाभिसंविशत्येतस्मा- द्रूपादुदेति ॥३

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता दिस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्येता ॥४

अब जो दूसरा (मध्य दिन सवन नियामक) अमृत है उससे रुद्र देवगण इंद्र द्वारा उपजीवन करते हैं। देवगण खाते नहीं, पीते नहीं वे अमृत का अनुभव करके ही तृप्त हो जाते हैं ॥१॥ वे रुद्र इसी रूप को देखकर ही उपराम होते हैं और फिर उत्साहित भी होते हैं ॥२॥ जो इस अमृत की इस प्रकार उपासना करता है वह रुद्रों में से ही एक होकर इन्द्र की प्रधानता में अमृत का अनुभव करके तृप्त होता है। वह इसी रूप को देखकर उपराम होता है और इसी से उत्साहयुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥ वह उपासक जहाँ तक आदित्य पूर्व में उदय होता है और पश्चिम में अस्त होता है वहाँ तक के रुद्रों के आधिपत्य और स्वराज्य को प्राप्त करता है ॥४॥

॥ सातवाँ खण्ड समाप्त ॥

आठवाँ खंड

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येमदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३

स यावदादित्यो दक्षिणात उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेतादित्यानामेव तावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्येता ॥४

अब तीसरे अमृत से आदित्य गण वरुण द्वारा उपजीवन करते हैं। देवगण न तो खाते हैं न पीते हैं, वे अमृत का अनुभव करके ही तृप्त हो जाते हैं। वे इसी रूप से (भोगकाल न होने से) उपराम होते हैं और फिर इसी रूप से (भोगकाल आने पर) उत्साहित हो जाते हैं ॥१-२॥ जो इस अमृत की इस प्रकार उपासना करता है वह आदित्य में से ही एक होकर वरुण द्वारा इस अमृत को अनुभव करके तृप्त हो जाता है। वह इसी रूप से उपराम होता है और इसी से उत्साहयुक्त होता है ॥३॥ वह उपासक जहाँ तक सूर्य दक्षिण में उदय होता है और उत्तर में अस्त होता है वहाँ तक आदित्यों से ही आधिपत्य और स्वराज्य को प्राप्त करता है ॥४॥

॥ आठवाँ खण्ड समाप्त ॥

नौवा खंड

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येमदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्येता ॥४

अब जो चौथा अमृत है उससे मरुतगण सोम की प्रधानता से उपजीवन करते हैं। देवगण न तो खाते न पीते हैं वे इस अमृत को अनुभव करके ही तृप्त हो जाते हैं ॥१॥ इसी रूप से वे उपराम होते हैं और फिर इसी से उत्साहयुक्त होते हैं ॥ २ ॥ जो इस अमृत की इस

प्रकार उपासना करता है वह भी मरुतों में से ही एक होकर इस अमृत के अनुभव से तृप्त होता है और इसी रूप से उदासीन तथा इसी से उत्साहयुक्त होता है ॥३॥ वह उपासक जहाँ तक सूर्य पश्चिम में दृष्टिगोचर होता है और पूर्व में अस्त होता है अथवा उत्तर में उदय होता है और दक्षिण में अस्त होता है वहाँ तक मरुतों के आधिपत्य और स्वराज्य को प्राप्त करता है ॥४॥

॥ नौवाँ खण्ड समाप्त ॥

दसवाँ खंड

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवा मृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रू पादुद्यन्ति ॥२

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वं उदेतार्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्येता ॥४

अब जो पाँचवाँ अमृत है उससे साध्यगण ब्रह्मा द्वारा जीवन धारण करते हैं। देवगण खाते नहीं, पीते भी नहीं वे अनुभव करके ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥ वे इसी रूप से उदासीन होते हैं और फिर इसी से उद्यमशील हो जाते हैं ॥ २ ॥ जो इस अमृत की इस प्रकार उपासना करते हैं वह साध्यों में से ही एक होकर ब्रह्मा द्वारा इस अमृत का अनुभव करके तृप्त होता है। वह इसी रूप से उदासीन और इसी से उत्साहित होता है ॥ ३ ॥ जहाँ तक सूर्य उत्तर

में उदय और दक्षिण में अस्त होता है और उससे दूने समय तक ऊर्ध्व में उदय होता है और अधो में अस्त होता है वहाँ तक वह उपासक साध्यों के आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होता है ॥४॥

॥ दसवां खण्ड समाप्त ॥

ग्यारहवाँ खंड

अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥१

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहँ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥२

न ह दा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥३

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्टाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥४॥

इदं वाव तज्जेष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्राणाय्याय वान्ते वासिने ॥५॥

नान्यस्मैकस्मैचन यद्यप्यस्सा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥६॥

[पांच प्रकार से मधु विद्या का कथन करके अब उसके मुक्ति रूप फल को कहते हैं। इसके पश्चात् वे प्राणी ब्रह्मीभूत होकर प्रकाश पाकर न तो उदय होते हैं और न अस्त होते हैं। वे अपनी अद्वितीय आत्मा में स्थित हो जाते हैं। इसमें यह मन्त्र है—उस ब्रह्मलोक में सूर्य का उदय-अस्त नहीं होता। हे देवगण ! मैं सत्य द्वारा ब्रह्म से विरुद्ध न होऊँ अर्थात् मुझे ब्रह्म की प्राप्ति हो ॥ १-२ ॥ जो इस वेद के रहस्य

को इस प्रकार जानता है उसके लिए सूर्य कभी उदय नहीं होता न अस्त होता है। उसके लिए सदैव दिन ही है ।। ३ ।। इस मधु विद्या को हिरण्यगर्भ ने विराट से कहा, विराट ने मनु से कहा, मनु ने प्रजाओं से कहा और फिर अरुणि ने अपने बड़े पुत्र उद्दालक से कहा । ४ ।। इस ब्रह्मज्ञान को पिता बड़े पुत्र से कहे और आचार्य योग्य शिष्य से कहे, अन्य किसी से न कहे, चाहे वह आचार्य को समुद्र से परिवेष्टित और धन से भरी इस समस्त पृथ्वी को दे । क्योंकि यह ब्रह्मज्ञान उस सबसे अधिक बहुमूल्य है-यह सबसे श्रेष्ठ ।। ५-६ ।।

।। ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ।।

द्वादश खंड

गायत्री वा इदꣳसर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री बाग्वा इदꣳसर्वं भूतं गायति च त्रायते च ।।१

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याꣳहीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ।।२

य वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीर-मस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ।।३

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ।।४

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ।।५

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ।।६

तद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ।।७

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ।।८

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीꣳ श्रियं लभते य एवं वेद ।।९

अब गायत्री द्वारा ब्रह्म का निरूपण करते हैं । गायत्री ही सर्वभूत रूप है । जो कुछ स्थावर और जङ्गम है सब गायत्री ही है । वाणी ही गायत्री है और वाणी ही सब प्राणियों का कथन करती है और रक्षण करती है ।। १ ।। यह जो सर्वभूत रूप गायत्री है वही पृथ्वी है जिससे इसमें सर्वभूत रहते हैं और इसको उल्लघन करके नहीं जाते ।। २ ।। जो यह पृथ्वी रूप गायत्री है वही इस पुरुष के शरीर में है जिससे उसमें प्राण स्थित हैं और उसे त्याग कर नहीं जाते ।। ३ ।। जो इस पुरुष का शरीर है वही इसका अंतःहृदय है जिससे उसमें प्राण स्थित रहते हैं और उसे त्याग कर नहीं जाते ।। ४ ।। यह गायत्री चार पद वाली और छः प्रकार वाली है । इसके लिए यह मन्त्र भी कहा है—इस गायत्री रूप अवच्छिन्न ब्रह्म की ऐसी ही महिमा है, इससे भी महत् पुरुष है । इस ब्रह्म का एक पाद सर्वभूत है और तीन पाद वाला पुरुष अमृत और प्रकाश युक्त आत्मा में स्थित है ।५-६ ।। जो यह प्रसिद्ध ब्रह्म है वह यही है । जो इस पुरुष के बाहर आकाश है वह यही है । वह यह ब्रह्म ही है । इस पुरुष के भीतर जो आकाश है वह यही है । इस हृदय कमल के भीतर जो आकाश है वह यही है । जो इस सर्व व्यापक और अविनाशी ब्रह्म की उपासना करता है वह पूर्ण और उच्छेद रहित विभूति को प्राप्त करता है ।।७-८-९।।

।। बारहवां खण्ड समाप्त ।।

त्रयोदश खंड

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥१

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳस चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥२

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक्सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥३

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥४

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥५

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पंच ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य ऐतानेव पंच ब्रह्मपुरुषन्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥६

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥७

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣳस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एव वेद य एवं वेद ॥८

गायत्री नाम वाले ब्रह्म की उपासना के लिए अब पंच प्राण का वर्णन करते हैं। इस हृदय की पाँच (प्राण, आदित्य आदि) देवों द्वारा रक्षा कराने वाले पाँच छिद्र हैं। जो इसका पूर्व की ओर वाला छिद्र है वह प्राण है, वह चक्षु है, वह आदित्य है, वह तेज है और वही अन्नाद्य है। जो इस प्रकार जानता हुआ इसकी उपासना करता है वह तेजस्वी और अजीर्ण आदि से रहित होता है॥ १ ॥ अब जो दक्षिण वाला छिद्र है वह व्यान है, श्रोत है, चन्द्रमा है, विभूति और कीर्ति है। इस प्रकार जानकर जो इसकी उपासना करता है वह विभूति और कीर्ति वाला होता है ॥ २ ॥ अब जो इसका पश्चिम वाला छिद्र है वह अपान है, वाणी है, अग्नि है। जो इसको तेज, रूप और अन्न को भक्षण करने वाले के रूप में जानता है वह तेजस्वी है और प्रदीप्त जठराग्नि वाला होता है॥ ३ ॥ अब जो इसका उत्तर तरफ वाला छिद्र है वह समान है, अन्तःकरण है, मेघ है। वही यश और व्युष्टि है। जो इसको इस प्रकार उपासना करता है वह यशस्वी और व्युष्टि (लावण्य) वाला होता है॥ ४ ॥ अब जो इसका ऊर्ध्व द्वार या छिद्र है वह उदान है, वायु है, आकाश है। वही बल और महत्तत्व है। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह बलयुक्त और महानता वाला होता है ॥५॥ हृदय में रहने वाले परमात्मा के ये पाँच पुरुष स्वर्ग लोक के द्वारपाल हैं। जो इन पाँच पुरुषों की इस प्रकार उपासना करता है उसके कुल में वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं। जो इनकी परमात्मा लोक के द्वारपाल के रूप में उपासना करता है वह परमात्मा को पाता है ॥ ६ ॥ अब जो स्वर्ग लोक से भी ऊपर यह परम ज्योति प्रकाशित होती हैं, जो विश्व के ऊपर, सब के ऊपर तथा सबसे उत्तम लोकों में प्रकाशित होती है वही इस पुरुष की अन्तर ज्योति है। उस ज्योति का ज्ञान स्पर्श द्वारा शरीर में ज्ञात होने वाली उष्णता से होता है। इसका श्रवणोपाय यह है कि जब कानों को अंगुलियों से बन्द करके रथ,

के घोष अथवा बैल के डकराने का अथवा जलती हुई अग्नि का शब्द शरीर के भीतर सुना जाता है। जो इस ज्योति को दृष्ट और श्रुत जानकर उपासना करता है वह इससे दर्शनीय और यशस्वी होता है ।।७-६।।

।। तेरहवां खण्ड समाप्त ।।

चतुर्दश खंड

Most Imp.

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति सक्रतुं कुर्वीत ।।१

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम। सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ।। २

एष मा आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ।।३

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्यस्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ।।४।।

[प्रतीक द्वारा ब्रह्म की उपासना कहकर अब प्रतीक का त्याग करके सगुण ब्रह्म की उपासना बतलाते हैं।] यह सब निश्चय ही ब्रह्म है, क्योंकि यह जगत ब्रह्म में से ही उत्पन्न, उसी में लय होने वाला और उसी में स्थित है। रागद्वेष से मुक्त होकर उसकी उपासना करे। क्योंकि जीव निश्चय रूप है। इस शरीर में जीव जैसा निश्चय वाला होता है वैसा ही इस शरीर को त्यागने पर भी होता है। अतः उसे

Most Imp

निश्चय करना चाहिये ।। १ ।। परमात्मा मनोमय, प्राणरूप शरीर वाला, प्रकाश स्वरूप, सत्य संकल्प, आकाश जैसे स्वरूप वाला, सर्व जगत जिसका कर्म है ऐसा, सर्व काम वाला, सर्वगंध वाला, सर्वरस वाला, सर्वजगत में व्याप्त, वाणी रहित और संभ्रम रहित है ।। २ ।। यह मेरे हृदय के भीतर का आत्मा चावल से, जौ से, सरसों से व साँवा के चावल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है । साथ ही यह मेरे भीतर का आत्मा पृथ्वी से, अन्तरिक्ष से, स्वर्ग से सब लोकों से भी महान् अर्थात् अनन्त है ।। ३ ।। सर्व कर्म वाला, सर्व काम वाला, सर्व गंध वाला सर्वरस वाला, सब में व्याप्त, वाणी रहित और संभ्रम रहित यह मेरा अन्तरात्मा है । यही ब्रह्म है और शरीर के त्यागने पर मैं इसी को प्राप्त होने वाला हूँ । ऐसा जिसका निश्चिय हो और जिसको इसमें तनिक भी संशय न हो वह ईश्वरभाव को प्राप्त होता है—इस प्रकार शांडिल्य ने कहा है ।।४।।

।। चौदहवाँ खण्ड समाप्त ।।

पञ्चदश खंड

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳस एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳश्रितम् ।।१

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳरुदम् ।२

अरिष्टं कोश प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्राणं प्रपद्येऽमुनामुनामुना भू प्रपद्येऽमुनामुनामुना भुवः प्रपद्येऽमुनामुनामुना स्वः प्रपद्येऽमुनामुनामुना ।।३

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदँ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि ॥४

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥५

अण यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुप्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥६

अथ यदवोचँ स्वः प्रपद्य इत्युग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥७

अन्तरिक्ष रूप उदर वाला और पृथ्वी रूप मूल वाला कोश कभी नाश नहीं होता। सब दिशाएँ इसके कण और स्वर्ग लोग इसका ऊपर का द्वार है। यह कोश वसुधान हैं और सब कोई इसी में स्थित है ॥१॥ इस कोश की पूर्वदिशा 'जुहू' नाम वाली है, दक्षिण दिशा 'सहमाना' नाम वाली है, पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नाम वाली है और उत्तर दिशा 'सुभूता' नाम वाली है। इन दिशाओं का वायु वत्स है। जो अपने पुत्र के निमित्त इस वायु की उपासना करता है वह अपने पुत्र के लिये रोता नहीं है। "मैं वायु की दिशाओं के वत्स रूप में उपासना करता हूं इससे मैं पुत्र के लिए दुःख सहन न करूँ ॥२॥ इस-इस-इस के साथ मैं अविनाशी कोश की शरण हुआ हूँ। इस-इस-इस के साथ मैं प्राण की शरण हुआ हूं। इस-इस-इस के साथ से भूः के शरण हुआ हूँ। इस-इस-इस के साथ मैं भुवः के शरण हुआ हूं। इस-इस-इस के साथ मैं स्वः के शरण हुआ हूं। (इस मंत्र में जहाँ 'इस' लिखा गया है वहाँ अपने पुत्र का जो नाम हो उसे बोलना चाहिए) ॥ ३ ॥ मैंने जो कहा कि 'मैं प्राण की शरण हुआ हूं" उसका आशय यह है कि यह सर्व भूत प्राण ही है जिससे मैं उसकी शरण हूं ॥४॥ फिर मैंने जो कहा कि 'मैं भू की शरण हुआ हूं' तो उसका अर्थ यह कि पृथ्वी की शरण हूं, अन्तरिक्ष की शरण हूं, स्वर्ग की शरण हूं ॥ ५ ॥ फिर

जो कहा कि "भुवः की शरण हुआ हूँ" तो उसका आशय यह कि अग्नि की शरण हूँ वायु की शरण हूँ, आदित्य की शरण हूँ। ६ ॥ फिर कहा "'स्वः' की शरण हुआ हूं," उसका आशय यह कि ऋग्वेद की शरण हूँ, यजुर्वेद की शरण हूँ, सामवेद की शरण हूँ, ऐसा मैंने कहा ॥७॥

॥ पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त ॥

षोडश खंड

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवो ऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति ॥१

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातः सवनं माध्मन्दिनꣳसवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्ययदो ह भवति ॥२

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिमम्ꣳ-सवनं चतुश्चत्वारिँ् शदक्षरा त्रिष्टुप्त्रैष्टुभं माध्यन्दिनँ् सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदँ् सवँ्-रोदयन्ति ॥ ३

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनँ् सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाँ् रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥४

अथ यान्यष्ठाचत्वरिँ् शद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वा-रिँ् शतक्षरा जगतो जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वा-यत्ताः प्राणग्वावादित्या एते हीदँ् सर्वमाददते ॥५

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा-आदित्या इदं मे तृतीयस वनमायुरनुसंतनुतेति माहं प्राणानामा-दित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥६॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास एतरेयः स किं म एतदु-पतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र हे षोडशं वर्षशत जीवति एवं वेद ॥७॥

[अब अपने दीर्घ जीवन के लिए पुरुष की उपासना कहते हैं।] पुरुष ही यज्ञ है। उसके जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं वे प्रातः सवन के कर्म हैं, क्योंकि गायत्री के चौबीस अक्षर हैं और प्रातः सवन का सम्बन्ध गायत्री से ही होता है, उसके वसुगण अनुगत हैं। प्राण ही वसु हैं क्योंकि वे ही तो सबको बसाते हैं॥ १॥ अगर इस आयु में कोई दुःख उत्पन्न हो तो इस मन्त्र का जप करे—"हे प्राण रूप वसुओ! मेरे इस प्रातः सवन को माध्यदिन यज्ञ के साथ एक रूप करदो जिससे प्राणरूप वसुओं से विच्छेद न पाऊं।" ऐसा करने से वह अनुताप से मुक्त हो जाता है॥ २॥ अब जो चवालीस वर्ष है वे माध्यदिन सवन रूप हैं। क्योंकि त्रिष्टुप छन्द चवालीस अक्षर वाला है और माध्यदिन यज्ञकर्म उसी से सम्बन्धित है। इसके रुद्रगण अनुगत हैं। प्राण ही रुद्र हैं क्योंकि ये सबको रुलाते हैं॥ ३॥ इस अवस्था के बीच अगर कोई दुख आ पड़े तो इस मन्त्र को जपना चाहिये—"हे प्राणरूप रुद्रो! यह मेरा प्राणरूप मध्यदिन यज्ञ है, इसे तृतीय सवन से एक रूप करदो जिससे मैं प्राण रुद्रों के विच्छेद को प्राप्त न हूं।" इससे वह कष्ट से छूट कर अनुताप से मुक्त हो जाता है॥ ४॥ अब जो अड़तालीस वर्ष हैं वे सायंकाल के तृतीय सवन हैं। क्योंकि अड़तालीस अक्षर का जगती छन्द है और उस सम्बन्धित तीसरा सवन है। इसके आदित्य अनुगत है।

प्राण ही आदित्य हैं क्योंकि वे ही सबको ग्रहण करते हैं ॥ ५ ॥ इस आयु में अगर कोई दुःख उत्पन्न हो तो इस मन्त्र को जपना चाहिए— "हे प्राणरूप आदित्यो ! यह मेरा तीसरा सवन है, इसको एक सौ सोलह वर्ष की आयु से एक रूप करदो, जिससे मैं यज्ञरूप आदित्यों से विच्छेद को प्राप्त न होऊँ"। ऐसा करने से वह अनुताप से मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥ इस उपासना को जानने वाले इतरा के पुत्र प्रसिद्ध महिदास ने कहा था—'हे रोग ! तू मुझे यह कष्ट क्यों दे रहा है ? मैं इससे मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता।'' उसने ऐसा कहा और एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा। जो इस प्रकार उपासना करता है वह भी नीरोग रह कर एक सौ सोलह वर्ष जीता है ॥७॥

॥ सोलहवाँ खण्ड समाप्त ॥

सप्तदश खंड

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥१

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥२

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥३

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिँसा सत्यवचमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥४

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरण-मेवावभृथः ॥५

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचा पिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितम-स्यच्युतमसि प्राणसँशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥६

आदित्प्रत्नस्य रेतसः। उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यंत उत्तर७ँस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तम-मिति ज्योतिरुत्तममिति ॥७

[अब पुरुष के आत्मयज्ञ के विषय में कहते हैं।] वह जो खाने की इच्छा करता है, पीने की इच्छा करता है और जो उसमें आसक्त नहीं होता यही उसकी दीक्षा है ॥१॥ अब जो खाता है, पीता है, और प्रीति करता है वह 'उपसद' को प्राप्त करता है ।२॥ वह जो हँसता है, जो भक्षण करता है, जो मैथुन करता है वे सब स्तुति के स्तोत्रों को पाते हैं ॥३॥ तप, दान, सरलता, अहिंसा, सत्यवचन आदि शुभ कर्म इस पुरुष की दक्षिणा है ॥४॥ इससे कहते हैं "प्रसूत होगा" अथवा "प्रसूत हुआ" यह इसका जन्म है और यज्ञान्त का अवभृथ स्नान मरण है ॥५॥ इस ज्ञान को घोर आंगिरस ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को दिया और कहा कि "उसे मरण-काल में इन तीन मन्त्रों का जप करना चाहिए (१) तू क्षतरहित है (२) तू नाश रहित है (३) तू सूक्ष्म प्राण है।" आचार्य के वचन सुन कर कृष्ण अन्य उपासनाओं के विषय में तृष्णा-रहित हो गया। इस सम्बन्ध में ये ऋचाएं हैं—पुरातन कारण को सब तरफ से अज्ञान को दूर करने वाला श्रेष्ठ प्रकाश अनुभव करते, और हृदय स्थित उत्कृष्ट ज्योति का अनुभव करते हुए हम देवों में प्रकाश वाले सूर्य रूप प्रकाश को प्राप्त हुए ॥६-७॥

॥ इक्कीसवाँ खण्ड समाप्त ॥

अष्टादश खंड

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥१

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म। वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥२

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥३

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥४

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥५

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥६

(अब मन और आकाश में ईश्वरीय दृष्टि के विषय में कहते हैं।) अन्तःकरण परमात्मा है—इस प्रकार उपासना करे। यह आध्यात्मिक उपासना है। आकाश की परमात्मा रूप में उपासना अधिदैवत उपासना है ॥१॥ इस प्रकार पाद वाले ब्रह्म (मन) के वाणी, घ्राण, नेत्र और श्रोत पाद रूप हैं। यह अध्यात्म है। अब अधिदैवत दृष्टि से आकाश ब्रह्म है और अग्नि, वायु, आदित्य और दिशा चार पाद हैं। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों का उपदेश किया जाता है ॥ २ ॥ वाणी ही मनरूप ब्रह्म का चौथा पाद है, वह अग्निरूप ज्योति द्वारा प्रकाशित होता है और गति पाता है। जो ऐसा जानकर उपासना करता है वह

कीर्ति, यश, ब्रह्मतेज द्वारा प्रकाशित होता है और तपता है ।। ३ ।। प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह वायुरूप ज्योति से प्रकाशित होता है। जो इस प्रकार उपासना करता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्म तेज द्वारा प्रकाशित होता है और तपता है ।। ४ ।। नेत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह आदित्य रूप ज्योति द्वारा प्रकाशित होता है, जो इस प्रकार उपासना करता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्म तेज द्वारा प्रकाशित होता है और तपता है ।। ५ ।। श्रोत ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह दिशा रूप ज्योति द्वारा प्रकाशित होता है। जो इस प्रकार उपासना करता है वह कीर्ति, यश, ब्रह्मतेज द्वारा प्रकाशित होता है और तपता है ।। ६ ।।

।। अठारहवां खण्ड समाप्त ।।

एकोनविंश खंड

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत सत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ।।१

तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳसा द्यौर्यंज्जरायु ते पर्वता यदुल्बꣳसमेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुतकꣳस समुद्रः ।।२

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः।

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ।। ।।

(अब आदित्य रूप में ब्रह्म की उपासना कहते हैं।) कहा गया है कि आदित्य ब्रह्म हैं, उसकी व्याख्या की जाती है। यह सर्व ज्ञान पहले असत था, फिर सत् रूप हुआ। फिर वह पंचीकृत होकर अनुरूप हुआ। जब अण्डा फूटा तो उसके दो टुकड़े चाँदी रूप और सुवर्ण रूप हुए॥ १॥ जो चाँदी रूप भाग था वह पृथ्वी है और सुवर्ण रूप स्वर्ग है। उस अण्डे में जो स्थूल भाग था वह पर्वत हुए और जो सूक्ष्म था यह मेघ सहित कुहरा हुआ, शिरायें नदियाँ हुईं और मूत्राशय का जल समुद्र हुआ॥ २॥ अण्डा के फूटने पर उसमें जो गर्भ रूप था वह उत्पन्न हुआ, वही आदित्य है। उसके जन्मोत्सव के विस्तीर्ण नाद रूप शब्द उत्पन्न हुए और सब स्थावर-जङ्गम भूत तथा समस्त विषय उत्पन्न हुए। अब भी उसके उदय होने पर विस्तीर्ण नाद रूप शब्द, सब प्राणी और सब विषय उत्पन्न होते हैं॥ ॥ यह आदित्य है, ऐसा जानते हुए उसकी जो उपासना करता है उसके पास श्रेष्ठ शब्द आते हैं और सुख देते हैं॥४॥

॥ उन्नीसवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

चौथा अध्याय

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान्मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽन्नमत्स्यन्तीति॥१

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳहꣳसो हꣳ समभ्यु-

वाद हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा-
ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥२

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तँसयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथँसयुग्वा रैक्व इति ॥३

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनँसर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥४

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव । स ह संजिहान एव क्षतारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो कथँ सयुग्वा रैक्व इति ॥ ५ ॥ यथा कृतायविजितायारेधयाः संयन्त्येव-मेनँसर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ।६

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तँ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ।७

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तँ हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहँह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताविदमिति प्रत्येयाय ।।८

प्रसिद्ध जनुश्रुति राजा के पुत्र का पौत्र श्रद्धापूर्वक दान करने वाला था जिसके घर में बहुत सा अन्न पकाया जाता था। उसने अपने राज्य में इस विचार से विश्रामगृह बनवा दिये थे कि उनमें ठहर कर लोग उसका अन्न ग्रहण करें ।। १ ॥ फिर एक दिन राजा ने दो हंस रात्रि में उड़ते देखे। उनमें से एक ने दूसरे से कहा—'हे मन्ददृष्टि ! जनश्रुति राजा के पौत्रायण का तेज दिवस के समान व्याप्त हो रहा है। उसे तू स्पर्श न कर, वह कहीं तुझे जला न दे ।।२।। दूसरे हंस ने कहा—"अरे तू किस दृष्टि से इस राजा की ऐसी महानता बखान रहा है। क्या यह

गाड़ी वाले रैक्व के समान है ?" ॥३॥ पहले हंस ने पूछा—"गाड़ी वाला रैक्व कैसा है ?" इस पर उसने उत्तर दिया—"जैसे विजय पाने वाले कृत पासे से और सब नीचे हो जाते हैं, वैसे ही प्रजा जो कुछ शुभ कर्म करती है उस सबका फल इस रैक्व के पुण्य फल के अंतर्गत हो जाता है। वह रैक्व जिसको जानता है उसे और कोई नहीं जानता, उसके विषय में मुझे यह कहा गया है ॥४॥ हंसों की बात को जनश्रुति पौत्रायण सुना रहा था। प्रातःकाल उठते ही उसने स्तुति करने वाले सेवकों से कहा—"अरे इस स्तुति को गाड़ी वाले रैक्व से कहो।" सेवकों ने कहा—"गाड़ी वाला रैक्व कैसा है ?" ॥५॥ "जैसे विजय पाने वाले कृत पासे में सब नीचे के पासे अन्तर्भूत हो जाते हैं, वैसे ही प्रजा जो शुभ कर्म करती है वह सब रैक्व के पुण्य-फल के अन्तर्भूत हो जाता है। जो विषय रैक्व जानता है उसे और कोई नहीं जानता। ऐसा उसके विषय में मुझसे कहा गया है" ॥ ६ ॥ वे सेवक ढूंढ़ने से रैक्व को न पा सके और वापस लौट आये। तब राजा ने उनसे कहा "अरे जहां ब्रह्मवेत्ता को ढूंढ़ना चाहिये ऐसे एकान्त स्थान में उनको ढूंढ़ो" ॥ ७ ॥ वे सेवक जब निर्जन प्रदेश में गये तो उन्होंने गाड़ी के नीचे बैठे खुजाते हुए रैक्व को देखा और समीप जाकर विनयपूर्वक पूछा—'हे भगवन्! गाड़ी वाले रैक्व आप ही हो ?' उसने कहा—"मैं ही हूं।" यह जान कर सेवक वापस चला आया।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वतीय खंड

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तꣳहाभ्युवाद ॥१

रैक्वेमानि षटशतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवताꣳशाधि यां देवतामुपास्स इति ॥२

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिर-स्त्विति । तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रम् गवां निष्कश्चप्ररीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ।।३

तहॅंहाभ्युवाद रैक्वेदॅं सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायायं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ।।४

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्वपर्णानाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास स तस्मै होवाचः ।।५

तब जानश्रुति के पुत्र का पौत्र छः सौ गायें, हार, खच्चरीयुक्त रथ लेकर रैक्य के पास गया और उससे कहने लगा—"हे रैक्य ! ये छः सौ गायें, यह हार और यह खच्चरीयुक्त रथ मैं आपके लिए लाया हूं, इनको ग्रहण कीजिये और हे भगवन् ! जिस देव की आप उपासना करते हो उसका मुझे उपदेश दीजिये ।। १-२ ।। इस पर रैक्व ने कहा 'हे शूद्र ! गाय, हार और रथ को तू ही रख, मुझे इनकी जरूरत नहीं है ।" इस पर जानश्रुति पौत्रायण फिर एक सहस्र गायें, हार, खच्चरी-युक्त रथ और अपनी कन्या लेकर रैक्व के पास आया और कहने लगा-"हे रैक्व ! ये सहस्र गायें, यह हार यह रथ और यह आपकी पत्नीरूप मेरी पुत्री और यह गाँव जिसमें आप रहते हो मैं आपको भेंट करता हूं। अब आप मुझे उपदेश करें" ।।३-४।। उस राज कन्या को विद्या ग्रहण का साधन समझ कर भी रैक्व ने कहा—"हे शूद्र ! तू जो यह धन लाया वह ठीक है। तू मुझसे इस उपाय द्वारा कथन कराता है।" तब उस महा पवित्र स्थान में वह ग्राम "रैक्व पर्ण" नाम से विख्यात हुआ। तत्पश्चात् रैक्व राजा से कहने लगा ।।५।

। द्वितीय खण्ड समाप्त ।

तृतीय खंड

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्धायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥१

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान् सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥२

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणामेव बागप्येति प्राणं चक्षु प्राणꣳ श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥३

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥४

(अब रैक्व राजा को संवर्ग विद्या का उपदेश देने लगा) वायु ही संवर्ग है। जब आग शान्त होती है तो वह वायु में लीन हो जाती है। जब (प्रलय काल में) सूर्य अस्त होता है तो वह वायु में ही लीन हो जाता है। जब चन्द्रमा अस्त होता है तो वह वायु में ही लीन होता है। जब जल सूख जाता है तो वह वायु में ही लीन हो जाता है। इस प्रकार वायु ही इन सबको लीन कर लेने वाला है। यह अधिदैवत उपासना है॥ १–२॥ इसी को अध्यात्म दृष्टि से कहा जाय तो प्राण ही संवर्ग है। जब पुरुष सोता है तो प्राण में ही लीन होता है। प्राण में ही चक्षु, श्रोत्र और मन लीन होते हैं। प्राण इन सबको लीन कर लेता है॥ ॥ इस प्रकार दो संवर्ग हैं। वायु देवताओं में और प्राण इन्द्रियों में संवर्ग है॥४॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥५

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य

गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥६

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳहिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेद-मुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥७

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतꣳसैषा विराडन्नादि तयेदꣳसर्वं दृष्टꣳसर्वमस्येद दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥८

एक बार कपिगोत्रज शौनक और कक्षसेन का पुत्र अभिप्रतारी जब भोजन करने को बैठे थे कि एक ब्रह्मचारी ने आकर भिक्षा मांगी, पर उन्होंने निषेध कर दिया। तब ब्रह्मचारी ने कहा—"चार महान् स्वरूप वालों को भुवन का रक्षण करने वाला प्रजापति देव लीन कर लेता है। हे कापेय! उसे अज्ञ मनुष्य नहीं देखते। हे अभिप्रतारी, जिसके लिए यह अन्न लाया गया है उसी को नहीं देते।" शुनक के पुत्र शौनक ने ब्रह्मचारी के कथन पर विचार किया और कहा—"तुमने जिस देवता का कथन किया उसे हम जानते हैं। वह अग्नि और वाणी आदि जो आत्मा प्रजाओं का जनक, अभग्न दाढ़ वाला, भक्षण करने के स्वभाव वाला और पण्डित है। वह किसी से खाया जाने वाला नहीं है, पर अभक्ष्य को भी भक्षण कर लेता है। हम इसी महान् देव की उपासना करते हैं।" तब उसने उस ब्रह्मचारी को भिक्षा देने की आज्ञा दी ॥७॥ उसे भिक्षा दे दी गई। ये अग्नि आदि पांच और वाक् आदि पांच मिल कर दश होते हैं। ये सब कृत नामक पासे के समान दश होते हैं। यह विराट ही अन्न का भक्षण करने वाला है। जो इस प्रकार उपासना

करता है उसे इस सबका ज्ञान हो जाता है और वह प्रदीप्त जठराग्नि वाला होता है ।

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

चतुर्थ खंड

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रोन्वहयस्मीति ॥१

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहममिस्म सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जावालो ब्रुवीथा इति ॥२

स ह हारिद्रुमत गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥३

तँ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरँ सा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहामस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहँ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥४

तँ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधँ सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रँ संपेदुः ॥५

जबाला का पुत्र सत्यकाम अपनी माता से बोला—हे माता ! मैं आचार्य के यहाँ ब्रह्मचारी होकर रहना चाहता हूँ । मैं किस गोत्र का

हूं ?" माता ने कहा—"हे पुत्र ! तू किस गोत्र का है यह मुझे नहीं मालूम । यौवनावस्था में मैं बहुत से अतिथियों की सेवा करती थी और उसी समय तू उत्पन्न हुआ, इसलिए मैं तेरा गोत्र नहीं जानती । पर मेरा नाम जबाला है और तू सत्यकाम है, इसलिए आचार्य को तू अपना नाम सत्यकाम जबाला बतलाना ॥ १—२ ॥ वह हरिद्रुमत के पुत्र गौतम के पास जाकर कहने लगा—"हे पूज्य ! मैं आपके यहां ब्रह्मचारी होकर रहना चाहता हूं और इससे आपके पास आया हूं" ॥३॥ ऋषि ने पूछा—"हे प्रिय दर्शन ! तू किस गोत्र का है ?" उसने कहा—"भगवन् ! मैं जिस गोत्र वाला हूं उसे मैं नहीं जानता । मैंने अपनी मां से पूछा तो उसने बताया कि मैं बहुत से अतिथियों की सेवा करती थी । उसी समय यौवनावस्था में तू उत्पन्न हुआ, इससे मुझे तेरा गोत्र मालूम नहीं । पर मेरा नाम जबाला है और तू सत्यकाम है इसलिए तेरा नाम सत्यकाम जाबाल है ॥४॥ गौतम ने कहा—"कोई अब्राह्मण व्यक्ति इस प्रकार सत्य कथन करने में समर्थ नहीं हो सकता । ब्राह्मण ही ऐसी सत्य बात कह सकता है । तूने सत्य का त्याग नहीं किया इससे मैं तेरा उपनयन करूंगा, तू समिधा लेआ ।" उसका उपनयन करके आचार्य ने चार सौ दुबली और निर्बल गायें निकालीं और कहा—'तू इन गायों के पीछे जा ।' तब सत्यकाम उन गायों को जङ्गल में ले गया और कहने लगा कि "इनको एक हजार किये बिना मैं वापस नहीं आऊँगा ।" वह उनको घास और जल वाले उत्तम स्थान में ले गया, वहां बहुत समय तक रहा और जब तक सहस्र न हो गईं तब तक वापस न आया ॥५॥

॥ चौथा खंड समाप्त ॥

पञ्चम खंड

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रँ स्मः प्रापय न आचार्य-कुलम् ॥१

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥२

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥३

तब साँड़ ने कहा—"सत्यकाम ! अब हम एक हजार हो गये। अब हमको आचार्य के यहाँ ले चलो।" साँड़ फिर कहने लगा—"हे सत्यकाम ! मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाता हूँ।" सत्यकाम ने कहा—"हे भगवन् ! बतलाइये।" साँड़ कहने लगा—पूर्व दिशा वाला, पश्चिम दिशा वाला, दक्षिण दिशा वाला, और उत्तर दिशा वाला, इस प्रकार चार कलाओं वाला ब्रह्म का प्रथम पाद है और प्रकाशयुक्त है ॥ १-२ ॥ जो ब्रह्म के इस चार कला वाले पद को इस प्रकार जानकर उपासना करता है वह लोक में विख्यात होता है और देहान्त होने पर प्रकाशवान लोकों को प्राप्त होता है ॥३॥

॥ पाँचवां खण्ड समाप्त ॥

षष्ठ खंड

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य पश्चादग्नेः समिधमाधाय प्राङुपोपविवेश ॥१

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानीति तस्मै होवाच पृथ्वी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥३

स य एवमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवता ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्राह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥४

साँड़ ने फिर कहा— "ब्रह्म का दूसरा पाद तुमको अग्नि द्वारा प्राप्त होगा।" सत्यकाम गायों को ले जाते हुए संध्या होने पर ठहर गया और अग्नि जलाकर तथा गायों को अटकाकर हाथ में समिधा लेकर पूर्वाभिमुख अग्नि के समीप बैठ गया ॥ १ ॥ अग्नि ने कहा "हे सत्यकाम।" सत्यकाम बोला "हे भगवन्!" अग्नि कहने लगा— "तुमको ब्रह्म का पाद बतलाता हूँ।" सत्यकाम ने कहा— "बतलाइये।" 'पृथ्वी कला, अन्तरिक्ष कला, स्वर्ग कला, समुद्र कला—यही ब्रह्म की चार कला वाला अनन्तनाम वाला पाद है ॥२-३॥ जो ब्रह्म के चार कला वाले पद को इस प्रकार जानता हुआ इसकी अनन्तवान रूप में उपासना करता है वह पृथ्वी पर अनन्तवान् (सन्तान युक्त होता है। जो इसकी अनन्तवान् रूप में उपासना करता है वह अक्षय लोक को पाता है।" ॥४॥

॥ छठवाँ खंड समाप्त ॥

सप्तम खंड

हँसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१

तँ हँ स उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥३

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपासते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥४

अग्नि ने कहा—"हंस तुमको अन्य पाद बतलायेगा।' सत्यकाम गायों को ले जाते हुए संध्या होने पर गायों सहित ठहरा और अग्नि प्रज्ज्वलित करके उसके पश्चिम तरफ समिधा धारण कर बैठ गया ॥१॥ एक हंस उसके पास आकर बोला—"हे सत्यकाम !" सत्यकाम ने कहा—"हे भगवन् !" "हे सोम्य ! मैं तुमको ब्रह्म का एक पाद बतलाता हूं।" "बतलाइये" हंस ने कहा—अग्नि कला, सूर्य कला, चन्द्र कला, बिजली कला—यह ब्रह्म का चार कला वाला ज्योतिषमान नाम का पाद है ॥ २–३ ॥ जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस ज्योतिषमान पाद की उपासना करता है वह इस लोक में प्रकाशमान होता है। जो इस चार कला वाले पाद की इस प्रकार उपासना करता है वह सीधे प्रकाश वाले लोगों में जाता है ॥४॥

॥ सातवाँ खण्ड समाप्त ॥

षोडश खंड

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१

तं मद्गुरुपनित्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।।२

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षु कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयनन्तवान्नाम ।।३

स य एवमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥४

"मद्गु (जल पक्षी) तुझे ब्रह्म का अन्य पाद बतलाएगा" यह कहकर हंस चला गया। उस दिन गायों को ले जाते हुए संध्या को जहाँ वे सब ठहरी वहाँ अग्नि प्रज्वलित करके सत्यकाम पूर्वाभिमुख हो समीप में बैठ गया ।।१।। मदगु ने पास आकर कहा—"हे सत्यकाम! सत्यकाम बोला—"भगवन्" मद्गु ने कहा—"हे प्रिय दर्शन! तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाते हैं।" सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! बतलाइये।" "प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है, मन कला है। हे सोम्य! यह ब्रह्म का चार कला वाला 'आयतवान्' नामक पाद है ।।२–३।। जो ब्रह्म के इस पाद की 'आयतनवान्' रूप में उपासना करता है वह इस लोक में आश्रय प्राप्त करता है। जो इस ब्रह्म के पाद को इस प्रकार जानता है वह आयतन वाला लोक पाता है।।४।।

।। आठवाँ खण्ड समाप्त ।।

नवम खंड

प्राप हाचार्यकुलं तमाचर्योभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगवः इति ह प्रतिशुश्राव ।।१

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाꣳस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ।।२

श्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैमदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ।।३

जब सत्यकाम आचार्य के स्थान पर पहुँचा तो आचार्य ने कहा-"हे सत्यकाम" सत्यकाम ने कहा—"भगवन्" ।। १ ।। "हे सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता के समान दिखाई दे रहा है, तुझे किसने उपदेश दिया ?" सत्यकाम ने कहा—"मुझे मनुष्यों से भिन्न (देवों) ने उपदेश दिया है। अब आप ही मुझे उपदेश करें। मैंने भगवन् जैसे ऋषियों से सुना है कि आचार्य द्वारा सुनी विद्या ही श्रेष्ठ होती है।" तब आचार्य ने उसे इसी सोलह कला वाली विद्या का उपदेश दिया और उसमें किसी प्रकार की न्यूनता शेष न रही ।।२-३।।

।। नौवा खण्ड समाप्त ।।

दशम खंड

उपकोसलो ह वै कमलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मैव न समावर्तयति ।।१

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ।।२

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति। सहोवाच बहव इमेऽस्मि

न्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोस्मि नाशिण्यामीति ॥३

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचाः-रीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥४

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्रा हास्मै दाकाशं चोचुः ॥५

(अब अग्नि-विद्या को कहते हैं ।) कमल का पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबाल के आश्रम में ब्रह्मचर्य व्रत पूर्वक रहता था । वह बारह वर्ष तक अग्नियों की सेवा करता रहा । आचार्य ने अन्य ब्रह्मचारियों का समावर्तन कर दिया केवल इसी का नहीं किया ॥ १ ॥ आचार्य की पत्नी जया ने कहा—"इस तपस्वी ब्रह्मचारी ने भली प्रकार अग्नियों की सेवा की है । वे अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें इसलिए इसको विद्या का उपदेश दीजिए ।" पर यह सुन लेने पर भी सत्यकाम कहीं प्रवास में चला गया ॥२॥ उपकोसल ने मन की व्यथा से अनशन का विचार किया । उससे आचार्य-पत्नी जया ने कहा 'हे ब्रह्मचारी ! भोजन कर । आहार ग्रहण क्यों नहीं करता ?' उपकोसल ने कहा—"मनुष्य में इच्छा रूप दुःखी करने वाली बहुत सी कामनायें रहती हैं । उन्हीं के दुःख से मैं भोजन नहीं करूंगा ॥ ३ ॥ पीछे तीनों अग्नियों ने आपस में कहा—"इस ब्रह्मचारी ने हमारी भली प्रकार सेवा की है ! इसको ब्रह्म विद्या का उपदेश हमको करना चाहिये । अग्नि कहने लगी—"प्राण ब्रह्म है 'क' ब्रह्म है, 'ख' 'ब्रह्म है ।' उपकोसल बोला "प्राण-ब्रह्म को तो मैं जानता हूँ, पर 'क' और 'ख' ब्रह्म को नहीं जानता ।" तब अग्नियाँ कहने लगीं जो "क" (सुख) है

वही "ख" (आकाश) है और जो 'ख" है वही "क" है ।" इस प्रकार अग्नियों ने उपकोसल को प्राण और उससे सम्बन्ध रखने वाले आकाश का उपदेश दिया ॥४-५॥

॥ दसवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकादश खंड

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँ्ँ लोकेऽमुष्मिँ्ँ य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२

अब गार्हपत्य अग्नि उपदेश करने लगी—"पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य— ये मेरे चार रूप हैं । सूर्य में जो पुरुष दिखाई पड़ता है वह मैं ही हूँ । जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है वह पाप कर्मों का नाश करता है, अग्नि लोक को पाता है, पूर्ण आयु पाता है, यशस्वी होता है, उसका वंश नष्ट नहीं होता । जो इस प्रकार जानता हुआ उपासना करता है उसका हम लोक-परलोक में पालन करती हैं" ॥१-२॥

॥ ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

द्वादश खंड

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायूरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२

फिर दक्षिणाग्नि उपदेश करने लगी—"जल, दिशाएँ, नक्षत्र, चन्द्रमा ये चार मेरे शरीर हैं। चन्द्रमा में जो पुरुष दिखाई देता है वह मैं ही हूँ, ॥ १ ॥ जो इसे इस प्रकार चार रूपों में जानकर इसकी उपासना करता है, वह सब पाप कर्मों को नष्ट करके अग्नि लोक वाला होता है, पूर्ण आयु और यशस्वी जीवन पाता है तथा उसका वंश क्षय नहीं होता। जो इस प्रकार जानकर उपासना करता है हम उसका पालन इस लोक और परलोक में करती हैं ॥२॥

॥ बारहवां खण्ड समाप्त ॥

त्रयोदश खंड

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति। एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषा क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२

फिर आहवनीय अग्नि उपदेश देने लगी—"प्राण, आकाश, स्वर्ग और बिजली मेरे चार शरीर हैं। विद्युत में जो पुरुष दिखाई देता है वह मैं ही हूं—वह मैं ही हूँ ॥ १ ॥ जो इस प्रकार चार रूपों को समझकर इसकी उपासना करता है उसके पाप कर्म नष्ट होकर अग्नि लोक की प्राप्ति होती है, पूर्ण आयुष्य मिलता है, यशस्वी होता है और उसके वंश का क्षय नहीं होता। जो इस प्रकार जानकर इसकी

उपासना करता है उसका हम अग्नियाँ लोक-परलोक में पालन करती हैं ।।२।।

।। तेरहवाँ खण्ड समाप्त ।।

चतुर्दश खंड

ते होचुरुपकोसलषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गति वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ।।१

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ।।२

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्यतेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ।।३

वे अग्नियाँ कहने लगीं—'हे उपकोसल ! तेरे लिये यह हमारी अग्नि विद्या और आत्म विद्या है। आचार्य तुझे इनके फल प्राप्ति की विद्या बतायेंगे।" जब आचार्य आये तो उन्होंने कहा—'हे उपकोसल !' उपकोसल बोला—"भगवन् !" "हे प्रिय दर्शन ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता का सा दिखाई पड़ता है, तुझे किसने उपदेश दिया है ?" उपकोसल ने इस विषय को छिपाने के भाव से कहा—"मुझे उपदेश देने वाला यहाँ कौन था ?" फिर अग्नियों की ओर संकेत करके कहा—'निश्चय ही इन्होंने उपदेश दिया है, पर अब ये अन्य प्रकार की हो गई है।" आचार्य ने पूछा—"हे सौम्य ! इन्होंने तुझे क्या बतलाया ?" ।।१।२।। उपकोसल ने अग्नियों का उपदेश आचार्य को बतलाया तो उन्होंने कहा—'हे सौम्य ! इन्होंने तो

तुझे लोकों की बात बतलाई है। अब तुझे वह ज्ञान बतलाता हूँ कि जिससे मनुष्य पाप कर्म से उसी प्रकार विलग होजाता है जैसे कि कमल पत्र जल से सम्बन्ध नहीं रखता।'' उपकोसल ने कहा—भगवन्! बतलाइये'' तब आचार्य कहने लगे ॥३॥

॥ चौदहवाँ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चदश खंड

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचतद मृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिंचति वर्त्मनी एव गच्छति ॥१

एतं संयद्वाम इत्याचक्षत एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येन वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥२

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामनि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥३

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥४

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्दङ्ङेति मासां स्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं नावर्तन्ते ॥५

चक्षु में जो यह पुरुष दिखाई पड़ता है यह अविनाशी तथा अभय ब्रह्म है। उसके स्थान पर यदि जल अथवा घृत डालें तो वह पलकों में ही जाता है। इस पुरुष को संयद्वाम (शोभा वाला) कहते हैं। सब

शोभन वस्तुयें सब ओर से इसी को प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥ यह निश्चय सब पुण्य फल को प्राप्त करने वाला है। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है वह समस्त पुण्य फलों को पाता है ॥ ३ ॥ यह पुरुष निश्चय भामनी (प्रकाश रूप) भी है, क्योंकि यह सब लोकों में आदित्य रूप से प्रकाशित होता है। जो इस प्रकार उपासना करता है वह भी सब लोकों में प्रकाशमान होता है ॥४॥ ऐसे जानने वाले पुरुष का अंत्येष्टि कर्म किया जाय चाहे न किया जाय वह अर्चि देवता को ही प्राप्त होता है। वह अर्चि देवता से दिवस को, दिवस से अपूर्ण भद्र (शुक्ल) पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण छः मासों को, उत्तरायण छः मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली को प्राप्त होता हैं। वहाँ से कोई अमानव पुरुष इसे ब्रह्म (सत्य लोक) को प्राप्त करा देता है। इस देव मार्ग—ब्रह्ममार्ग से जाने वाले पुरुष फिर इस मानव-जगत में वापस नहीं आते—नहीं आते ॥५॥

॥ पन्द्रहवाँ खंड समाप्त ॥

षोडश खंड

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवन एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति। यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥१

तयोरन्यतरां मनसा सं स्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतरां स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति। २

अन्यतरामेव वर्तनीं सं स्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपादव्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञं रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥३

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सँस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ।।४

स यथोभयपाद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानो प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानो-ऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ।।५

अब नित्य कर्मों के अनुष्ठान को बतलाते हैं। यह जो चलता है वह (वायु) निश्चय ही यज्ञ है। यह चलता हुआ सब जगत को पवित्र करता है इससे यही यज्ञ है। वाणी तथा मन इस यज्ञ के मार्ग हैं।।१।। उनमें से एक मार्ग का संस्कार ब्रह्मा मन के द्वारा करता है और दूसरे का संस्कार अध्वर्यु और उद्गाता वाणी द्वारा करते हैं। यदि प्रातःकालीन अनुवाक के आरंभ होने पर अंतिम ऋचा के पूर्व ही ब्रह्मा बोल उठता है तो वह केवल एक मार्ग को ही संस्कृत करता है, पर दूसरा नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पैर से चलने वाला मनुष्य अथवा एक पहिया से चलने वाला रथ नाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार इस यज्ञ का नाश हो जाता है। यज्ञ का नाश होने से यजमान का भी नाश होता है। ऐसा यज्ञ करने से वह अधिक पापी हो जाता है ।।२-३।।अब प्रातः अनुवाक को आरम्भ करने पर समाप्ति की ऋचा के पूर्व जब ब्रह्मा नहीं बोलता तो समस्त ऋत्विज दोनों भागों को संस्कार युक्त करते हैं, उनमें से एक भी नष्ट नहीं होता ।।४।। जिस प्रकार दोनों पैरों से चलता हुआ मनुष्य अथवा दोनों पहियों से चलता हुआ रथ स्थित रहता है वैसे ही यज्ञ भी स्थित रहता है और स्थित यज्ञ से यजमान भी स्थित रहता है। ऐसे यज्ञ से वह श्रेष्ठ होता है ।।५।।

।। सोलहवाँ खण्ड समाप्त ।।

सप्तदश खंड

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषाँ तप्यमानानाँ रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥१

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाँ रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूँषि सामान्यादित्यात् ॥२

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥३

तद्यद्यृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टँ संदधाति ॥४

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टँ संदधाति ॥५

प्रजापति लोकों के उद्देश्य से तप करने लगा। उन तप किये लोकों से उसने रस ग्रहण किया। पृथ्वी से अग्नि, अंतरिक्ष से वायु और स्वर्ग से आदित्य ॥१॥ प्रजापति इन तीनों देवों को उद्देश्य करके तप करने लगा और ध्यान करके उसका सार ग्रहण किया। अग्नि से ऋक्, वायु से यजुष और आदित्य से साम को निकाला ।२। वह इन तीन विद्याओं को उद्देश्य करके तप करने लगा और ध्यान द्वारा तीनों का रस ग्रहण किया—ऋक् से भूः को, यजुष से भुवः को और साम से स्वः को निकाला ॥ ३ ॥ अब जो उस यज्ञ में ऋचा से छिद्र हो तो 'भूः स्वाहा' मन्त्र द्वारा गार्हपत्य में हवन करे। ऋचा वाले यज्ञ में जो छिद्र होता है वह ऋचाओं के सार और बल से ही सुधारा जाता है ॥४॥ अब जो यज्ञ में यदि यजुषा से छिद्र हो तो 'भुवः स्वाहा' कह कर दक्षिणाग्नि में हवन करे। यजुः से सम्बन्ध वाले यज्ञ में ज क्षत

होता है उसे यजु: श्रुतियों के सार और शक्ति से ही सुधारा जाता है ।.५॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्सा-म्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टँ् संदधाति ॥६

तद्यथा लवणेन सुवर्णँ् संदध्यात्सुवर्णेन रजतँ् रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसँ् सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥७

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टँ् संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥८

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवत्येवंविदँ् ह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो आवर्तते तत्तद् गच्छति ॥६

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञम् यजमानँ् सर्वाँ् श्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेव-विदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंदम ॥१०

अब यदि यज्ञ में साम से छिद्र हो तो 'स्वः स्वाहा' कह कर आहवनीय में होम करे। साम वाले यज्ञ के क्षत को साम से सार और शक्ति से ही सुधारा जाता है ॥६॥ जिस प्रकार क्षार (सुहागा) से सोने को, सोने से चाँदी को, चाँदी से राँग को, राँग से सीसा को, सीसा से लोहा को, लोहा से काष्ठ को तथा चमड़े से काष्ठ को जोड़ा जाता है उसी तरह इन देवों के और तीनों विद्याओं के रस से यज्ञ के छिद्र को सुधारा जाता है। जिस यज्ञ में इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ निश्चय ही ओषधियों द्वारा सुधारा हुआ होता है ॥ ७-८ ॥ जिसमें इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा होता है वह प्रसिद्ध यज्ञ उत्तरमार्ग की प्राप्ति कराने वाला होता है। ऐसे ब्रह्मा के विषय में यह गाथा है—

जिस-जिस जगह यज्ञ में छिद्र होता है वहीं ब्रह्मा उसे सुधार देता है ।।९।। मनन करने वाला ब्रह्मा रूप एक ही ऋत्विक सब यज्ञ-कर्त्ताओं का पालन करता है । जैसे घोड़ी योद्धाओं का पालन करती है वैसे ही ब्रह्मा सब ऋत्विकों के दोषों की पूर्ति करता है । इससे ऐसे जानने वाले को ही ब्रह्मा बनाये । ऐसा न जानने वाले को न बनावे, ऐसा न जानने वाले को कभी न बनावे ।।१०।।

।। सत्रहवाँ खण्ड समाप्त ।।

।। चौथा अध्याय समाप्त ।।

पञ्चम अध्याय

प्रथम खण्ड

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ।।१

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ।।२

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ।।३

यो ह वै संपदं वेद सँ हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ।।४

यो ह वा आयतनं वेदायतनँ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ।।५

[अब तक सगुण ब्रह्म की उपासना का देवयान मार्ग बतलाया । इस पाँचवें अध्याय में पंचाग्निविद्या कही जाती है ।] जो ज्येष्ठ को और श्रेष्ठ को जानता है वह निश्चय ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है । प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ।। १ ।। जो वसिष्ठ (अत्यन्त धनवान) को जानता

है वह अपने समुदाय में अत्यन्त धन वाला होता है। वाणी ही अत्यन्त धनवान है।।२।। जो प्रतिष्ठा को जानता है वह लोक और परलोक में स्थित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है।। ३ ।। जो सम्पद् को जानता है उसे देव सम्बन्धी विषय तथा मनुष्य सम्बन्धी विषय प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही सम्पत्ति है ।।४।। जो आयतन (आश्रय) को जानता है वह जाति वालों का आश्रय होता है। मन ही आश्रय है ।।५।।

अथ ह प्राणा अहँ् श्रेयसि व्यूदिरेऽहँ् श्रेयानस्म्यहँ श्रेयानस्मीति ।।६

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ।।७

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ।।८

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ।।९

श्रोत्रँ् होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा बधिरा अशृण्वन्त प्राणान्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ।।१०

एक समय प्राण (वाणी आदि इन्द्रियाँ) परस्पर विवाद करने लगीं कि "मैं श्रेष्ठ हूं"—मैं श्रेष्ठ हूँ" ।।६।। तब वे इन्द्रियाँ प्रजापति

रूप पिता के पास आकर पूछने लगीं—"हम में से कौन श्रेष्ठ है ?" उसने उत्तर दिया—"तुममें से जिसके बाहर निकल जाने से शरीर सर्वाधिक शवरूप दिखाई पड़ने लगे वही श्रेष्ठ है" ॥ ७ ॥ तब वाणी बाहर चली गई। वह एक वर्ष तक प्रवास करके लौटी। उसने पूछा—'मेरे बिना तुम जीने को कैसे समर्थ हुए ?" अन्य इन्द्रियों ने कहा—"जैसे गूँगा वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से श्वासोच्छ्वास करते हैं, नेत्रों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, मन से विचारते हैं और इस प्रकार जीते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। तब वाणी ने पुनः प्रवेश किया ॥ ८ ॥ तब चक्षु बाहर निकल गया और एक वर्ष प्रवास करके वापस आया। उसने पूछा—'मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे ?" अन्य इन्द्रियों ने कहा—जैसे अन्धा नेत्रों से नहीं देख सकता तो भी प्राणों से श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, कानों से सुनते, मन द्वारा विचार करते हुए जीवित रहता है, वैसे ही हम भी जीवित रहे।" तब नेत्र पुनः शरीर में प्रवेश कर गये ॥ ९ ॥ तब कान बाहर निकल गये और वर्ष भर तक प्रवास करके वापस आये। उनने पूछा—"मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे ?" अन्य इन्द्रियों ने कहा—"जिस प्रकार बहरे लोग सुनते नहीं हैं, तो भी प्राणों से श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, नेत्रों से देखते, मन से विचारते हुए जीते हैं वैसे ही हम भी जीवित रहे।" तब कान वापस आ गये ॥१०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥११

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥१२

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रणतिष्ठासीति ॥१३

अथ हैनँ श्रोत्रमुवाच यदहँ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥१४

न वै वाचो न चक्षूँषि न श्रोत्राणि न मनाँसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥१५

तब मन बाहर चला गया और साल भर तक प्रवास करके वापस आया। उसने पूछा —"मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे।" अन्य इन्द्रियों ने कहा—"जिस प्रकार छोटे बालक बिना मन के होने पर भी प्राण द्वारा श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, नेत्रों से देखते, कानों से सुनते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीते रहे।" इस पर मन शरीर में लौट आया ॥११॥ फिर प्राण ने बाहर जाने की इच्छा की। जिस प्रकार शक्तिशाली घोड़ा पैर बाँधने के खूँटों को जोर से उखाड़ डालता है, वैसे ही प्राण वाक् आदि अन्य इन्द्रियों को जोर से उखाड़ने लगा। तब वे सब उसके समीप जाकर कहने लगीं —"हे भगवन्! अपने स्थान पर ही रहो, तुम ही हम सब में श्रेष्ठ हो, आप बाहर न जाओ" ॥ १२ ॥ तब वाणी मुख्य प्राण से कहने लगी—"मैं जो वसिष्ठ हूँ, सो वास्तव में तुम्हीं वसिष्ठ हो।" चक्षु ने कहा—"मैं जो प्रतिष्ठा कहलाता हूँ, सो तुम्हीं प्रतिष्ठा हो।" कान ने कहा—"मैं जो संपद कहा जाता हूँ सो तुम्हीं सम्पद हो।" फिर मन ने कहा—"मैं जो आश्रय हूं, सो तुम्हीं आश्रय हो॥" ॥ १३-१४ ॥ इसलिये लोक में इन्द्रियों को वाणी, चक्षु, मन नहीं कहते वरन् सबको 'प्राण' नाम से ही कहते हैं, क्योंकि प्राण ही सब कुछ होता है ॥१५॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खंड

स होवाच कि मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति ॥१

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्तोच्चोपरिष्टाच्चादि्भः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥२

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥३

अथ यदिमहज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥४

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वात्हेयग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्याहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थेसंपातमवनयेत् ॥५

[अब प्राण के अन्न की व्याख्या करते हैं। मुख्य प्राण बोला—"मेरा अन्न क्या होगा ?" वाक् आदि ने कहा—"कुत्ते और पक्षियों आदि सब प्राणियों का जो अन्न है वह सब तुम्हारा (प्राण का) ही अन्न है।" इसी से प्राण का 'अन' नाम प्रसिद्ध है। इस प्रकार जानने वाले को कभी अभक्ष्य नहीं होता ॥ १ ॥ मुख्य प्राण ने कहा—"मेरा वस्त्र क्या होगा ?" वाक् आदि ने कहा "जल।" इसी से भोजन करने से पहले और पीछे भी आचमन रूप वस्त्र पहिनाते हैं। ऐसा जानते

वाला वस्त्रहीन नहीं होता ॥२॥ इस प्राणोपासना को सत्यकाम जबाल ने व्याघ्रपद के पुत्र गोश्रुति से कहा —'यदि कोई इस प्राणोपासना को सूखे ठूँठ से कहेगा तो उसमें भी शाखायें और पत्ते निकल आवेंगे ॥ ३ ॥ फिर जो महत्व का अभिलाषी हो वह अमावस्या को दीक्षा लेकर पूर्णमासी की रात को समस्त ओषधियों, दही और मधु का मंथ बना कर अग्नि में "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय" स्वाहा के मन्त्र द्वारा घी की आहुति दे और घी का अवशेष मन्थ पर डालता जाय ॥४॥ फिर 'वसिष्ठाय स्वाहा' मन्त्र की आहुति देकर घृत को मन्थ में टपकावे। "प्रतिष्ठायै स्वाहा" द्वारा अग्नि में घृताहुति देकर अवशेष को मन्थ पर टपकावे। "सम्पदे स्वाहा" मन्त्र द्वारा अग्नि में होम करके शेष घृत को मन्थ पर टपकावे। "आयतनाय स्वाहा" मन्त्र से आहुति देकर टपकते घी को मंथ में डाले ॥५॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदँ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यँ श्रैष्ठ्यँ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदँ सर्वमसानीति ॥६

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति। तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति। वयं देवस्य भोजनमित्याचामति। श्रेष्ठँ सर्वधातममित्याचामति। तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति। निर्णिज्य कँसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः। स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥७

तदेष श्लोको यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियँ स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥८

फिर अग्नि के कुछ समीप जाकर अञ्जलि में मंथ लेकर यह मंत्र पढ़े—"तू प्राण नाम वाला है, तेरा ही यह सब है। तू ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, प्रकाशमान और पालक है। मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व, प्रकाशमानता और पालनकर्तापन प्राप्त कराओ। मैं भी सब कुछ हो जाऊँ"। ६॥ फिर इस मंत्र के एक-एक पद को कह कर मन्थ के एक-एक ग्रास को खावे—'तत्सत्सवितुर्वृणीमहे' (आदित्य के मन्थ रूप भोजन को हम माँगते हैं।) कह कर एक ग्रास खाले। "वयं देवस्य भोजनम्" (हम देवताओं के भोजन को माँगते हैं) कह कर एक ग्रास खाले। "श्रेष्ठ सर्वधातमम्" (वह भोजन बहुत श्रेष्ठ और धारण करने वाला है कह कर तीसरा ग्रास खाले। "तुरं भगस्य धीमहि" (सूर्य के स्वरूप का शीघ्र ध्यान करते हैं कह कर कटोरा और चमचा को धोकर समस्त मंथ को पी जाय। फिर अग्नि के पश्चिम भाग में मृग चर्म या भूमि पर वाणी पर संयम रखता हुआ सो जाय। यदि स्वप्न में स्त्री को देखे तो जान ले कि मेरा कर्म सफल होगया ॥७॥ इसमें यह मन्त्र भी है—"काम्य कर्मों में जब स्त्री को देखे तो उस स्वप्न कर्म की समृद्धि जाने" ॥ ८ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

तृतीय खंड

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितमेयाय तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥१

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति ? न भगव इति। वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति ? न भगव इति। वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति ? न भगव इति ॥२

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति न भगव इति।

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति ? नैव भगव इति ॥३

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तँ होवाचान-नुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति ॥४

पञ्च मा राजन्यबन्धुः अश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदेतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चन वेद यद्यहमिमानवेदिष्य कथं ते नावक्ष्यमिति ॥५

प्राण-विद्या को कह कर अब अग्नि विद्या को कहते हैं] आरुणि का पुत्र श्वतकेतु पाँचालों की सभा में गया। उससे जीबल के पुत्र प्रवाहण ने कहा—'हे कुमार ! तेरे पिता ने तुझे शिक्षा दी है।" श्वेतकेतु ने कहा—"हाँ, भगवन् मैंने शिक्षा पाई है।" ॥ १ ॥ प्रवाहण ने पूछा—"मनुष्य इस लोक से जाने पर कहाँ जाते हैं यह तुमको मालूम है ?" 'हे भगवन् ! यह तो मैं नहीं जानता।" प्रवाहण ने फिर पूछा "मनुष्य जिस प्रकार फिर लौट कर आते हैं वह तुम जानते हो ?" " हे भगवन्, मैं इसे नहीं जानता।" "देवयान और पितयान दोनों मार्गों के पृथक होने का जो स्थान है वह तुमको मालूम है ?" "नहीं भगवन् !" ॥२॥ प्रवाहण ने फिर पूछा "जिस रीति से पितृ लोक भर नहीं जाता वह तुम जानते हो ?" "नहीं भगवन् !" जिस प्रकार पांचवीं आहुति में जल पुरुष, नाम वाला हो जाता है, इसे जानते हो ?" "नहीं भगवन् ?" ॥ ३ ॥ तब प्रवाहण ने कहा—"इस प्रकार अज्ञानी होने पर भी तुमने कैसे कहा कि मैंने शिक्षा प्राप्त की है ? जो इन प्रश्नों का अर्थ न जाने वह कैसे कह सकता है कि मैंने उपदेश पाया है ?" इस कथन से खेदयुक्त होकर श्वेत-केतु पिता के स्थान पर आया और कहा—"आपने मुझे उपदेश न देकर ही कह दिया कि मैंने तुझे उपदेश दिया है। उस क्षत्रिय बन्धु ने मुझ से

पाँच प्रश्न पूछे, पर उसमें से एक का भी उत्तर मैं न दे सका।" पिताने कहा—"जो प्रश्न तुमने बतलाये उनको जिस प्रकार तू नहीं जानता उसी प्रकार मैं भी नहीं जानता। अगर मैं उनमें से एक को भी जानता होता तो तुमको क्यों नहीं बतलाता ॥४-५॥

स ह गोतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय तँ होवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव ॥६

तँ ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार तँ होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥७॥

तब आरुणि उद्दालक राजा के स्थान पर पहुँचा और राजा ने सम्मान सहित उसकी पूजा की। दूसरे दिन प्रातःकाल फिर राजा के समीप गया तो उसने कहा—"हे भगवन् गौतम! आप भौतिक सम्पति का वर माँग लीजिए।" गौतम ने कहा—यह भौतिक धन आपके ही पास रहे। आपने मेरे पुत्र से जो पांच प्रश्न पूछे थे उन्हीं को मुझे बतलाओ।" राजा यह सुनकर दुखी हुआ। तो भी ब्राह्मण को 'नहीं' कहना ठीक न समझ कर उसने कहा—"आप यहाँ चिरकाल तक ठहरो।" फिर यथासमय उसने कहा—'हे गौतम! तुमने जिस विद्या के विषय में पूछा है वह इससे पहले ब्राह्मणों के पास नहीं गई और सम्पूर्ण लोकों में क्षत्रिय ही इसके उपदेष्टा रहे हैं' तब राजा गौतम को उस विद्या का उपदेश करने लगा।६-७॥

॥ तीसरा खंड समाप्त ।

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगाः ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥२॥

हे गौतम ! यह स्वर्ग लोक ही अग्नि है, आदित्य ही उसकी समिध है, किरणें धुआँ है दिवस ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र चिनगारी हैं। इस अग्नि में देवगण श्रद्धा का हवन करते हैं जिससे सोम राजा की उत्पत्ति है ॥१-२॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चम खंड

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रम् धूमो विद्युदर्चिरशनिरंगारा ह्रादनयो विस्फुलिंगाः ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षं संभवति ॥२॥

हे गौतम ! प्रसिद्ध पर्जन्य अग्नि है, वायु ही उसकी समिध है, बादल धुआ है, बिजली ज्वाला है, वज्र अङ्गार है और गर्जना चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवता सोम राजा का हवन करते हैं। इस आहुति से वृष्टि होती है ॥१-२॥

॥ पंचम खण्ड समाप्त ॥

षष्ठ खंड

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवांतरदिशो विस्फुलिंगाः ॥१॥

तस्मिन्नेतस्तिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुरेतन्नँ-संभवति ॥२

हे गौतम ! यह पृथ्वी ही अग्नि है। सम्वत्सर उसकी समधि है, आकाश धुँआ है, रात्रि ज्वाला है, दिशायें अङ्गार हैं और कोने चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण वृष्टि का हवन करते हैं तो उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ॥१-२॥

॥ छठवाँ खण्ड समाप्त ॥

सप्तम खंड

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगा ॥१

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥२

हे गौतम ! यह पुरुष अग्नि है, वाणी ही उसकी समिध है, प्राण धुँआ है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अङ्गार है और श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण अन्न का हवन करते हैं, इस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है ॥ -२॥

॥ सातवाँ खण्ड समाप्त ॥

अष्टम खंड

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगा ॥१

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः भवति ॥२

(प्रथम मन्त्र में स्त्री को अग्नि बतलाकर सन्तानोत्पत्ति के निमित्त तथा पुरुष स्त्री के सहवास रूप अग्नि होत्र का वर्णन किया है और दूसरे में गर्भ का वर्णन है) उस अग्नि में देवगण वीर्य का हवन करते हैं, इस आहुति से गर्भ होता है ॥१-२॥

॥ आठवाँ खण्ड समाप्त ॥

नवम खंड

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥१

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्तियत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥२

इस प्रकार पाँचवीं आहुति में जल पुरुष रूप हो जाता है। इस प्रकार वह गर्भ जरायु से लिपटा हुआ दस अथवा नौ मास पर्यन्त अथवा जब तक पूर्णाङ्ग न हो तब तक माता के उदर में ही शयन करता है ॥१॥ वह जन्म लेकर जितनी आयु होती है तब तक जीता है। मरने के पीछे परलोक जाते हुए उस जीव को फिर अग्नि के ही समीप ले जाते हैं, जिससे कि वह उत्पन्न हुआ था और जो उसका कारण रूप है ॥२॥

॥ नौवां खण्ड समाप्त ॥

दशम खंड

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षा-द्यान्षडुदङ्ङेति मासाँ स्तान्॥१

मासेभ्य संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युत तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ।।२

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभि संभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाँस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ।।३

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ।।४

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ।।५

इनमें जो इस प्रकार पञ्चाग्नि की उपासना जानते हैं और जो अरण्य में रह कर श्रद्धा और तप-युक्त उपासना करते हैं वे अर्चि- (सूर्य किरणों) को प्राप्त होते हैं। अर्चि से दिवस को, दिवस से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण: छः मासों को प्राप्त होते हैं। उन मासों से सम्वत्सर को, सम्वत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली को प्राप्त होते हैं। वहाँ से कोई अमानव पुरुष उनको ब्रह्म लोक में ले जाता है। यह देवयान मार्ग है ।। १—२ ।। अब जो लोग बस्ती में रहकर इष्ट, पूर्त और दत्त आदि अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् गृहस्थ-जीवन बिताते हैं, वे धूम को प्राप्त होते हैं। धूप से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को, कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन छः मासों को, दक्षिणायन छः मासों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। अन्तरिक्ष में जो सोम रूप राजा दिखाई देता है वह (चन्द्रमा) देवों का अन्न है। देवता उसका भक्षण (सेवन) करते हैं ।। ३—४ ।। चन्द्रमा में कर्म फल को पूरा होने तक रह कर इसी मार्ग से पुनः वापस आते हैं, अर्थात् चन्द्रमा से

आकाश को, आकाश से वायु को प्राप्त होते हैं। वायु धूम रूप हो जाता है, धूम से बादल होता है ॥५॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एवं भवति ॥६

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रियोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्त कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥७

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानी क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥७

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचꣳस्तैरिति ॥९

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥१०

बादल से मेघ होते हैं, मेघ वर्षा करते हैं। तब वे जीव वर्षा के साथ आकर चावल, जौ, वनस्पति, तिल उडद आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं वहाँ से निश्चय ही बड़े कष्ट से निकलना होता है। उस अन्न को जो मनुष्य खाता है और उससे उत्पन्न वीर्य से सन्तानोत्पत्ति करता है, वैसा ही जीव हो जाता है ॥ ६ ॥ इनमें जो पुण्य कर्म वाले हैं वे स्वकर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि को प्राप्त होते हैं। जो अशुभ कर्म वाले हैं वे शीघ्र ही नीच योनि को प्राप्त होते हैं

जैसे श्वान, सूकर वा चाण्डाल योनि में जाते हैं ॥ ७ ॥ अब जो इन दोनों भावों में से किसी में नहीं जाते वे बारम्बार जन्म-मरण पाने वाले तुच्छ जन्तु होते हैं । "जन्म लेते रहो, मरते रहो" ऐसी यह तीसरी गति है । इसी कारणवश परलोक जीवों से भर नहीं जाता । इस प्रकार यह संसार की गति घृणा करने योग्य है । इस विषय में यह मन्त्र कहा कहा गया है-सोने की चोरी करने वाला, शराबी, गुरु पत्नी से व्यभिचार करने वाला, ब्रह्म हत्या करने वाला ये चारों पतित होते हैं और पाँचवाँ, जो उनकी सङ्गति करता है, वह भी पतित होता है । ॥८॥ और जो इस पंचाग्नि विद्या को जानता है वह ऐसे महापापियों की सङ्गति से भी पाप में लिप्त नहीं होता । जो इस प्रकार जानता है वही जानता है । वह शुद्ध और पवित्र लोक को प्राप्त करता है ॥१०॥

॥ दसवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकादश खंड

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥१

ते ह संपादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीमामात्मानं वैश्वानरमध्येति तँ हन्ताभ्यागच्छामेति तँ हाभ्याजग्मुः ॥२

स ह संपादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥३

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳहाभ्याजग्मु ।।४

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरिणी कुतो यक्षमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्या दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ।।५

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहेव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳसंप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ।।६

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैदुवाच ।।७

(सांसारिक जीवन के जिन दोषों के कारण जीव अधोगति को प्राप्त होता है उससे छूटने का उपाय अब बतलाते हैं) उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवि का पुत्र इन्द्रद्युम्न शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल—ये सब महागृहस्थ और महान् श्रोत्रिय एकत्र होकर बिचार करने लगे कि अपना आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है? ।। १ ।। ये पूजनीय व्यक्ति बिचार करने से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे तो उन्होंने सोचा कि वर्तमान समय में अरुण का पुत्र उद्दालक आत्मारूप वैश्वानर को भली प्रकार जानता है । सब की सम्मति हो तो हम उसी के पास चलें । तब वे वहाँ गये ।।२।। उद्दालक उनके प्रयोजन को समझ कर विचार करने लगा कि ये महागृहस्थ और महा श्रोत्रिय जो विषय पूछेंगे उसे मैं पूर्ण रीति से समझा नहीं सकूँगा, इससे अन्य उपदेष्टा बतला दूँ ।। ३ ।। वह कहने लगा—"हे भगवन् ! इस समय केकय का पुत्र राजा अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानर को भली प्रकार जानता है । सब की सम्मति

हो तो उसके पास चलें।" तब वे अश्वपति के पास गये ।। ४ ।। इन आगत अतिथियों का राजा अश्वपति ने पृथक-पृथक पूजन कराया। दूसरे दिन प्रातः वह उनके समीप गया और कहने लगा—"मेरे राज्य में चोर नहीं है, अदाता नहीं है, मद्यप नहीं है, बिना अग्निहोत्र वाला नहीं है, विधारहित नहीं है, व्यभिचारी पुरुष या स्त्री नहीं है। हे भगवन् ! मैं यज्ञ करने वाला हूँ। उसमें एक-एक ऋत्विग को जितना धन दूंगा उतना ही आप में से प्रत्येक को दूंगा। इसलिए आप यहीं ठहरिये" ।।५।। वे ऋषि कहने लगे– जिस प्रयोजन से कोई जहाँ जाता है उसी प्रयोजन को कहना चाहिये। इस समय आप इस आत्म रूप वैश्वानर को भली प्रकार जानते हो उसी को हमें बतलाओ ।। ६ ।। राजा ने कहा—"मैं इसका उत्तर कल प्रातः दूँगा।" दूसरे दिन दोपहर को वे सब हाथ में समिधि लेकर शिष्य भाव से राजा के सामने गये। राजा उनको बिना उपनयन किये ही वैश्वानर विद्या का उपदेश करने लगे ।।७।।

।। ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ।।

द्वादश खंड

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति। दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमत्मान-मुपास्ते तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ।।२

राजा ने पूछा—"हे उपमन्यु के पुत्र ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ?" "मैं स्वर्ग रूप वैश्वानर की उपासना करता हूँ।" ऐसा उत्तर प्राचीनशाल ने दिया। राजा ने कहा—"जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो वह श्रेष्ठ तेज वाला वैश्वानर रूप आत्मा है। इससे तुम्हारे वंश में सुत प्रसुत, आसुत दिखाई देते हैं तुम अन्न का भक्षण करते हो और इष्ट को देखते हो। जो इस प्रकार इस वैश्वानर रूप आत्मा की उपासना करता है, अन्न का भक्षण करता है और इष्ट को देखता है उसके कुल में ब्रह्मतेज पाया जाता है। पर यह आत्मा रूप वैश्वानर का केवल मस्तक ही है।" उसने फिर कहा—अगर तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता" ॥१—२॥

॥ बारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

त्रयोदश खंड

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मान-मुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमृपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम-त्स्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

फिर पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ से राजा कहने लगा—"हे प्राचीन-योग्य ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो।" "हे भगवन् ! मैं आदित्य की उपासना करता हूँ।" तब राजा ने कहा—"जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो वह विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है। इससे

तुम्हारे कुल में बहुत सा सर्व रूप साधन दिखाई पड़ता है तुम्हारे खच्चरयुक्त रथ चलता है, हारयुक्त दासियाँ हैं, अन्न का भक्षण करते हो, प्रिय दर्शन करते हो। ऐसे कुल में ब्रह्मतेज रहता है, पर यह केवल आत्मा का चक्षु है।" उसने फिर कहा—"अगर तुम मेरे पास न आये होते तो तुम को अन्धा होना पड़ता" ॥१-२॥

॥ तेरहवाँ खण्ड समाप्त ॥

चतुर्दश खंड

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मान-मुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥१

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर मुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२

फिर भल्लवि के पौत्र इन्द्रद्युम्न से राजा ने कहा—"हे वैयाघ्रपद्य! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो?" हे भगवन्! मैं वायु की उपासना करता हूँ।' राजा ने कहा—'जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो वह नाना मार्ग वाला वैश्वानर आत्मा है। इससे तुम को भाँति-भाँति की भेंट होती है और तरह-तरह के रथों की कतार पीछे चलती है। तुम अन्न का भक्षण करते हो और इष्ट को देखते हो। जो इस आत्मा रूप वैश्वानर की इस प्रकार उपासना करता है, अन्न का भक्षण करता है, प्रिय को देखता है उसके कुल में ब्रह्मतेज

रहता है। पर यह आत्मा का केवल प्राण ही है।" उसने फिर कहा "जो तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारे प्राण निकल जाते" ॥१-२॥

॥ चौदहवाँ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चदश खंड

अथ होवाच जनꣳशार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेवं भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥१

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते सदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२

फिर राजा ने उन से कहा—"हे शर्कराक्ष के पुत्र! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो?" "हे भगवन्! मैं आकाश की उपासना करता हूँ।" राजा ने कहा "जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो वह भरपूर आत्मा वैश्वानर है। इससे तुम पुत्र-पौत्रादि और धन से युक्त हो। अन्न का भक्षण करते हो, प्रिय दर्शन करते हो। जो इस प्रकार आत्मा की उपासना करता है वह अन्न का भक्षण करता है, प्रिय को देखता है, उसके कुल में ब्रह्मतेज भी रहता है। पर यह आत्मा का केवल उदर ही है।" फिर कहा—"अगर तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारा उदर फट जाता।" ॥१-२॥

॥ पन्द्रहवाँ खंड समाप्त ॥

षोडश खंड

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्वि वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मा-

नमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैव वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वꣳरयिमान्पुष्टि-मानसि ॥१

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एवमेवमात्मानं वैश्वानर मुपास्ते बस्तिस्त्वेष इति होवाच बस्तिस्ते श्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२

फिर अश्वतराक्ष के पुत्र बुडिल से राजा ने कहा—"हे वैयाघ्र पद्य ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ?" हे भगवन् ! मैं जल की उपासना करता हूँ।" राजा ने कहा—"जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो वह धन रूप वैश्वानर आत्मा है। इसकी उपासना से ही तुम धन वाले और पुष्टि वाले हो। अन्न का भक्षण करते हो प्रिय को देखते हो। जो इस प्रकार आत्मा की उपासना करते हैं वे अन्न का भक्षण करते हैं, प्रिय को देखते हैं, उनके कुल में ब्रह्मतेज रहता है। पर आत्मा का यह मूत्राशय ही है।" उसने फिर कहा—"जो तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारा मूत्राशय फट जाता" ॥१-२॥

॥ सोलहवाँ खण्ड समाप्त ॥

सप्तदश खंड

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा, वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्तस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौत्वेतावा त्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागामिष्य इति ॥२

फिर राजा ने अरुण पुत्र उद्दालक से कहा—"हे गौतम ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ?" "हे भगवन् ! मैं पृथ्वी की उपासना करता हूँ।" "जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो वह पग-रूप वैश्वानर आत्मा है। इसकी उपासना से तुम प्रजा और पशुओं द्वारा भली प्रकार स्थित हो। अन्न का भक्षण करते हो और प्रिय को देखते हो। जो इस प्रकार आत्मा रूप वैश्वानर की उपासना करता है वह अन्न का भक्षण करता है और प्रिय को देखता है और उसके वंश में ब्रह्मतेज रहता है। पर यह आत्मा का पग मात्र है।" उसने फिर कहा—"जो तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारे पैर अत्यन्त शिथिल हो जाते" ॥१-२॥

॥ सत्रहवाँ खण्ड समाप्त ॥

अष्टादश खंड

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाँ सोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥१

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षु-र्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽ-न्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥२

तुम सब इस वैश्वानर रूप आत्मा को पृथक मानकर अन्न भक्षण करते हो। पर यह जानकर कि "यह ही हूँ" मैं इस आत्मा रूप वैश्वानर की सर्वात्म भाव से उपासना करता है, वह सब लोकों में, सब भूतों में और सब आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है ॥ १ ॥ इस आत्मा रूप वैश्वानर का मस्तक ही स्वर्ग है, चक्षु सूर्य है प्राण वायु

है, उदर आकाश है, मूत्राशय जल है और दोनों पैर ही पृथ्वी हैं, ऐसा जानकर उपासना करे। इसका वक्षस्थल वेदी है, लोम दर्भ है, हृदय गार्हपत्य है, मन दक्षिणाग्नि और मुख आहवनीय है ॥१-२॥

॥ अठारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकोनविंश खंड

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयँ स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥१

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किं च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२

पकाया हुआ अन्न जो पहले आवे वह होम करने योग्य है। उसकी पहली आहुति 'प्राणाय स्वाहा' कहकर होमे। इससे प्राण तृप्त होता है ॥ १ ॥ प्राण तृप्त होने से नेत्र तृप्त होते हैं, नेत्र तृप्त होने से आदित्य तृप्त होते हैं, आदित्य के तृप्त होने से स्वर्ग तृप्त होता है, स्वर्ग तृप्त होने से तृप्त होता है जिस पर स्वर्ग और आदित्य आश्रित हैं। उनकी तृप्ति के पश्चात् भोक्ता प्रजा, पशु, भक्षण करने योग्य अन्न और ब्रह्मतेज द्वारा तृप्त होता है ॥ २॥

॥ उन्नीसवां खण्ड समाप्त ॥

विंश खंड

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥१

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किं च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येनि तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२

अब जो दूसरी आहुति देता है वह 'व्यानाय स्वाहा' कहता है। इससे व्यान तृप्त होता है। व्यान तृप्त होने से श्रोत्र तृप्त होते हैं, श्रोत्र तृप्त होने से चन्द्रमा तृप्त होते हैं, चन्द्रमा तृप्त होने से दिशायें तृप्त होती हैं। दिशाएँ तृप्त होने से वह तृप्त होता है जिस पर चन्द्रमा और दिशाएं आश्रित हैं। उसकी तृप्ति के पश्चात् भोक्ता प्रजा द्वारा, पशुओं द्वारा, भक्षण करने योग्य अन्न द्वारा और बुद्धि के प्रकाश तथा ब्रह्म तेज से तृप्त होता है।

॥ बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥

एकविंश खंड

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥१

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किं च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभि रन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२

अब तीसरी आहुति 'अपानाय स्वाहा' के मध्य से दे, इससे अपान तृप्त होता है। अपान के तृप्त होने से वाणी तृप्त होती है, वाणी तृप्त होने से अग्नि तृप्त होता है, अग्नि तृप्त होने से पृथ्वी तृप्त होती है। पृथ्वी के तृप्त होने से वह तृप्त होता है जिस पर अग्नि और पृथ्वी आश्रित

है । इसके पीछे प्रजा द्वारा, पशुओं द्वारा, भक्षण करने योग्य अन्न द्वारा, द्वारा, प्रकाश द्वारा, ब्रह्म तेज द्वारा तृप्त भोक्ता होता है ।। १–२ ।।

।। बीसवाँ अध्याय समाप्त ।।

द्वाविंश खंड

अथ यां चतुर्थीं जुहूयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ।।१

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किं च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्ना द्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेति ।।२

अब चौथी आहुति "समानाय स्वाहा मन्त्र से दें । समान के तृप्त होने से मन तृप्त होता है, मन तृप्त होने से पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्य के तृप्त होने से विद्युत तृप्त होती है, विद्युत के तृप्त होने से वह तृप्त होता है, 'जिस पर कि पर्जन्य और बिजली आश्रित हैं। उनकी तृप्ति होने पर प्रजा द्वारा, पशुओं द्वारा भक्षण करने योग्य अन्न द्वारा, प्रकाश द्वारा ब्रह्म तेज द्वारा, भोक्ता तृप्त होता है । १-२ ।।

।। अठारहवाँ खण्ड समाप्त ।।

त्रयोविंश खंड

अथ यां पञ्चमी जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ।।१

उदाने तृप्यति वाक्तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किं च वायुश्चाकाश-

श्चाधितिष्ठतत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।।२

फिरी पाँचवीं आहुति 'उदानाय स्वाहा' मन्त्र द्वारा दे। उदान के तृप्त होने से त्वचा तृप्त होती है, त्वचा के तृप्त होने से वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त होने से आकाश तृप्त होता है, आकाश के तृप्त होने से वह तृप्त होता है कि जिसके आश्रय पर वायु और आकाश रहते हैं। इनकी तृप्ति होने पर भोक्ता प्रजा द्वारा, पशुओं द्वारा, भक्षण करने योग्य अन्न द्वारा, प्रकाश तथा ब्रह्मतेज द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

॥ तेईसवां खण्ड समाप्त ॥

चतुर्विंश खंड

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुतत्तादृक्तत्स्यात ॥१

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥२

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चाण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳस्यादिति तदेष श्लोकः ॥४

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एवꣳ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥५

जो कोई इन वैश्वानर विद्या को न जानकर अग्निहोत्र करता है तो मानो वह अग्नि के बजाय राख में होम करता है ॥ १ ॥ इस वैश्वानर विद्या को जानने वाला जो अग्निहोत्र करता है, उसका हवन

सब प्राणियों और सब आत्माओं में हो जाता है ॥२॥ जिस प्रकार सींक की नोंक आग में घुसा देने से तुरन्त जल जाती है वैसे ही इस प्रकार अग्निहोत्र करने वाले के समस्त पाप जल जाते हैं ।। ३ ।। इसको जानने वाला यदि भोजन का उच्छिष्ट अंश चाण्डाल को दे तो वह भी आत्मा रूप वैश्वानर में हवन किये के समान होता है । इस विषय में यह मन्त्र है—"जिस प्रकार भूखे बालक मां की उपासना करते हैं (उसकी राह देखते हैं) उसी प्रकार सब प्राणी ऐसे ज्ञानी के अग्निहोत्र की उपासना करते हैं, उपासना करते हैं ॥४-५॥

॥ चौबीसवां खण्ड समाप्त ॥

॥ पांचवां अध्याय समाप्त ॥

षष्ठ अध्याय

प्रथम खण्ड

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस त७ँह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥१

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्वि७ँशति वर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अचूचानमानी स्तब्ध एयाय । तँ ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अचूचानमानी स्तब्धोऽस्यूत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥२

येनाश्रुतँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति । कथ नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥३

यथा सोम्यंकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४

यथा सोम्येकेन लोहमणिना, सर्वं लोहमयं विज्ञातꣲस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेय लोहमित्येव सत्यम् ॥५

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣲस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्येमेवꣲसोम्य स आदेशो भवतीति ॥६

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣲस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥७

[पिछले अध्याय में बतलाया था कि अग्निहोत्र के सच्चे स्वरूप को जानने वाले एक ज्ञानी के कर्म से सब भूत तृप्त हो जाते हैं। पर ऐसा तभी संभव है जब सब भूतों में एक ही आत्मा का निवास हो। इसी विषय को इस अध्याय में कहा जाता है।] अरुण का पौत्र श्वेतकेतु था। उससे उसके पिता (उद्दालक) ने कहा 'हे श्वेतकेतु ! ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर। हमारे कुल में उत्पन्न होने वाला कोई अध्ययन से रहित ब्रह्मबंधु जैसा नहीं होता। ॥ १ ॥ वह बारह वर्ष की आयु का श्वेतकेतु आचार्य के पास जाकर चौबीस वर्ष की आयु तक वेदों का अध्ययन करता रहा। तब वह अपने को बड़ा विद्वान्, अध्ययनशील समझने लगा और गर्वयुक्त भाव से घर वापस आया। उसे देख कर पिता ने कहा—"हे श्वेतकेतु ! हे सोम्य ! तू जो ऐसा विद्या का अभिमानी और अविनीत दिखाई पड़ता है क्या तूने आचार्य से उस उपदेश को ग्रहण किया है कि जिसके द्वारा अश्रुत, श्रुत हो जाता है, तर्क नहीं किया हुआ तर्कयुक्त हो जाता है, अविज्ञात ज्ञात हो जाता है ?" श्वेतकेतु ने कहा—'हे भगवन् ! यह कैसा उपदेश है ?" ॥ २-३ ॥ उद्दालक ने कहा "हे प्रिय दर्शन ! एक मिट्टी के पिण्ड द्वारा मिट्टी के बने समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। विभिन्न नाम तो वाणी के विकार हैं,

सत्य तो केवल मिट्टी ही है ।। ४ ।। जैसे एक सुवर्ण पिण्ड द्वारा सुवर्ण के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि नाम तो वाणी के विकार हैं, सत्य तो एक सुवर्ण ही है ।।५।। हे प्रिय दर्शन ! जिस प्रकार एक नख काटने वाली नहन्नी अर्थात् लोहे के टुकड़े से लोहे के सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है नाम तो केवल वाणी के विषय हैं, सत्य तो लोहा ही है ।" ।।६।। श्वेतकेतु ने कहा—"मेरा गुरु इसको निश्चय ही नहीं जानता है, क्योंकि जानता होता तो मुझसे क्यों नहीं कहता ? इससे भगवन् ही मुझे इसका उपदेश करें ।" "हे प्रिय दर्शन ऐसा ही हो ।" उद्दालक ने कहा ।।७।।

।। प्रथम खण्ड समाप्त ।।

द्वितीय खंड

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुर-सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ।।१

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।।२

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत । तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ।।३

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नम-सृजन्त । तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ।४

हे प्रिय दर्शन ! पहले एक और अद्वितीय सत ही था । कोई ऐसा कहते हैं कि एक मात्र अद्वितीय असत् ही था और उस जगत् से सत् उत्पन्न हुआ ।। १ ।। पर ऐसा कैसे हो सकता है ? असत् से सत् की

उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अतः हे सोम्य! सर्व प्रथम एक और अद्वितीय सत् ही था ॥२॥ उस सत् ने सङ्कल्प किया 'मैं बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न हो जाऊँ।' उसने तेज को रचा। उस तेज ने सङ्कल्प किया 'बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न हो जाऊँ।'' उसने जल को रचा। इसलिये जब किसी को सन्ताप होता है तो पसीना आ जाता है और तब तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥ उस जल ने सङ्कल्प किया—'बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न हो जाऊं।'' उसने पृथ्वी रूप अन्न को रचा। जहाँ वृष्टि होती है वहाँ बहुत सा अन्न होता है। इस प्रकार जल से ही भक्षण योग्य अन्न उत्पन्न होता है ॥४॥

॥ दूसरा खण्ड समाप्त ॥

तृतीय खंड

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥१

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥२

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥३

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥४

इन प्रसिद्ध प्राणियों के तीन ही बीज होते हैं—अंडज, जरायुज और उद्भिज ॥ १ ॥ तब उस सत् रूप देवता ने संकल्प किया—'अब मैं इन तीनों देवताओं में जीव रूप में प्रवेश कर जाऊँ और नाम

तथा रूप को स्पष्ट करूँ और उनमें से एक-एक को त्रिवृत (तीन प्रकार का) करूँ" ऐसा संकल्प करके उस देवता ने इन तीनों में प्रवेश करके नाम रूप को स्पष्ट किया ॥ २-३ ॥ उसने तीनों देवताओं में से प्रत्येक को त्रिवृत्त-त्रिवृत्त किया। हे सोम्य! ये जिस प्रकार त्रिवृत्त हैं वह मैं तुझे बतलाता हूँ ॥४॥

॥ तीसरा खण्ड समाप्त ॥

चतुर्थ खंड

यदग्ने रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥१

यदादित्यस्य रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नातधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥२

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्याप्रागाच्चन्द्राच्चद्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३

यद्विद्युतो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥४

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चताश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीत ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥५

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्च-

क्रुर्यदु शुक्ल मिवाभूदित्यपाᳬरूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्ण-
मिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रु ॥६

यद्‌विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाᳬसमास इति तद्विदाञ्चक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥७

त्रिवृत्त की हुई अग्नि का जो लाल रूप है वह तेज का है, जो श्वेत है वह जल का है और जो काला है वह पृथ्वी का है। इससे अब अग्नि में से अग्नित्व गया। 'अग्नि' शब्द केवल वाणी का विकार है—तीन रूप हीं सत्य हैं ॥ १ ॥ आदित्य का जो लालिमायुक्त रूप है वह तेज का है, जो श्वेत है वह जल का है और जो काला है वह पृथ्वी का है इससे आदित्य में से आदित्यपन गया। "आदित्य" नाम केवल वाणी से कहने का है—तीन रूप ही सत्य हैं ॥ २ ॥ चन्द्रमा में जो लाल रूप है वह तेज का है, जो श्वेत है वह जल का है और जो काला है, वह पृथ्वी का है। इससे चन्द्रमा में से चन्द्रमापन गया। 'चन्द्रमा' नाम केवल वाणी का विकार है—केवल तीनों रूप ही सत्य हैं ॥३॥ बिजली का जो लाल रूप है वह तेज का है, जो श्वेत है वह जल का है और जो काला है वह पृथ्वी का है। इससे विद्युत का विद्युतत्व गया। 'विद्युत' नाम केवल वाणी का विकार है—केवल तीन रूप ही सत्य हैं ॥ ४ ॥ इस को जानने वाले पूर्व काल के प्रसिद्ध महागृहस्थ और महा श्रोत्रिय कहते थे कि हमारे कुल में कोई विषय अश्रुत, बिना तर्क का अथवा बिना निश्चय का है—ऐसा कोई नहीं कह सकेगा। क्योंकि इन अग्नि आदि के दृष्टान्तों से वे सबका रहस्य जान लेते थे। जो उनको लाल प्रतीत होता था वह तेज का रूप है ऐसा जान लेते थे, जो श्वेत है वह जल का रूप है ऐसा जान लेते थे, जो काला है वह पृथ्वी का रूप है ऐसा जान लेते थे ॥ ५-६ ॥ जो अविज्ञात जैसा प्रतीत होता था

वह इन्हीं तीनों देवताओं का समुदाय है, ऐसा वे जान लेते थे। हे सोम्य जिस प्रकार ये तीनों प्रसिद्ध देवता पुरुष रूप को पाकर उसमें त्रिवृत्त होते हैं वह मैं तुझे बतलाता हूँ ॥७॥

॥ चौथा खण्ड समाप्त ॥

पञ्चम खंड

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरोषं भवति यो मध्यमस्तन्माꣳसं योणिष्टास्तन्मनः ॥१

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राण। ॥२

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥३

अन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एक मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥४

जो अन्न भक्षण किया जाता है वह तीन प्रकार से बँट जाता है। जो स्थूलतम अंश है वह विष्ठा बन जाता है, जो मध्यम अंश है वह रसादि होकर मांस बन जाता है और जो अति सूक्ष्म है वह मन बनता है ॥१॥ जो जल पिया जाता है वह तीन प्रकार से विभाजित होता है। उसका अत्यन्त स्थूल अंश मूत्र बनता है, मध्यम रक्त बनता है और अत्यन्त सूक्ष्म प्राण बन जाता है ॥२॥ जो तेज (तेल घी आदि) भक्षण कया जाता है वह भी तीन प्रकार से विभाजित हो जाता है। उसका

स्थूलतम भाग हड्डी बनता है; मध्यम भाग मज्जा बनता है, अत्यन्त सूक्ष्म अंश वाणी बन जाता है ।। ३ ।। हे सोम्य अन्न का कार्य मन है, जल का कार्य प्राण है, तेज का कार्य वाणी है ।' श्वेतकेतु ने कहा 'भगवन् ! मुझे पुनः समझाओ ।' उद्दालक ने कहा 'हे सोम्य ! ऐसा ही हो' ।।४।।

।। पंचम खण्ड समाप्त ।।

षष्ठ खंड

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ।।१

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ।।२

अपां सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ।।३

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ।।४

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयो वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।५

हे सोम्य ! मन्थन करके दही का जो सूक्ष्म भाग है वह इकट्ठा होकर ऊपर को चला जाता है और वही घी होता है ।।१।।हे प्रिय दर्शन! इसी प्रकार निश्चय रूप से भक्षण किए अन्न का जो सूक्ष्म भाग है वह ऊपर जाकर मन बनता है ।। २ ।। हे सोम्य ! इसी प्रकार पिये हुए जल का सूक्ष्म भाग ऊपर जाकर प्राण बनता है ।। ३ ।। इसी प्रकार खाए हुए तेज (घी तेल आदि) का सूक्ष्म भाव ऊपर जाकर वाणी बनता है ।४।। हे प्रिय दर्शन ! अन्न का कार्य ही मन है, जल का कार्य

प्राण है, तेज का कार्य वाणी है, ऐसा जो मैंने कहा वह ठीक ही है।" श्वेतकेतु ने कहा "भगवन् फिर समझावें।" उद्दालक ने कहा— "अच्छा।" ॥४॥

॥ छठवां खण्ड समाप्त ॥

सप्तम खंड

षोडशकला: सोम्य पुरुष: पञ्चदशाहानि माशी: काममप: पिबापोमय: प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥१

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृच: सोम्य यजूँषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥२

तँ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गार: खद्योतमात्र: परिशिष्ट: स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवँ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टास्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति ॥३

स हाशाथ हैनमुपससाद तँ ह यत्किं च पप्रच्छ सर्वँ प्रतिपेदे ॥४

तँ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥५

एवँ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयँ हि सोम्य मन आपोमय: प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥६

हे सोम्य ! पुरुष का मन सोलह कला वाला होता है। तू पन्द्रह दिन भोजन न कर। प्राण जल से होता है, अतः तू इच्छानुसार जल पीते रहना ॥१॥ श्वेतकेतु पन्द्रह दिन भोजन न करके पिता के पास आया और कहा— 'भगवन् ! क्या बोलूँ ।" "हे सोम्य ! ऋचायें, यजुः श्रुति और साम मन्त्र कहो ।" श्वेतकेतु ने कहा "वे मेरे मन में नहीं जान पड़तीं" ॥२॥ तब पिता ने कहा—"हे सोम्य ! जिस प्रकार बड़ी अग्नि में से खद्योत के समान एक छोटा-सा अङ्गार शेष रह जाय तो किसी वस्तु को जला नहीं सकता, उसी प्रकार इस समय तेरी सोलह कलाओं में से एक कला रह गई है, इससे तू वेदों को नहीं जान पाता अब तू जाकर भोजन कर और फिर मेरे पास आना ॥ ३ ॥ जब श्वेत-केतु भोजन करके फिर पिता के पास गया तो उसने जो कुछ पूछा वह सब उसे याद आ गया ॥४॥ पिता ने कहा—"हे सोम्य ! जिस प्रकार बड़ी अग्नि शान्त हो जाय और उसका एक छोटा-सा अङ्गार शेष रह जाय, उस पर तिनके रख कर सुलगाया जाय तो वह फिर पूर्ववत् सब को जला सकती है ॥ ५ ॥ उसी प्रकार हे प्रिय दर्शन तेरी सोलह कलाओं में से एक कला शेष रह गई थी। वह अन्न द्वारा बढ़ कर प्रज्ज्वलित हो गई। उससे तू फिर वेदों को जानने लग गया। हे सोम्य ! इससे सिद्ध होता है कि मन अन्न का कार्य है, प्राण जल का कार्य है और वाणी तेज का कार्य है।" अब पिता के कथन का आशय श्वेतकेतु समझ गया, समझ गया ॥६॥

॥ सातवाँ खण्ड समाप्त ॥

अष्टम खंड

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नपान्तं मे सोम्य विजानीहाति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा

सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनँ स्वपितीत्याचक्षते स्वँ ह्यपीतो भवति ॥१

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनँ हि सोम्य मन इति ॥२

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितँ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥३

तस्य क्व मूलँ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाःसोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥४

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितँ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥५

उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—"हे सोम्य ! मैं स्वप्नांत का मर्म बतलाता हूं। जब पुरुष सो जाता है तो वह जीव भाव त्याग कर ब्रह्म के साथ एक भाव वाला हो जाता है। उस समय वह अपने सत् रूप को पा लेता है। उसे लोग 'स्वपति' (सोया हुआ) कहते हैं। वह अपने स्वरूप को पाया होता है।। १ ।। हे सोम्य ! जिस प्रकार डोरी से बँधा हुआ शकुनि (बाज) सब तरफ उड़ कर और कहीं आश्रय न पाकर अपने बन्धन स्थान पर ही आ जाता है, उसी प्रकार यह मन

प्रत्येक दिशा का अनुभव करके अन्य विश्रामस्थल न पाकर प्राण का ही आश्रय लेता है, वह प्राण से बँधा हुआ है ।।२।। हे सोम्य ! अब तू भूख और प्यास का मर्म समझ ले। जब पुरुष खाने की इच्छा करता है तो खाये हुए अन्न को जल ही ले जाता है। जिस प्रकार गाय ले जाने वाले व्यक्ति को 'गोनाय' (ग्वाला) घोड़ा ले जाने वाले को 'अश्व नाय' कहते हैं, पुरुषों को ले जाने वाले (सेनापति आदि) को 'पुरुषनाय' कहते हैं, उसी प्रकार जल को 'अशनाय' (भोजन को ले जाने वाला) कहा जाता है। इसीलिये तू इस शरीर रूप कार्य को जल से ही उत्पन्न हुआ समझ ले ।। ३ ।। अन्न के सिवाय शरीर का मूल और कौन है ? इसी प्रकार तू अन्न रूप कार्य का मूल तेज को जान, और तेज रूप कार्य का मूल सत् तत्व को जान। इस प्रकार ये सब प्राणी सत् रूप मूल वाले हैं, सत् ही इनका आश्रय और सत् ही प्रतिष्ठा (परिशेष) है ।। ४ ।। अब जब मनुष्य प्यासा होकर जल को पीता है तब उसे तेज ही ले जाता है। इसलिये जिस प्रकार 'गोनाय' 'अश्वनाय' 'पुरुषनाय' कहे जाते हैं उसी प्रकार तेज को उस समय 'उदन्या' (जल को ले जाना वाला) कहते हैं। हे सोम्य ! इसललिए इस शरीर को जलरूपी मूल से उत्पन्न जान, क्योंकि बिना कारण के यह कार्य नहीं हो सकता ।।५।।

तस्य क्व मूलँ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूला। सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्ये-मास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव [भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ।।६

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।७

"हे प्रिय दर्शन ! जल से उत्पन्न शरीर का मूल कहां हो सकता है ? जल का मूल तेज में होता है और तेज रूपी कर्म का मूल सत् में होता है। ये समस्त प्राणी सत् रूप मूल वाले, सत् रूप आश्रय वाले और सत् रूप ही परिशेष (अन्न) वाले हैं। हे सौम्य ! ये अन्न, जल, तेज रूपी तीनों देवता पुरुष के शरीर में आकर त्रिविध-त्रिविध हो जाते हैं, यह मैंने पहले ही बताया है। इसी से मरने वाले पुरुष की वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में लय हो जाता है, प्राण तेज में लय होता है और तेज 'पर देवता' में लीन हो जाता है ॥ ६ ॥ यह जो अणिमा (अणुरूप) है वही सब है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतु वही तू है।" श्वेतकेतु ने कहा "भगवन् ! फिर समझावें।" पिता ने कहा—"अच्छा।" ॥७॥

॥ आठवाँ खण्ड समाप्त ॥

नवम खंड

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणा्ँ रसान्समवहारमेकता्ँ रसं गमयन्ति ॥१

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्य-मुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥२

त इह व्याघ्रो वा सि्ँहो वा वृको वा वाराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा द्ँशो वा मशको यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥३

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद्ँ सर्वं तत्सत्य्ँ स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥४

"हे सौम्य ! जिस प्रकार मधु मक्खियाँ मधु लेने के लिए

अनेक प्रकार के वृक्षों का रस लाकर उन उन सब की एकता कर देती हैं ।। १ ।। जिस प्रकार वे एकता को प्राप्त रस यह नहीं कहते कि 'मैं अमुक वृक्ष का रस हूं—मैं अमुक का हूँ' उसी प्रकार ये सब प्राणी सत् को प्राप्त हो जाते हैं तो यह जान नहीं पाते कि हम सत् को प्राप्त हो गए ।।२।। इस लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, वराह, कीट पतङ्ग, डांस, मच्छर जो-जो होते हैं, वे ही वे पुनः हो जाते हैं ।। ३ ।। वह जो अणुरूप वाला आत्मा वाला जगत है वह सत्य है। हे श्वेतकेतु तू भी वही है।" श्वेतकेतु ने कहा "भगवन् मुझे फिर समझाओ।" पिता ने कहा 'अच्छा' ।।४।।

।। नवाँ खण्ड समाप्त ।।

दशम खंड

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ।।१

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वाराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ।। २ ।। स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३

'हे सौम्य ये पूर्व की तरफ वाली नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं और पश्चिम वाली पश्चिम की तरफ बहती हैं। वे समुद्र से आती हैं और फिर उसी में पहुँच जाती हैं जैसे वे नदियां समुद्र में मिलकर यह नहीं जानती है कि 'मैं अमुक नदी हूं-और मैं अमुक हूं।' इसी प्रकार ह, सब प्रजा भी सत् से उत्पन्न होकर यह नहीं जानती कि हम

सत् से आये हैं। वे यहाँ व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, वराह, कीट पतङ्ग वा डाँस व मच्छर जो-जो होते हैं, वैसा ही फिर हो जाते हैं ॥१-२॥ यही अणु रूप वाला—आत्मा वाला जगत है और हे श्वेतकेतु तू भी वही है।' श्वेतकेतु ने कहा—'भगवन मुझे फिर समझाओ।' पिता ने कहा 'अच्छा' ॥३॥

॥ दसवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकादश खंड

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवे नात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥१

अस्य यदेकाँ् शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ स शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥२

एतमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवा म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ् सर्वं तत्सत्यँ् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवा-न्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३

हे सोम्य! इस बड़े वृक्ष की जड़ में यदि कोई चोट मारे तो वह सूख नहीं जाता, जीवित रहकर रस निकालता रहता है। इसी प्रकार कोई मध्य में चोट मारे तब भी वह जीवित रह कर रस टपकाता है। यदि कोई उपर के भाग में चोट मारे तो भी वह जीवित रह कर रस स्राव करता है। यह तब भी जीव रूपी आत्मा से व्याप्त जल पीता हुआ आनन्द से स्थित रहता है ॥१॥ जब इस वृक्ष की किसी शाखा का जीव निकल जाता है तो वह सूख जाती है। यदि दूसरी का निकल

जाता है तो वह सूख जाती है। यदि तीसरी का निकल जाता है तो वह सूख जाती है। यदि समस्त वृक्ष का जीव निकल जाता है तो वह सम्पूर्ण सूख जाता है ॥ २ ॥ जीव रहित होकर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता। उसी सूक्ष्म भाव वाला—आत्मा वाला यह जगत है, यह सत्य है और हे श्वेतकेतु! वैसे ही तू भी सत्य है।" श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! मुझे फिर समझाइए।" पिता ने कहा—'अच्छा' ॥३॥

॥ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

द्वादश खंड

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामंगेकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति ॥१

तँ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व साम्येति ॥२

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३

हे श्वेतकेतु! इस वट वृक्ष का एक फल ले आ।' 'भगवन्! ले आया।' 'इसे तोड़ डालो।' 'भगवन्! तोड़ डाला।' 'इसमें क्या देखता है?' 'भगवन्! बहुत से सूक्ष्म बीज दिखाई देते हैं।' 'इन बीजों में से एक को लेकर तोड़ डाल।' 'भगवन्! तोड़ डाला' इसमें क्या दिखाई पड़ता है?' 'भगवन्! इसमें कुछ दिखाई नहीं पड़ता' ॥ ॥ पिता ने कहा—'इस सूक्ष्म वट बीज के जिस अति सूक्ष्म

भाव को तू नहीं देख सकता उसी से इतना विशाल वट वृक्ष स्थित है। हे सौम्य ! श्रद्धा कर" ॥२॥ वह जो सूक्ष्म भाव वाला—आत्मा वाला जगत है वह सत्य है और हे श्वेतकेतु ! तू भी वैसे ही सत्य है।" श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन् ! फिर समझाइये" पिता ने कहा—'अच्छा'।३।

॥ बारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

त्रयोदश खंड

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तँ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥१

यथा विलीनमेवांगास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तँ होवाचत्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥२

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३

उद्दालक ने कहा—"इस नमक के टुकड़े को जल-पात्र में डालकर कल मेरे पास आना।" श्वेतकेतु ने पिता के कथनानुसार किया और दूसरे दिन प्रातः उसके पास पहुँचा। पिता ने कहा—"हे पुत्र ! जिस नमक को तुमने रात के समय जल-पात्र में डाला था उसे लाओ।" उसने ढूंढ़ने पर उसे न पाया ॥१॥ "हे पुत्र ! तू इस मिले हुए नमक को देख नहीं सकता, पर जानना चाहे तो इस जल का

आचमन कर।" आचमन कर लेने पर पिता ने कहा—"कैसा है?" श्वेतकेतु ने कहा—"खारा है।" अब बीच में से आचमन करके देख कि कैसा है?" "खारा है।" "अब नीचे से आचमन करके देख कि कैसा है?" "खारा है" 'अच्छा, अब जल को फेंककर मेरे समीप आ।' श्वेतकेतु ने कहा—"उस जल में नमक सर्वत्र विद्यमान था।" पिता ने कहा—"हे सोम्य! यद्यपि तू सत् को देख नहीं पाता, पर वह यहाँ पर निश्चय ही वर्तमान है" ।।२।। यह समस्त जगत ऐसे ही सूक्ष्म भाव युक्त—आत्मा युक्त है, यह सत्य है और हे श्वेतकेतु! वैसे ही तू भी सत्य है।" श्वेतकेतु ने कहा अच्छा—'भगवन्? मुझे फिर समझाइये।' पिता ने कहा 'अच्छा' ।।३।।

।। तेरहवां खण्ड समाप्त ।।

चतुर्दश खंड

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ् वोदङ् वाधराङ् वाप्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ।।१

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ।।२।।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ।।३

"हे सोम्य! यदि किसी व्यक्ति को गान्धार देश से आँखें बाँधकर कोई ले जाय और वैसे ही जङ्गल में छोड़ दे, तो वह वहाँ पूर्व उत्तर, दक्षिण, पश्चिम दिशाओं की तरफ मुंह करके चिल्लाएगा 'मुझे

आँख बाँधकर यहाँ लाया गया है और वैसे ही छोड़ दिया गया है।" उस व्यक्ति के बन्धन खोलकर यदि दूसरा व्यक्ति उसे बतलादे कि "गान्धार इस दिशा में है, इसी तरफ चला जा" तो वह बुद्धिमान और उपदेश पाया हुआ पुरुष गान्धार तक पहुँच जाता है इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने आचार्य से उपदेश प्राप्त किया है, वह सत् को जानता है। उसके लिए मोक्षप्राप्ति होने में उतना ही विलम्ब है कि जब तक वह देह रूप बन्धन से छुटकारा नहीं पा जाता। बन्धन मुक्त होने पर वह अवश्य सत् (ब्रह्म) को प्राप्त हो जाता है ॥ १-२ ॥ 'यह सब जगत् ऐसा ही सूक्ष्म भाव युक्त सत्य है और हे श्वेतकेतु ! वैसे ही तू भी सत्य है।" श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन् ! इसे फिर समझावें।" पिता ने कहा— 'अच्छा ऐसा ही हो' ॥३॥

॥ चौदहवाँ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चदश खंड

पुरुषꣳसोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥१

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥२

स य एषोऽणिमतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतचेतो इति भूय एव भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३

"हे प्रियदर्शन ! ज्वरादि से पीड़ित मरणासन्न व्यक्ति को उसके बन्धु-बान्धव घेरकर बैठ जाते हैं और पूछते हैं कि "तुम हमको पहिचानते हो—तुम हमको पहिचानते हो" "तो जब तक वाणी मन में

लीन नहीं होती, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परदेवता में लीन नहीं हो जाता, तब तक वह पहिचानता रहता है ।।१।। फिर जब उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, तेज परदेवता में लीन हो जाता है तब नहीं पहिचान पाता ।। २ ।। यह सूक्ष्म भाव वाला—आत्मा वाला जो समस्त जगत है, वह सत्य है और हे श्वेतकेतु ! तू भी सत्य है ।" "भगवन् ! मुझे फिर समझाओ ।" पिता ने कहा—'अच्छा' ।।३ ।

।। पन्द्रहवाँ खंड समाप्त ।।

षोडश खंड

पुरुषँसोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ।।१

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ।।२

स यथा तत्र नादह्येतैतदात्म्यमिदँसर्वं तत्सत्यँस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ।।३

'हे सौम्य ! अपराधी पुरुष के हाथ बाँधकर लाते हैं और कहते हैं कि इसने चोरी की है, इसके लिए कुल्हाड़ा तपाओ । यह यदि वास्तव में चोर होता है और झूँठ बोलकर अपने कृत्य को छुपाता है तो तपे हुए कुल्हाड़ा को उठाने से जल जाता है और मारा

जाता है ॥ १ ॥ और यदि वह चोरी करने वाला नहीं होता तो वह उसी से अपने को निर्देश सिद्ध करता है । वह अपने को सत्य से आवृत्त कर उस तप्त कुल्हाड़ा को ग्रहण कर लेता है और जब उससे नहीं जलता तो छोड़ दिया जाता है ॥ २ ॥ जिस प्रकार वह उस परीक्षा के समय नहीं जलता वैसे ही सत् को पा जाने वाला विद्वान् पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है । ऐसा ही रूप वाला सर्व जगत् है, वही सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है ।" तब श्वेतकेतु जान गया—'मैं सत् ही हूं ।' ॥३॥

॥ सोलहवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥ छठवाँ अध्याय समाप्त ॥

सप्तम अध्याय

प्रथम खण्ड

ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तँ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच ॥१

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवः ऽध्येमि ॥२

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तँ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥३

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ।।४

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।५

एक बार नारद जी ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा—"हे भगवन् ! मुझे उपदेश कीजिये ।' 'सनत्कुमार ने कहा 'तुम जो जानते हो उसको बतलाओ तो मैं तुमको उससे आगे का ज्ञान कहूँगा' ।। १ ।। 'हे भगवन् ! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्वण, इतिहास, पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पदेवजनविद्या, देवजनविद्या, गंधधारण, नृत्य, गीत, वाद्य इन सबको जानता हूँ । हे भगवन् ! मैं कर्मवेत्ता हूँ आत्मा के सम्बन्ध में नहीं जानता । पर मैंने आप जैसे महाज्ञानियों से सुना है कि आत्मज्ञानी मन के परिताप को पार कर लेता है । मैं आत्मज्ञान के अभाव में शोक करता रहता हूँ । हे भगवन् ! मुझे उस शोक सागर से पार कीजिये ।' सनत्कुमार ने कहा-'तुम जो कुछ जानते हो वह सब नाम ही हैं ।। २-३ ।। ऋग्वेद नाम है । इस प्रकार यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वण, इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र निरुक्त, वेदविद्या, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्प देव तथा मनुष्य की विद्या ये सब नाम की हैं । इसलिए तुम नाम की ही उपासना करो ।। ४ ।। वह जो नाम ही ब्रह्मरूप में उपासना करता है तो उसकी जहाँ तक नाम है वहाँ तक इच्छानुसार गति होती है ।' तब नारद जी ने प्रार्थना की कि 'भगवन् ! क्या नाम से कुछ अधिक है ?' सनत्कुमार ने कहा—

"हाँ, नाम से भी अधिक है।" नारद जी ने कहा—"हे भगवन्! मुझे वही बतलाइये" ॥५॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खंड

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्चतेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं च साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥१

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विती ॥२

वाणी नाम से अधिक है। वाणी ही ऋग्वेद को बतलाती है। यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धकला, गणित उत्पात-विद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्प-देव-जन विद्या, स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण वनस्पति, हिंसक पशु, कीट, पतङ्ग, चींटी, धर्म अधर्म, सत्य, मिथ्या, शुभ अशुभ, प्रिय, अप्रिय-सबको वाणी ही प्रकट करती है। जो वाणी न होती तो न धर्म का ज्ञान होता

न अधर्म का, न सत्य का होता, न मिथ्या का, अच्छे का होता न बुरे का, प्रिय का होता न अप्रिय का। वाणी ही इन सबको बतलाती है। अतः तुम वाणी की उपासना करो ॥ १ ॥ 'जो वाणी ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करता है उसकी जहाँ तक वाणी के विषय हैं जहाँ तक इच्छानुसार गति होती है।" नारद जी ने पूछा—"भगवन् ! वाणी से भी अधिक कुछ है?" सनत्कुमार ने कहा—'हाँ, वाणी से अधिक है।' तब भगवन्! मुझे वही बतलाइये ॥२॥

॥ दूसरा खण्ड समाप्त ॥

तृतीय खंड

मनो वाव भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्ठिरनुभवत्वं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनोह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥१

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२

मन ही वाणी से अधिक है। जिस प्रकार दो आँवला को, दो बेरों को, दो बहेड़ों को मुट्ठी में रख लेने पर उनका अनुभव होता है वैसे ही वाणी और नाम का अनुभव मन करता है। जब मनुष्य मन से विचार करता है कि "मन्त्रों का अध्ययन करूँ" तभी वह उच्चारण करता है "कर्म करूँ" ऐसा विचारने के पश्चात ही काम करता है। "पुत्र और पशुओं को प्राप्त करूँ" तभी उनको पाता है। "लोक और

परलोक को प्राप्त करूँ" तभी उनको प्राप्त करता है। इस प्रकार मन ही आत्मा है, मन ही लोक और मन ही ब्रह्म है। तुम मन की उपासना करो ॥१॥ "जो मन की ब्रह्मरूप में उपासना करता है, उसकी जहाँ तक मन का विषय है वहाँ तक यथेच्छ गति होती है।" 'भगवन्! मन से अधिक और कुछ है?' 'हाँ, मन से भी अधिक है।' 'भगवन्! मुझे उसी का उपदेश दीजिये' । २ ॥

॥ तीसरा खड समाप्त ॥

चतुर्थ खंड

संल्कपो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नोरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥१

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषां संक्लृप्त्यैवर्षं संकलपते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नं संकलपतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकलपन्ते प्राणानां सांलृप्त्यै मन्त्राः संकलपन्ते मन्त्राणां संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः संकलपते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकलपते स एष संकल्प संकल्पमुपास्स्वेति ॥२

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्यूपास्ते क्लृप्तान् व स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति। यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्यपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भ य इति सङ्कल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवानु प्रवीत्विति ॥३

संकल्प ही मन से अधिक है, जब संकल्प करता है, तब मन

इच्छा करता है, फिर वाणी को प्रेरणा करता है, वाणी नाम की प्रेरणा करती है। नाम में मन्त्र एक रूप हो जाते हैं और मन्त्रों में कर्मों का अंतर्भाव होता है ।।१।। पहले जो मन, वाणी आदि बतलाये हैं वे संकल्प रूप, सङ्कल्पमय और सङ्कल्प में ही स्थित हैं। स्वर्ग और पृथ्वी सङ्कल्प करने वाले मालुम होते हैं। वायु और आकाश सङ्कल्प वाले हैं। जल और तेज सङ्कल्प करने वाले हैं। इनके सङ्कल्प से वृष्टि में समर्थ होते हैं, वृष्टि के सङ्कल्प से अन्न समर्थ होता है, अन्न के सङ्कल्प से प्राण समर्थ होते हैं, प्राण के सङ्कल्प से मन्त्र समर्थ होते हैं, मन्त्रों के सङ्कल्प से कर्म समर्थ होते हैं, कर्मों के सङ्कल्प से फल समर्थ होता है, फल के सङ्कल्प से सब जगत समर्थ होता है। इस प्रकार सङ्कल्प श्रेष्ठ है, तुम सङ्कल्प की उपासना करो ।।२।। "जो सङ्कल्प की ब्रह्म रूप में उपासना करता है वह ध्रुव, नित्य, भोग सामग्री वाले, त्रास से रहित लोकों को व्यथा रहित होकर प्राप्त करता है। जहाँ तक सङ्कल्प के विषय हैं वहाँ तक उसकी इच्छानुसार गति होती है।" नारद जी ने पूछा—"हे भगवन् ! सङ्कल्प से भी अधिक कुछ है ?" सनत्कुमार बोले—"हाँ, सङ्कल्प से भी बढ़कर है।" "तब मुझे वही बतलाइये।" ।।३।।

।। चतुर्थ खण्ड समाप्त ।।

पञ्चम खंड

चित्तं वाव सङ्कल्पोद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ।।१

तानि ह वा एतानी चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैन- माहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्प-

विच्चित्तवान्भवति। तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥२

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति। यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥३

चित्त ही सङ्कल्प से उच्च है। जब मनुष्य चैतन्य होता है तभी वह सङ्कल्प करता है। फिर इच्छा करता है, वाणी को प्रेरणा करता है, नाम को प्रेरणा करता है। नाम मन्त्र के रूप में एक हो जाते हैं और मन्त्रों में कर्म का अन्तर्भाव हो जाता है ॥ १ ॥ ये समस्त (सङ्कल्प से कर्म तक) चित्त में ही लय होने वाले, चित्त से उत्पन्न होने वाले और चित्त में स्थित होने वाले होते हैं। इसलिए यदि कोई बहुत विद्वान हो, पर अचित्त (चैतन्यता के अभाव वाला) हो-तो लोग यही कहते हैं कि 'यह कुछ नहीं है। जो इसने कुछ सुना होता, जो यह विद्वान होता तो ऐसा अचित्त न होता।' पर जो थोड़ा जानने वाला भी चित्तवान होता है तो वे उसकी बात सुनना चाहते हैं। इस प्रकार चित्त ही सङ्कल्प आदि का उत्पत्ति स्थान है और तुम चित्त की ही उपासना करो ॥ २ ॥ जो इस प्रकार चित्त की ब्रह्म रूप में उपासना करता है, वह वृद्धियुक्त, नित्य भोग सामग्री युक्त, व्यथा रहित लोकों को व्यथा रहित होकर प्राप्त करता है। जो चित्त की ब्रह्म रूप से उपासना करता है वह जहाँ तक चित्त का विषय है वहाँ तक स्वेच्छा-पूर्वक प्रवृत्ति कर सकता है।' नारद ने पूछा 'भगवन्! चित्त से भी बढ़कर कोई है?' सनत्कुमार ने कहा—'हाँ, है तो सही।' 'तब भगवन्! मुझे उसी को बतलाइये' ॥३॥

॥ पंचम खण्ड समाप्त ॥

षष्ठ खंड

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वतध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्वनुन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥१

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भुयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२

ध्यान ही चित्त से श्रेष्ठ है। पृथ्वी मानों ध्यान करती हो, अन्तरिक्ष मानों ध्यान करता हो, स्वर्ग मानों ध्यान करता हो, जल मानों ध्यान करता हो, पर्वत मानों ध्यान करते हों ऐसा जान पड़ता है। देवों के समान मनुष्य भी ध्यान करते जान पड़ते हैं। इस लिए जो इस लोक में महत्व को पाते हैं वे ध्यान के बल पर ही वैसे हो सकते हैं। जो क्षुद्र होते हैं वे कलह करने वाले, चुगली खाने वाले और पर दोष कहने वाले होते हैं। जो प्रभुता वाले हैं वे ध्यान के बल से ही वैसे होते हैं। इससे तुम ध्यान की उपासना करो ॥ १ ॥ जो कोई ध्यान की ब्रह्म रूप से उपासना करते हैं तो जहाँ तक ध्यान का विषय है वहाँ तक इच्छानुसार उनकी गति होती है।' नारद जी कहने लगे 'भगवन्! ध्यान से भी बढ़कर कुछ है ?' सनत्कुमार बोले 'हां, उससे भी बढ़कर है।' तो मुझे उसी का उपदेश करें।' ॥२॥

॥ छठवां खण्ड समाप्त ॥

सप्तम खंड

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥१

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२

विज्ञान ध्यान से अधिक है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथवर्ण, इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात, विद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्प देव-जन-विद्या, स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंसकपशु, कीट-पतङ्ग; कीड़े, धर्म, अधर्म, सत्य, मिथ्या, श्रेष्ठ, हीन, प्रिय, अप्रिय, अन्न, रस यह लोक और परलोक सब को विज्ञान से ही जाना जाता है। तुम विज्ञान की उपासना करो ॥ १ ॥ जो विज्ञान की ब्रह्म रूप में उपासना करता है वह प्रसिद्ध का विज्ञान और ज्ञान वाले लोकों को प्राप्त करता है। जहाँ तक विज्ञान का विषय है वहाँ तक उसकी इच्छानुसार गति होती है।' नारद जी ने पूछा—'भगवन् ! विज्ञान से भी कुछ बढ़कर है ?'

सनत्कुमार ने कहा—'हाँ, उससे भी बढ़कर है।' 'तो भगवन् ! मुझे उसी का उपदेश करें ।।२।।

।। सातवाँ खण्ड समाप्त ।।

अष्टम खंड

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठत् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति। बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाँसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलनुपास्स्वेति ।।१

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्मि भगवो बलाद्भूय इति इलाद्वाव भूयोऽतीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ।।२

बल ही विज्ञान से अधिक है, क्योंकि सौ विज्ञानियों को एक बलयुक्त कंपा देता है। पुरुष जब बलवान् होता है तभी उठने वाला होता है, जब उठता है तो सेवा करने वाला होता है, सेवा वाला होता है तो समीप जाने वाला होता है, समीप जाने से दर्शन करने वाला होता है, श्रवण करने वाला होता है, मनन करने वाला, जानने वाला, अनुष्ठान करने वाला, अनुभव करने वाला होता है। बल से ही पृथ्वी स्थित रहती है, बल से ही अन्तरिक्ष बल से ही स्वर्ग, बल से ही पर्वत, बल से ही देव जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पतियाँ, हिंसक पशु, कीट, पतङ्ग, कीड़े तक स्थित रहते हैं। बल से ही लोक स्थित रहते

हूँ। इससे बल की उपासना करो ।। १ ।। जो बल को ब्रह्म रूप में मानकर उपासना करता है, तो जहाँ तक बल का विषय है वहाँ तक उसकी गति इच्छानुसार होती है।' नारद ने पूछा—'भगवन् ! बल से अधिक भी और कुछ है ?' सनत्कुमार ने कहा 'हाँ, बल से भी अधिक है' 'तो भगवन् ! उसी को मेरे प्रति कहें' ।।२।।

।। आठवाँ खण्ड समाप्त ।।

नवम खंड

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाद्रष्टाश्रोतामन्ताबोद्धाकर्ताविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ।।१८

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यान्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२

'अन्न ही बल से अधिक उच्च है। यदि कोई दस दिन तक भोजन न करे तो वह जीवित रहने पर भी दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान, अनुभव कर सकने में असमर्थ होता है। फिर जब उसे अन्न मिलने लगे तो वह दर्शन करने वाला, श्रवण, मनन, बोध अनुष्ठान, अनुभव करने वाला हो जाता है। इससे तुम अन्न की उपासना करो ।। १ ।। 'जो अन्न की ब्रह्म रूप में उपासना करता है वह अन्न और जल वाले लोक को पाता है। जितना अन्न का विषय है उस सब में वह इच्छानुसार प्रवृत्त हो सकता है।' नारद ने पूछा 'हे भगवन् ! अन्न से भी श्रेष्ठ और कुछ है।' 'हाँ, उससे भी बढ़कर है।' 'तो भगवन् मुझे उसी का उपदेश करें।' ।।२।।

।। नौवाँ खण्ड समाप्त ।।

दशम खंड

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद्द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुषा यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥१

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाꣳस्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवतोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२

जल ही अन्न की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसी से जब अच्छी वृष्टि नहीं होती तो प्राण यह सोच कर दुखी होते हैं कि अन्न थोड़ा होगा। और जब अच्छी वृष्टि होती है तो प्राण यह सोचकर हर्षयुक्त होते हैं कि बहुत-सा अन्न होगा। जल ही मूर्तमान पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पर्वत, देव-मनुष्य, पशु पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंसक पशु, कीट, पतङ्ग, कीड़ा मकोड़ा हैं— ये सब मूर्तमान जल ही हैं। इससे जल की उपासना करो। १॥ जो जल की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, वह सब मूर्तिमान विषयों को प्राप्त करता है, तृप्तियुक्त होता है और जहाँ तक जल का विषय है वहाँ तक अपनी इच्छानुसार गति कर सकता है? नारद ने पूछा 'भगवन्! जल से भी उत्कृष्ट अन्य कोई है?' सनत्कुमार ने कहा—'जल से भी अन्य श्रेष्ठ है।' 'तब भगवन्! मुझे उसी को बतलायें ॥२॥

॥ दसवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकादश खंड

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ।।१

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति । यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयाऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।२

तेज ही जल की अपेक्षा श्रेष्ठ है। जब यह वायु को निश्चल करके आकाश को चारों ओर से तपाता है तो सब जगत तपने लगता है और लोग कहते हैं कि वर्षा होगी। वह तेज ही पहले स्वयं प्रकट होकर फिर जल को रचता है। तेज ऊर्ध्वगामी और तिर्यंगगामी होकर बिजली के साथ गर्जने का शब्द करता है। इससे बिजली होती है, गर्जना होती है और लोग कहते हैं कि वर्षा होगी ही। इस प्रकार तेज पहले स्वयं प्रदर्शित होकर जल की रचना करता है। इससे तुम तेज की उपासना करो ।।१।।
"जो तेज की ब्रह्मभाव उपासना करता है वह तेजयुक्त, प्रकाशयुक्त और तम से रहित लोकों को पाता है। जहाँ तक तेज का विषय है वहाँ तक उसकी इच्छानुसार गति होती है।" नारद ने पूछा—"भगवन् ! तेज की अपेक्षा भी कुछ श्रेष्ठ है ?" सनत्कुमार ने कहा—'हाँ, है तो सही।' 'तब भगवन् ! उसी का मुझको उपदेश करें' ।।२।।

।। ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।।

द्वादश खंड

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥१

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२

आकाश ही तेज से श्रेष्ठ है। सूर्य, चन्द्र, बिजली, नक्षत्र, अग्नि ये सब आकाश में ही हैं और आकाश द्वारा ही परस्पर पुकारते हैं, आकाश द्वारा ही सुनते हैं, आकाश द्वारा प्रतिभाषण करते हैं, आकाश में सब क्रीड़ा करते हैं और क्रीड़ा नहीं भी करते, आकाश में जन्म लेते हैं, आकाश में ही बढ़ते हैं। इससे तुम आकाश की उपासना करो ॥१॥ 'जो आकाश की ब्रह्मभाव से उपासना करता है वह प्रसिद्ध विस्तार वाले प्रकाशयुक्त, परस्पर में पीड़ा न करने वाले, विस्तीर्ण मार्ग वाले लोकों को पाता है। जितना आकाश का विषय है उसमें उसकी इच्छानुसार गति होती है।' नारदजी ने कहा—'हे भगवन् ! आकाश से भी कुछ अधिक है?' सनत्कुमार ने कहा—'हाँ, आकाश से भी उत्कृष्ट है।' 'तब भगवन् ! मुझे वही बतलाइये' ॥ २ ॥

॥ बारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

त्रयोदश खंड

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तमाद्यद्यपि बहव आसीरन्न

स्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरयन्दा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन्स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून्स्मरमुपास्स्वेति ॥१

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२

स्मरण ही आकाश से बढ़ कर है। इससे जहाँ बहुत से बैठे हों, पर स्मरण न करते हों तो वे न तो सुनते हैं, न मनन करते हैं, न जानते हैं। वे जब स्मरण करते हैं तभी सुनते हैं, तभी मनन करते हैं, तभी जानते हैं। स्मरण से ही पुरुष पुत्रों को और पशुओं को पहिचानते हैं। इससे स्मरण की उपासना करो ॥ १ ॥ 'जो स्मरण की ब्रह्म-भाव से उपासना करता है तो जहाँ तक स्मरण का विषय है वहाँ तक उसकी गति हो जाती है।' नारद ने कहा—हे भगवन्! स्मरण से भी अधिक और कुछ है?' 'हाँ, है तो सही।' 'फिर भगवन्! मुझको उसी का उपदेश करें' ॥२॥

॥ तेरहवाँ खण्ड समाप्त ॥

चतुर्दश खंड

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥१

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं यत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२

आशा ही स्मरण से अधिक है। आशायुक्त होकर स्मरण से मन्त्रों का अध्ययन करता है, कर्म करता है, पुत्रों और पशुओं की इच्छा करता है, लोक-परलोक की इच्छा करता है। इससे आशा की उपासना करो ॥१॥ 'जो आशा की ब्रह्म-भाव से उपासना करता है उसके सब विषय आशा द्वारा समृद्धि को प्राप्त होते हैं, उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती है, जहाँ तक आशा के विषय हैं वहाँ तक इच्छानुसार गति होती है।' नारद जी ने पूछा—'हे भगवन् ! आशा से भी अधिक अन्य कुछ है?' सनत्कुमार ने कहा 'हाँ, आशा से भी अधिक है।' 'तब भगवन् ! मुझे उसी का उपदेश करें' ॥२॥

॥ चौदहवाँ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चदश खंड

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वँ समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥१

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वास्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥२

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥३

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥४

प्राण ही आशा से श्रेष्ठ है। जिस प्रकार रथ के पहिये के नाभि में अरे स्थित होते हैं उसी प्रकार प्राण में समस्त जगत स्थित है। प्राण, प्राण द्वारा ही गमन करता है। प्राण ही प्राण को दान कराता और प्राण के लिए ही देता है। प्राण ही पिता, प्राण ही माता, प्राण भाई, प्राण बहिन, प्राण आचार्य और प्राण ही ब्राह्मण है ॥ १ ॥ यदि कोई पिता, माता, भाई, बहिन, आचार्य अथवा ब्राह्मण के प्रति अनुचित कथन करता है तो सुनने वाले उससे कहते हैं 'तुझे धिक्कार है, तू अवश्य ही पिता का हनन करने वाला है, माता का हनन करने वाला है, भ्रातृघाती है, बहिन की हत्या करने वाला है, आचार्य का हनन करने वाला है, ब्रह्मघाती है—इस प्रकार उससे कहते हैं ॥ २ ॥ पर जब शरीर से प्राण निकल जाते हैं, तो चाहे उनको शूल से इकट्ठा करके, काट पीट कर जलादे तो भी कोई नहीं कहता कि 'तू पिता का हत्यारा, माता का हत्यारा है, भाई को मारने वाला है, बहिन का घात करने वाला है, आचार्य की हत्या करने वाला है अथवा ब्रह्मघाती है।' ऐसी बात कोई नहीं कहता ॥३॥ इस प्रकार प्राण ही पिता आदि होते हैं। जो प्राणों को इस प्रकार अनुभव करता है, चिन्तन करता है, निश्चय करता है वह 'अतिवादी' कहा जाता है। अगर कोई उससे 'अतिवादी' कहे तो उसे स्वीकार करना चाहिये कि 'मैं अतिवादी हूँ'। 'इसको छुपाना नहीं चाहिये ॥४॥

॥ पन्द्रहवाँ खंड समाप्त ॥

षोडश खंड

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥१

सनत्कुमार ने फिर कहा—'जो सत्य के लिए अतिवाद करता है वह अवश्य अतिवाद वाला है।' नारद जी ने कहा 'हे भगवन्! मैं सत्य के लिये ही अतिवाद करूँ ऐसा हो।' सनत्कुमार ने कहा 'वह सत्य ही विशेष जानने योग्य है।' 'भगवन्! मैं उस सत्य को ही विशेष रूप से जानता हूँ' ॥१॥

॥ सोलहवाँ खण्ड समाप्त ॥

सप्तदश खंड

यदा वै विजानात्यथ सत्यं विदत नाविजानन्सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१

भगवान् सनत्कुमार ने कहा—'जब सत्य को विशेष रूप से जान लेता है तभी सत्य कथन करता है। विशेष नहीं जानने से सत्य को नहीं कह सकता। जो सत्य कहते हैं वे विज्ञान को विशेष जानने योग्य बतलाते हैं।' नारद जी ने कहा 'भगवान्! मैं विज्ञान को ही जानना चाहता हूँ।' ॥१॥

॥ सत्रहवाँ खण्ड समाप्त ॥

अष्टादश खंड

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वेव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१

सनत्कुमार ने कहा 'जब मनन करता है तभी वह विशेष जान सकता है। मनन न करने पर विशेष रूप से नहीं जान सकता। मनन करके ही विशेष जान जाता है, इससे मनन ही जानने योग्य है।'

नारद जी ने कहा—'भगवन् मैं मनन को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ' ॥१॥

॥ अठारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकोनविंश खंड

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। श्रद्धां भगवो विजिज्ञासि इति ॥१

सनत्कुमार जी बोले—'जब श्रद्धा करता है तभी मनन होता है, अश्रद्धा से मनन नहीं होता। श्रद्धा करने वाला ही विशेष मनन कर सकता है, इससे श्रद्धा विशेष जानने योग्य है।' नारद जी ने कहा—'भगवन्! मैं श्रद्धा को विशेष रूप से जानना चाहता हूं' ॥१॥

॥ उन्नीसवाँ खण समाप्त ॥

विंश खंड

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥१

'जब निष्ठा करता है तभी श्रद्धा होती है। जो निष्ठा नहीं करता वह श्रद्धा भी नहीं कर सकता। निष्ठा रखने वाला ही श्रद्धा करता है, इससे निष्ठा विशेष जानने योग्य है।' 'भगवन्! मैं निष्ठा को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ' ॥१॥

॥ बीसवाँ खण्ड समान्त ॥

एकविंश खंड

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१

'जब कृति (कर्म करना) होती है तभी श्रद्धा होती है। जिसमें कृति नहीं है वह श्रद्धा भी नहीं कर सकता। कृति से ही निष्ठा होती है, इससे कृति विशेष जानने योग्य है।' भगवन्! मैं कृति को विशेष जानना चाहता हूँ' ॥ ॥

॥ इक्कीसवाँ खण्ड समाप्त ॥

द्वाविंश खंड

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥१

सनत्कुमार ने कहा—'जब सुख को प्राप्त करता है तब कृति होती है। असुख पाकर कृति नहीं की जाती। सुख को पाकर ही कृति करता है, इससे सुख विशेष जानने योग्य है।' 'भगवन्! मैं सुख को जानने की इच्छा करता हूँ' ॥१॥

॥ बाईसवां खण्ड समाप्त ॥

त्रयोविंश खंड

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१

'जो भूमा (निरतिशय) है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं

है। भूमा में ही सुख है इससे भूमा ही विशेष जानने योग्य है।" "भगवद्! मैं भूमा (निरतिशय) को ही जानने की इच्छा करता हूँ" ॥ १ ॥

॥ तेईसवां खण्ड समाप्त ॥

चतुर्विंश ड

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यंम्। स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥१

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥२

सनत्कुमार जी ने कहा—"जहाँ अन्य किसी को नहीं देखता, और कुछ नहीं सुनता, और कुछ भी नहीं जानता वह भूमा है। इसके विपरीत जहाँ अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है वह अल्प है। इस प्रकार भूमा अविनाशी है और अल्प विनाशयुक्त है।" नारद जी ने पूछा—'हे भगवन्! भूमा किसमें स्थित है?' सनत्कुमार ने कहा—'भूमा अपनी ही महिमा में स्थित है और वस्तुत: तो उसमें भी नहीं है अर्थात् आश्रय रहित है ॥१॥ संसार में तो गाय, घोड़ा, हाथी, सोना, दास, स्त्री, भूमि और घर आदि को विभूति कहा जाता है। इस प्रकार अन्य, अन्य में स्थित हैं। मैं ऐसा नहीं मानता' ॥२॥

॥ चौबीसवाँ खड समाप्त ॥

पञ्चविंश खंड

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥१

अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराडभवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानास्ते क्षय्यलोका भवति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥२

"भूमा वह है जो नीचे है और ऊपर भी है, वही पश्चिम में है और वही पूर्व में, वही दक्षिण में है और वही उत्तर में। वही सर्वत्र व्याप्त है। उसी भूमा में अहङ्कारवश (व्यक्तिगत भाव से) इस प्रकार कथन करते हैं कि—"मैं ऊपर हूं—मैं नीचे हूं—मैं दायीं ओर हूं—मैं बायीं ओर हूं—मैं दक्षिण की तरफ हूं—मैं उत्तर की तरफ हूं—मैं सब हूं" ॥ १ ॥ इस प्रकार आत्मा की दृष्टि से भूमा का लक्षण यही है कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पश्चिम की ओर है, आत्मा ही पूरब की ओर है, आत्मा ही उत्तर में हैं, आत्मा ही दक्षिण में है, आत्मा ही सब कुछ है। जो ज्ञानी पुरुष आत्मा को इस प्रकार देखता, मनन करता, जानता है, वह आत्मा में ही रमण करने वाला, आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला, आत्म-मिथुन वाला, आत्मा रूप आनन्द वाला होता है। वह स्वराट (अपने राज्य का स्वामी आप) होता है और सब लोकों में उसकी यथेच्छ गति होती है। अब जो इससे विपरीत समझते हैं वे अन्य राट् (दूसरे के राज्य में रहने वाले) होते

हैं। वे विनाशशील होते हैं और उनकी गति स्वेच्छानुसार सर्वत्र नहीं हो सकती' ।।२।।

।। पच्चीसवाँ खण्ड समाप्त ।।

षड्विंश खंड

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्द्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदँ सर्वमिति ।।१

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुखताँ-सर्वँ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति । स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शत च दश चैकश्च सहस्राणि च विँशतिराहरशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारस्तँ स्कन्द इत्याचक्षते तँ स्कन्द इत्याचक्षते ।।२

सनत्कुमार जी ने कहा—'जो इस प्रकार देखता हैं, इस प्रकार मनन करता है, इस प्रकार जान लेता हैं उसके लिए आत्मा से हीं प्राण आत्मा से ही आशा, आत्मा से ही स्मरण, आत्मा से ही आकाश, आत्मा से ही तेज, आत्मा से ही जल, आत्मा से ही अविर्भावि तिरोभाव, आत्मा से ही अन्न, आत्मा से ही बल, आत्मा से ही विज्ञान, आत्मा से ही ध्यान, आत्मा से ही चित्त, आत्मा से ही सङ्कल्प, आत्मा से ही मन,

आत्मा से ही वाणी, आत्मा से ही नाम, आत्मा से ही मन्त्र, आत्मा से ही कर्म—यह सब कुछ आत्मा से ही हो जाता है ॥ १ ॥ इस सम्बन्ध में यह श्लोक है—'ज्ञानी न मृत्यु को देखता है, न रोग को और न दुःख को। वह सब को आत्म रूप देखता है और सब कुछ प्राप्त कर लेता है।' वह एक होता है, फिर तीन (तेज, जल और पृथ्वी) हो जाता है, फिर पांच (पञ्च विषय), सात (सप्त लोक), नौ (नव ग्रह) हो जाता है। वही फिर ग्यारह (दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन), एक सौ दस (वृत्तियाँ और इक्कीस हजार (श्वासोछ्वास) भी हो जाता है। आहार की शुद्धि से अंतःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि से निश्चल स्मृति प्राप्त होती है, स्मृति प्राप्त हो जाने पर सब ग्रंथियों अविद्या जनित भावों) का नाश हो जाता है।' इस प्रकार जिनकी वासनाऐं क्षीण हो चुकी थीं ऐसे नारद को भगवान सनत्कुमार ने अज्ञानान्धकार दूर कर आत्मज्ञान का दर्शन कराया। उन सनत्कुमार जी को 'स्कन्द' भी कहते हैं ॥२॥

॥ छब्बीसवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥

अष्टम अध्याय

प्रथम खण्ड

हरिः ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥१

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः कि तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥१

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥३

तं चेद्ब्रूयुरस्मिँ्श्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वँ् समाहितँ् सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वँ्सते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥४

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं य क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥५

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताँ्श्च सत्यान्कामाँ्स्तेषाँ् सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताँ्श्च सत्यान् कामाँ्स्तेषाँ् सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥६

श्रेष्ठ बुद्धि वाले इस प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म के रूप को समझ सकते हैं, पर मन्द बुद्धि वालों के लिए यह सम्भव नहीं है। इस लिए उनको अपने शरीर के भीतर ही ब्रह्म का ज्ञान कराने और सगुण रूप में परमात्मा का बोध कराने को इस अध्याय में उपदेश किया गया है। अब इस ब्रह्मपुर (शरीर) में अल्प-कमल-रूप घर (हृदय) है उसमें सूक्ष्म अंतराकाश है। उसके भीतर जो कुछ है उसका साक्षात्कार करना उचित है ॥ १ ॥ इस कथन को सुन कर यदि शिष्य आचार्य से पूछे कि 'इस ब्रह्मपुर में जो कमल रूप घर है और उसमें जो सूक्ष्म

अन्तराकाश है, उसके भीतर क्या वस्तु है जिसको खोजना चाहिये ?' तो आचार्य को इसका उत्तर देना चाहिये कि जितना यह भौतिक आकाश दिखाई पड़ता है उतना ही हृदय के भीतर का आकाश भी है। इसके भीतर स्वर्ग और पृथ्वी पूर्णतया स्थित हैं। इसी में अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र, बिजली और नक्षत्र, और जो कुछ भी इस लोक में है और नहीं भी है, वह सब इसके भीतर स्थित है ॥२-३॥ अब यदि आचार्य से शिष्यगण यह पूछें कि 'इस ब्रह्मपुर (शरीर) में यदि सब कुछ पूर्णतया मौजूद है, सब भूत और सब विषय इसी में स्थित हैं, तो जब इस शरीर में वृद्धावस्था आती है अथवा यह विनाश को प्राप्त होता है तो क्या शेष रह जाता है ?" ॥४॥ तो आचार्य को कहना चाहिए—'इस शरीर में वृद्धावस्था आने से अन्तराकाश वाला ब्रह्म जीर्ण नहीं होता, इसके मारे जाने से ब्रह्म नहीं मारा जाता। यह ब्रह्मपुर सत्य है, इसमें सब विषय स्थित हैं। यह आत्मा पाप से रहित, जरा रहित, मृत्यु रहित, मनोव्यथा से रहित, खाने-पीने की इच्छा से रहित, सत्य कामना वाली, सत्य सङ्कल्प वाली है। जिस प्रकार इस लोक में प्रजा आज्ञानुसार व्यवहार करती है और देश, स्वदेश या प्रदेश की इच्छा करती है, राजा की आज्ञा से वैसे ही जीवन निर्वाह करती है ॥५॥ जिस प्रकार लोक में कर्म द्वारा प्राप्त भोग समाप्त हो जाता है उसी प्रकार परलोक के लिए जो पुण्य सम्पादन किया जाता है वह भी उसका भोग भी क्षीण हो जाता है। इसलिए जो लोग बिना आत्मज्ञान प्राप्त किये परलोक जाते हैं उनकी समस्त लोकों में यथेच्छ गति नहीं हो पाती। पर जो यहाँ आत्मा का अनुभव करके मृत्यु को प्राप्त होते हैं, सत्य कामनाओं को जानकर परलोक में जाते हैं उनको सब लोकों और सब भोगों को प्राप्त करने की स्वतन्त्रता होती है ॥६॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खंड

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥१

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥२

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥३

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥४

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥५

जो पितृलोक के भोगों की कामना वाला होता है, उसके संकल्प से ही पितृगण उपस्थित हो जाते हैं। वह पित्रों के सम्बन्ध से महिमा का अनुभव करता है ।।१।। अब जो पित्रों के सुख की इच्छा वाला होता है उसके संकल्प से मातायें उपस्थित हो जाती हैं और मातृलोक के सम्बन्ध से महिमा का अनुभव करता है ।।२।। अब जो भाई के लोक की कामना वाला होता है उसको सङ्कल्प से भाई उपस्थित हो जाते हैं और वह भाई के सम्बन्ध से महिमा का अनुभव करता है।३। अब जो भगिनी लोक की कामना वाला होता है उसके सङ्कल्प से भगनियाँ ही उपस्थित हो जाती हैं और वह भगिनी के सम्बन्ध से महिमा का अनुभव करता है ।।४।। अब जो मित्रों के लोक के सुखों की इच्छा वाला होता है उसके संकल्प से मित्र आकर मिल जाते हैं और वह मित्रों के सम्बन्ध से महिमा का अनुभव करता है ।।५।।

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते ।।६

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यान्नापाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पनो महीयते ।।७

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ।।८

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ।।९

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पनो महीयते ।।१०

अब जो गन्ध लोक की कामना वाला होता है उसके सङ्कल्प से सुगन्ध और पुष्पमाला आदि प्राप्त होती हैं और वह गन्धमाला से ऐश्वर्य का अनुभव करता है ।।६।। अब जो अन्न, जल के लोक की कामना वाला होता है उसके संकल्प से अन्न, जल प्राप्त होते हैं। वह अन्न, जल के सम्बन्ध से ऐश्वर्य का अनुभव करता है ।। ७ ।। अब जो गीतवाद्य के उपभोग की इच्छा वाला होता है उसके संकल्प से गीतवाद्य प्राप्त होते हैं और वह गीतवाद्य के सम्बन्ध से ऐश्वर्य का अनुभव करता है ।। ८ ।। अब जो स्त्री-लोक के सुख की इच्छा वाला होता है उसके संकल्प से स्त्रियाँ उपस्थित होती हैं और वह स्त्रियों के सम्बन्ध से ऐश्वर्य का अनुभव करता है ।। ९ ।। वह जिस-जिस प्रदेश की इच्छा वाला होता है जिन भोगों की इच्छा रखता है उसके संकल्प से ही वे प्राप्त होते हैं और उनके सम्बन्ध से वह महिमा अनुभव करता है ।।१०।।

।। द्वितीय खण्ड समाप्त ।।

तृतीय खंड

स इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाꣳ सत्यानाꣳ सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥१

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधाना-स्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥२

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳहृदयमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥३

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति-रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृत-मभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥४

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तद-मृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेत ॥५

ये भोग सत्य होते हुए भी मिथ्या से (तृष्णा) से आवृत्त रहते हैं। सत्य होने पर भी मिथ्या से ढके रहते हैं। इससे मनुष्य का जो सम्बन्धी मर कर जाता है उसे वह फिर नहीं देख सकता ॥ १ ॥ अब मनुष्य के जो सम्बन्धी इस लोक में जीवित हैं और जो मरे हैं उनकी तथा अन्य पदार्थों की इच्छा करने पर उनकी प्राप्ति नहीं होती, पर हृद-याकाश स्थित ब्रह्म की उपासना से वे सब प्राप्त हो जाते हैं। कारण यह कि यहाँ वे सत्य भोग मिथ्या द्वारा ढके रहते हैं। इसके दृष्टान्त के लिये एक श्लोक है कि भूमि में गढ़े हुए सुवर्ण-भंडार को नहीं जानने वाला

उसके ऊपर चलता हुआ भी उसे नहीं पाता, इस प्रकार अविद्या में ग्रस्त लोग नित्य (सुषुप्ता अवस्था में) ब्रह्मलोक को जाकर उसे प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि वे मिथ्या द्वारा बंधे होते हैं ॥२॥ वह आत्मा हृदय में है। 'हृदय' शब्द का अर्थ है 'हृदि अयम' अर्थात् 'यह हृदय में है।' निरुक्त के अनुसार 'हृदय' का यह अर्थ है। जो इस प्रकार आत्मा को हृदय में जानता है वह निश्चित रूप से हृदय स्थित ब्रह्म को पाता है ॥ ३ ॥ यह जो संप्रसाद (निर्मलता को प्राप्त) है वह इस शरीर को त्यागकर उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होता है और अपने स्वरूप में भली प्रकार स्थित होता है। आचार्य ने बताया यही आत्मा है, अविनाशी है और अभय है। यही ब्रह्म है और उस ब्रह्म का नाम 'सत्य' है ॥४॥ ब्रह्म का जो 'सतीय' नाम है उसमें 'स' अविनाशी है 'त' विनाशी और 'यम्' दोनों अक्षरों का नियमन करने वाला है। अतः 'यम्' को इस प्रकार जानने वाला नित्य प्रति हृदयस्थित ब्रह्म को पाता है ॥५॥

॥ तीसरा खण्ड समाप्त ॥

चतुर्थ खंड

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय नैतँसेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतँ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥१

तस्माद्वा एतँसेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतँ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥२

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाँसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥३

अब जो यह आत्मा है यह इन पृथ्वी आदि लोकों को विनाश से बचाने के लिए धारण करने वाला सेतु है। इस सेतु को दिन-रात अतिक्रमण नहीं कर सकते और न वृद्धावस्था, मृत्यु, मनःसन्ताप इसको प्रभावित कर सकते हैं। इसको पुण्य-पाप भी स्पर्श नहीं करते क्योंकि यह पाप रहित ब्रह्मरूप है ।।१।। इसी से इस सेतु को प्राप्त करके अंधा होने पर भी अन्धा नहीं होता, शोकग्रस्त होने पर भी शोकमुक्त होता है रोगी होने पर भी रोगरहित हो जाता है। इससे इस सेतु को पार कर लेने पर रात्रि भी दिवस रूप हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मरूप (आत्मा) सदैव प्रकाशमान है ।।२।। जो इस ब्रह्मरूप लोक को ब्रह्मचर्य और त्याग द्वारा जान लेते हैं वे इस ब्रह्मलोक को पाते हैं और सर्वत्र इच्छानुसार उसकी गति होती है ।।३।।

।। चौथा खण्ड समाप्त ।।

पञ्चम खंड

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दन्तेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ।।१

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ।।२

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीतस्यामितो दिवि तदैरंमदीयꣳ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम् ।।३

तद्य एवैतावरं च ण्य चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाᳬसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥४

अब जिसको 'यज्ञ' कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि जो ब्रह्मचर्य द्वारा आत्मा का ज्ञाता होता है वह ब्रह्मलोक को पाता है। ब्रह्मचर्य 'इष्ट' भी है, क्योंकि इसके द्वारा इच्छानुसार आत्मा की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥ जिसे 'सत्रायण' कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि सत् ब्रह्मचर्य द्वारा ही रक्षा प्राप्त करता है । 'मौन' भी ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा आत्मा को जानकर मनन किया जाता है ॥२॥ जिसको 'अनशन' कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा ही यह ज्ञात होता है कि आत्मा का नाश नहीं होता। अब जिसे 'अरण्य-गमन' कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि यहाँ से जो तीसरा स्वर्ग ब्रह्मलोक है वहाँ 'अर' और 'ण्य' नाम के दो समुद्र हैं। तीसरा समुद्र अन्न के रस में पूर्ण है । वहीं ऐसा पीपल है जिससे अमृत टपकता है, अपराजित नाम की ब्रह्म की पुरी है और प्रभु निर्मित स्वर्ग-मंडप है ॥ ३ ॥ ब्रह्मलोक में 'अर' और 'ण्य' नामक जो दो समुद्र हैं उनको ब्रह्मचर्य द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। उन्हीं को सब लोकों के भोगों में यथेच्छ गति होती है।

॥ पाँचवाँ खण्ड समाप्त ॥

षष्ठ खंड

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥१

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैव-

मेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चमुं चमुष्मादादित्यत्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥२

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥३

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥४

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥५

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यास्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥६

अब जो इस हृदय की नाड़ियाँ हैं वे पिंगल, श्वेत, नीले, पीले और लाल रङ्ग की हैं। यह आदित्य ही पिंगल, श्वेत, नीले, पीले और लाल रङ्ग का है ॥ १ ॥ जैसे कोई विस्तीर्ण मार्ग फैलकर समीप के और दूर के दोनों ग्रामों तक जाता है, उसी प्रकार सूर्य किरणें-लोक और मनुष्य के शरीर दोनों तक जाती हैं। वे आदित्य मंडल से निकल कर नाड़ियों में प्रवेश करती हैं और नाड़ियों से निकल कर आदित्य मंडल में प्रविष्ट होती हैं ॥ २ ॥ जब सोता हुआ यह मनुष्य प्रसन्नतायुक्त स्वप्न का अनुभव नहीं करता, उस समय वह इन नाड़ियों में प्रविष्ट रहता है। उस समय कोई पाप उसे नहीं लगता क्योंकि वह तेज से व्याप्त रहता है। ३ ॥ जब यह मनुष्य बल रहित होकर मरणासन्न

हो जाता है तब चारों ओर बैठे सम्बन्धी जन पूछते हैं-'मुझे पहिचानते हो ?' 'मुझे पहिचानते हो ?' तो जब तक वह शरीर से बाहर नहीं निकलता तब तक पहिचानता रहता है ।। ४ ।। फिर जब वह शरीर से निकल जाता है तो इन किरणों द्वारा ही वह ऊपर जाता है। वह ॐ कहता हुआ ऊर्ध्व अथवा अधोलोक को जाता है। उसका जीव मन की गति समान तुरन्त आदित्य में पहुँच जाता है जो लोकों का द्वार है। यह उपासना करने वालों के लिए उच्च लोक प्राप्त कराने वाला और उपासना विहीन जनों को रोकने वाला है ।।५।। इस विषय में यह मन्त्र कहा गया है—'हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक (सुषमणा) मूर्धा के प्रति (मस्तक को) गई है। उपासना करने वाला जीव उस नाडी से निकल कर अमृतत्व को प्राप्त करता है। शेष इधर उधर जाने वाली नाड़ियाँ केवल बाहर निकालने वाली हैं। (उनसे ऊर्ध्व लोकों में गति नहीं होती) ।।६।।

V.9

।। छठवां खण्ड समाप्त ।।

सप्तम खंड

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाँश्च लोकानाप्नोति सर्वाँश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ।'१

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाँश्च लोकामाप्नोति सर्वाँश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानामेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ।।२

तौ ह द्वात्रिँशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्तावावास्तमिति तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा

विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा ँश्च लोकानाप्नोति सर्वा ँश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥३

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच ॥४

(अब आत्मा के स्वरूप का विशेष निर्णय करने के उद्देश्य से इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका कहते हैं) प्रजापति ने कहा कि जो आत्मा पाप से रहित, वृद्धावस्था से रहित, मृत्यु से रहित, मनःकष्ट से रहित, क्षुधारहित, तृषारहित, सत्य भोग युक्त है वही जानने और अनुभव करने योग्य है। जो आत्मा को जानकर उसका अनुभव प्राप्त करता है वह सब लोकों और उनके भोगों को प्राप्त कर लेता है। ॥ १ ॥ प्रजापति के इस कथन को देवता और असुर दोनों परम्परा से सुनते आये थे। वे कहने लगे कि उस आत्मा को जानना चाहिये कि जिसके जानने से सब लोकों और भोगों को प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा विचार देवताओं में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन एक दूसरे से ईर्ष्या भाव रखते हुए समिधा लेकर प्रजापति के समीप आये ॥२॥ वे प्रजापति के समीप 'बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य' का पालन करते हुए निवास करते रहे। तब प्रजापति ने कहा—'तुमने किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहाँ वास किया है!' वे दोनों कहने लगे—'जो आत्मा पाप रहित, जरा रहित, मृत्यु रहित, क्षुधा रहित, तृष्णा रहित, सत्यकाम, सत्य सङ्कल्प है वही जानने योग्य और अनुभव करने योग्य है। जो उस आत्मा को जान लेता है और अनुभव कर लेता है वह सब लोकों और सब भोगों को पाता है' ऐसे आपके कथन को सब

शिष्ट जन बतलाते हैं। हमने उसी आत्मा को जानने के लिए यहाँ वास किया है ॥३॥ उन दोनों से प्रजापति कहने लगे—'आँख के भीतर जो यह पुरुष रूप दिखाई देता है यह आत्मा है, यह अमृत, अभय और ब्रह्म रूप है' वे प्रतिबिम्ब को ही आत्मा समझकर पूछने लगे—'भगवन् ! यह जो जल में और दर्पण में चारों ओर से दिखाई पड़ता है उसमें आत्मा कौन सा है।' प्रजापति ने कहा—'मैंने नेत्रों के भीतर जो द्रष्टा बतलाया वही इन सबमें भी जान पड़ता है' ॥४॥

॥ सातवाँ खण्ड समाप्त ॥

अष्टम खंड

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥१

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥२

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥३

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो

हैतामुपनिषदं प्रोवचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥४

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाꣳह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सꣳस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥५

'जल से भरे पात्र में अपने को देखो और फिर आत्मा के विषय में तुम जो न जान सके हो वह मुझे बतलाना।' प्रजापति का यह कथन सुन कर उन दोनों ने जल के पात्र में देखा। तब प्रजापति ने कहा—'क्या देख रहे हो?' दोनों ने उत्तर दिया—'हे भगवन्! शरीर के रोम-रोम और नख पर्यन्त प्रतिबिम्ब रूप यह आत्मा हमको दिखाई पड़ रही है' ॥ १ ॥ प्रजापति ने उनसे कहा—'तुम सुन्दर अलङ्कार और वस्त्र धारण करके तथा समस्त देह को खूब परिष्कृत करके फिर जल के भीतर देखो।' वे तदनुसार सुन्दर अलंकार तथा वस्त्र धारण करके तथा परिष्कृत होकर जल-पात्र में देखने लगे। प्रजापति ने पूछा—'क्या देख रहे हो?' ॥ २ ॥ उन्होंने कहा—'हे भगवन्! जिस प्रकार हम सुन्दर अलंकार और वस्त्रों से युक्त तथा परिष्कृत हैं, उसी प्रकार ये दोनों भी सुन्दर अलंकार और वस्त्र वाले तथा परिष्कृत हैं।' प्रजापति ने कहा—'यही आत्मा है जो अविनाशी, अभय और ब्रह्म है।' प्रजापति के वचन सुनकर वे संतुष्ट होकर चले गये ॥ ३ ॥ प्रजापति ने उनको दूर जाते हुये देखकर कहा—'आत्मा को नहीं जानकर उसका अपरोक्ष अनुभव किये बिना जो ये जान रहे हैं, ये देवता हों चाहे असुर, जो ऐसे विचार वाले होंगे उनका पराभव ही होगा।' विरोचन ने तो असुरों के पास पहुँचकर सन्तुष्ट भाव से बतलाया—'आत्मा (शरीर) ही इस लोक में पुजने योग्य, सेवा करने योग्य है। जो आत्मा को पूजेगा और उसकी सेवा करेगा वह इस लोक

और परलोक दोनों को प्राप्त करेगा' ॥ ४ ॥ इसी कारणवश संसार में जो दान नहीं करता, श्राद्ध नहीं करता, यजन नहीं करता, ऐसे व्यक्ति को देख कर सज्जन पुरुष खेदपूर्वक कहते हैं 'यह असुर स्वभाव वाला है।' यह लक्षण असुरों के ही हैं। इसी से वे मृतक शरीर को भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि से सज्जित करते हैं और समझते हैं कि हम इसी के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करेंगे ॥५॥

॥ आठवाँ खण्ड समाप्त ॥

नवम खंड

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृतो भवति सुवने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेश नश्यति ॥१

नाहमत्र भोग्यं पश्यामिति स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥३

पर इन्द्र जब तक देवताओं के पास नहीं पहुँचा तभी मार्ग में उसे इसमें भय जान पड़ा कि—'जैसे अलंकार पहिनने से शरीर का प्रति-

विम्ब भी अच्छे अलङ्कारयुक्त दिखाई पड़ता है, सुन्दर वस्त्र धारण से वह सुन्दर वस्त्रयुक्त होता है, परिष्कृत होने से वह भी परिष्कृत दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार अगर यह शरीर अन्धा होगा तो उसका प्रतिविम्ब रूप आत्मा भी अन्धा होगा, अगर यह स्राम होगा तो वह भी स्राम होगा अगर वह लूला होगा तो वह भी लूला होगा और यदि यह शरीर नष्ट हो जायगा तो इसकी प्रतिबिम्ब रूप आत्मा भी नष्ट हो जायगी। इसमें तो मुझे कोई लाभ नहीं दिखाई पडता ॥१॥ तब वह इन्द्र पुनः समिधा हाथ में लेकर प्रजापति के समीप उपस्थित हुआ। प्रजापति ने कहा—'हे इन्द्र! तुम तो सन्तुष्ट होकर विरोचन के साथ चले गये थे, अब किस इच्छा से फिर आये हो?'' इन्द्र ने कहा—'हे भगवन्! जिस प्रकार इस शरीर के अलंकृत करने से इसका प्रतिबिम्ब रूप आत्मा भी अलंकृत दिखाई पड़ता है, सुन्दर वस्त्र पहिनने से वह भी सुन्दर वस्त्रयुक्त होजाता है, परिष्कृत होने से वह भी परिष्कृत होता है, वैसे ही अगर यह शरीर अन्धा हो जाय तो प्रतिबिम्ब रूप आत्मा भी अन्धा होगा, अगर यह स्राम हो तो वह भी स्राम होगा, यह लूला हो तो वह भी लूला होगा, जब शरीर का नाश हो जायगा तो वह भी नष्ट हो जायगा। इससे मैं इस प्रतिबिम्ब रूप आत्मा के विचार में कोई लाभ नहीं देखता ॥२॥ प्रजापति ने कहा—'हे इन्द्र! तुम्हारा विचार ठीक है। मैं तुमको आत्मा के विषय में पुनः बतलाऊँगा। अब तुम पुनः बत्तीस वर्ष तक यहाँ निवास करो।' तब इन्द्र बत्तीस वर्ष तक वहाँ रहा और तब भगवान् प्रजापति उससे कहने लगे ॥३॥

॥ नौवाँ खण्ड समाप्त ॥

दशम खण्ड

स एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदय प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेत-

ङ्क्षयं ददर्श तद्यद्यपीदँ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥१

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२

स समित्पाणिः पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं स भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥३

न वधेनास्त हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥५

प्रजापति ने कहा—'यह जो स्वप्न में पूज्यमान होता विचरता है वह आत्मा है। वही अविनाशी, अभय और ब्रह्म है।' इन वचनों को सुनकर इन्द्र सन्तुष्ट होकर चला गया। पर देवताओं के पास पहुँचने से पहले ही वह इस विचार में यह दोष समझने लगा कि—'यद्यपि इस शरीर के अन्धा होने पर स्वप्न का शरीर अन्धा नहीं होता, इसके स्राम होने पर स्वप्न-शरीर स्राम नहीं होता। इस शरीर के मारे जाने पर स्वप्नात्मा मारा नहीं जाता और इसकी स्रामता के कारण वह स्राम नहीं हो जाता। पर स्वप्न में भी ऐसा जान पड़ता है कि कोई इसे मार रहा है, खदेड़ रहा है, अप्रिय प्रसङ्ग से दुखी हो रहा है, रो रहा है। इसलिए इस स्वप्नात्मा में भी कोई फल नहीं जान पड़ता' ॥१–२॥ तब वह पुनः हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के समीप आया। प्रजा-

पति ने कहा—"हे इन्द्र ! तुम तो सन्तुष्ट होकर चले गये थे। अब किस इच्छा से पुनः आये हो ?" इस पर इन्द्र कहने लगा—"भगवन् ! यद्यपि इस शरीर के अन्धा होने पर स्वप्न में यह अन्धा नहीं हो जाता, यह स्राम हो तो स्वप्न में स्राम नहीं हो जाता, इसमें कोई दोष हो जाय तो स्वप्नात्मा में वह दोष नहीं जान पड़ता, इस शरीर को मार डाला जाय तो स्वप्नात्मा मारा नहीं जाता, इसकी स्रामता से उसमें स्रामपन भी नहीं आता। परन्तु स्वप्न में भी ऐसा प्रतीत होता है कि कोई स्वप्नात्मा को मार रहा है, खदेड़ रहा है, शोक कर रहा है, रो रहा है, मुझे ऐसे स्वप्नात्मा में कोई फल दिखाई नहीं पड़ता।" इन्द्र की बात सुनकर प्रजापति कहने लगे—"हे इन्द्र ! यह बात ठीक है। अब मैं तुमको फिर आत्मा का मर्म समझाऊँगा। तुम पुनः बत्तीस वर्ष यहाँ रहो।" इन्द्र बत्तीस वर्ष रहा तब भगवान् प्रजापति उससे कहने लगे ॥ ३-४ ॥

॥ दसवाँ खण्ड समाप्त ॥

एकादश खंड

तद्यत्रतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाहखल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवाप्रीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१

स समित्पाणिः पुनरेयाय तं ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामिति ॥२

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतं सम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥३

'जब यह सोया हुआ सब तरह से शान्त होता है और स्वप्नादि का भी अनुभव नहीं करता वह आत्मा है। वही अमृत, अभय और ब्रह्म है।' प्रजापति के इस कथन को सुनकर इन्द्र सन्तुष्ट होकर चला गया। पर देवों के पास पहुँचने के पूर्व ही वह विचार करने लगा—"उस सुषुप्ति अवस्था में तो आत्मा अपने को भी नहीं जानता कि—यह मैं हूँ। अन्य पदार्थों को भी नहीं जानता और ऐसा हो जाता है मानो इसका नाश ही हो गया हो। इस सुषुप्ति अवस्था के आत्मा में मुझे कोई फल नहीं जान पड़ता" ॥ १ ॥ वह पुनः हाथ से समिधा लेकर प्रजापति के समीप पहुँचा। प्रजापति ने कहा—'हे इन्द्र! तुम तो सन्तुष्ट होकर चले गये थे, अब किस इच्छा से पुनः आये हो?' तब इन्द्र ने कहा—'हे भगवन्! इस सुषुप्ति अवस्था में तो इस आत्मा को यह भी ज्ञान नहीं रहता कि मैं यह हूँ।' यह अपने को ही नहीं जान पाता और न अन्य पदार्थों को जान सकता है और नष्ट जैसा हो जाता है। इसमें मुझे कोई फल नहीं जान पड़ता' ॥२। प्रजापति ने कहा—'हे इन्द्र! ऐसा ही है। अब मैं पुनः इसे समझाऊँगा कि आत्मा भिन्न नहीं है। तुम पाँच वर्ष तक यहाँ निवास करो।' जब उसे पाँच वष हो गये तो एक सौ एक वर्ष पूर्ण हुए। इसी से यह कहा जाता है कि इन्द्र ने प्रजापति के पास एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। तब प्रजापति ने उसको बतलाया ॥३॥

॥ ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खंड

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीर-स्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरःप्रिया प्रियाभ्यां न ह वै सशरी-सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥१

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन-रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥२

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥३

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्मा-भिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामा-न्पश्यन्रमते ॥५

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानम-नुविद्य विजानामीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६

'हे इन्द्र ! यह शरीर मरण धर्म वाला और सदैव मृत्यु से

घिरा हुआ है। अविनाशी और अशरीरी आत्मा इसमें निवास करता है। शरीरयुक्त रहने पर यह सुख-दुख से घिरा रहता है, सशरीर रहते हुए इसमें प्रिय-अप्रिय का अन्त नहीं हो सकता। पर जब यह अशरीरी होजाता है (देहाभिमान को त्याग देता है) तो प्रिय-अप्रिय इसे स्पर्श नहीं कर सकते ॥ १ ॥ जिस प्रकार वायु शरीर रहित है, बादल, बिजली और मेघ की गर्जना भी सब अशरीरी हैं, ये जिस प्रकार आकाश में उठकर सूर्य को प्रकृष्ट ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार यह जीव शरीर से उठकर परम ज्योति ब्रह्म को पाकर अपने स्वरूप को पा जाता है। यह उत्तम पुरुष होता है। यह जीव उस अवस्था में सर्वत्र गमन करता हुआ हँसता, स्त्रियों, सवारियों, जातिबन्धुओं के साथ क्रीड़ा करता हुआ रमण करता है, इस शरीर को स्मरण भी नहीं करता। इसकी उपमा उस घोड़े से दी जाती है जो किसी रथ में उसे खींचने को जोड़ दिया गया हो। वैसे ही प्राण इस शरीर में जोड़ा हुआ होता है ॥ २-३ ॥ अब जहाँ आकाश रूप में अनुप्रवेश पाया चक्षु है वह चाक्षुष पुरुष है। उसके ज्ञान के साधन नेत्र हैं। जो यह समझता है कि 'मैं सूँघू' उसको गंध-ज्ञान का साधन नासिका है। अब जो यह विचारता है कि मैं यह उच्चारण करूं" उसके वाक्योच्चारण के लिये वाणी है। जो चाहता है कि 'मैं श्रवण करूं' उसके सुनने के साधन स्वरूप कर्णेन्द्रिय है ॥ ४ ॥ अब जो यह विचारता है कि 'मैं मनन करूं" यही आत्मा है, उसके लिए मन रूप दैवी नेत्र हैं। वह आत्मा इस मनोरूपी दैवी नेत्र द्वारा इन भोगों को देखता हुआ रमण करता है ॥ ५ ॥ जो ब्रह्म लोक के भोगों को देखता हुआ रमण करता है उस आत्मा की देवगण उपासना करते हैं। इस लिये उसे सब लोक और सब भोग प्राप्त हो जाते हैं। जो पुरुष उस आत्मा को जान कर अनुभव करता है वह सब लोकों और भोगों को पाता है ऐसा प्रजापति ने कहा ॥६॥

॥ बारहवां खण्ड समाप्त ॥

त्रयोदश खंड

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्यऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव रोहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभि-सम्भवामिति ॥१

मैं श्याम अर्थात् हृदयस्थित ब्रह्म से शवल अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त होऊँ और ब्रह्मलोक से श्याम (ब्रह्मभाव) को पाऊँ। जिस प्रकार घोड़ा अपने रोमों को झाड़ कर निर्मल हो जाता है उसी प्रकार पापों को दूर करके मैं राहु के मुख से छूटे हुए चन्द्रमा के समान, शरीर को त्याग कर ध्यान द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूं ॥१॥

॥ तेरहवाँ खण्ड समाप्त ॥

चतुर्दश खंड

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतँ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्क-मदत्कँ श्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम् ॥१

आकाश रूपी आत्मा ही नाम और रूप को स्पष्ट करने वाला है। ये नाम और रूप जिसके अन्तर्गत हैं वही ब्रह्म है, अविनाशी है और वही आत्मा है। मैं प्रजापति की सभा में घर की ओर जाता हूं, मैं ब्राह्मणों का आत्मा होऊँ, क्षत्रियों का आत्मा होऊँ, वैश्यों का आत्मा होऊँ। में आत्मा को प्राप्त होना चाहता हूँ। मैं आत्माओं का आत्मा हूँ। मैं

बिना दाँतों के भक्षण करने वाली, रोहित वर्ण की चिकनी स्त्री-योनि को प्राप्त न होऊँ, अर्थात् पुनः गर्भवास न करूँ ॥१॥

॥ चौदहवाँ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चदश खंड

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिँसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥१

इस आत्मज्ञान को ब्रह्मा ने प्रजापति से कहा, प्रजापति ने मनु को बताया, मनु ने प्रजाओं को सुनाया। जो नियमानुसार आचार्य के घर से गुरु-कार्य का निर्वाह करके वेद का अध्ययन समाप्त करके कुटुम्ब में प्रविष्ट होता है और पवित्र देश में स्वाध्याय, अध्ययन करता हुआ, पुत्र और शिष्यादिक को धर्म शिक्षा देता हुआ, समस्त इन्द्रियों को ब्रह्म की ओर लगाता हुआ, शास्त्रानुकूल अन्य प्राणियों को भी पीड़ा न पहुँचाता हुआ जीवन के अन्त समय तक व्यवहार करता है, वह देहान्त होने पर ब्रह्मलोक को पाता है, फिर लौटकर नहीं आता ॥१॥

॥ पन्द्रहवाँ खंड समाप्त ॥

॥ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥

॥ छान्दोग्योपनिषत् समाप्त ॥

ॐ 30/06/95

श्वेताश्वतरोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्वषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों का रक्षण करे । वह हम दोनों का पालन करे । हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों । हमारा अध्ययन तेजस्वी हो । हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

प्रथम अध्याय

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।।१

कालः स्वभावो नियत्तिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ।।२

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ।।३

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥५

ब्रह्मानन्दी परस्पर चर्चा करते हुए कहते हैं कि हे ब्रह्मज्ञानियो ! इस विश्व का आदि कारण ब्रह्म कौन है ? वे किसके द्वारा उत्पन्न हुए, किस प्रकार जीवित हैं और किसमें भले प्रकार प्रतिष्ठित हैं और हम किसके आश्रित रहते हुए किसकी व्यवस्था के अनुसार सुख-दुःखों को भोगते हैं ॥ १ ॥ काल, स्वभाव, नियति, आकस्मिक घटना, पञ्चमहाभूत अथवा जीवात्मा इस विश्व के कारण हैं, इस पर विचार करो । यह काल आदि इस संसार के कारण नहीं हैं, क्योंकि वह सुख-दुःखों के कारण रूप कर्मों के अधीन हैं ॥ २ ॥ (जब किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे तब) वे ध्यान-योग में स्थित होगये । तब उन्हें स्वगुण आच्छादित ब्रह्म दिखाई दिया, जो काल तथा आत्मा आदि सभी कारणों का एकमात्र स्वामी है ॥ ३ । उन्होंने एक ऐसे चक्र को देखा जो एक नेमि, तीन घेरों, सोलह सिरों, पचास अरों, बीस पत्थरों, छः अष्टकों से युक्त विचित्र रूप वाले पाश और एक नाभि से युक्त त्रिमार्ग भेद वाला था ॥ ४ ॥ हम पचास भेदों वाली एक ऐसी नदी को देख रहे हैं जो पाँच भँवरों वाली, पाँच घोर प्रवाह वाली, पाँच पर्वों वाली, पाँच स्रोतों से प्राप्त जल वाली, पाँच स्थानों से उत्पन्न, पाँच प्राण-ऊर्मियों वाली, टेढ़ तिरछे प्रवाह वाली तथा पञ्चज्ञान रूप मन के मूल वाली है । ५॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥८

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥९

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०

सबका निर्वाह हेतु, सब का आश्रयस्थान, इस विस्तृत ब्रह्मचक्र में आत्मा भ्रमण करता है। वह स्वयं को और परमेश्वर को पृथक मानता हुआ उस परमेश्वर द्वारा अपनाये जाने पर अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ जिसकी महिमा गाई जाती है वह परमेश्वर ही आश्रयरूप, अविनाशी है, उसी में तीनों लोक विद्यमान हैं । ब्रह्मज्ञानी जन

अन्तर में निवास करने वाले ब्रह्म को जान कर उसी में लीन होते और जीवन-मरण से मुक्त हो जाते है ।। ७ ।। नाशवान् पदार्थों और अविनाशी आत्मा के मिलन से निर्मित व्यक्त और अव्यक्त और संसार का भरण-पोषण करने वाला परमात्मा ही है । आत्मा उस संसार के विषयों को भोगने वाला होने के कारण इसी में बँधा रहता है । परन्तु परमात्मा को जान लेता है तो सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है ।। ८ ।। ज्ञानी, अज्ञानी, समर्थ, असमर्थ दोनों प्रकार की आत्मा जन्म-रहित है । भोगने वाले आत्मा को भोग्य प्रदान करने वाली प्रकृति उससे भिन्न है । क्योंकि परमात्मा अनन्त, विश्वरूप और अकर्त्ता है । जब प्राणी परमात्मा, आत्मा और प्रकृति को ब्रह्म रूप में पा लेता है, तब वह जीवन-मुक्त हो जाता है ।। ९ ।। प्रकृति नाशवान् है, इसका भोक्ता आत्मा अविनाशी है, इन दोनों को परमेश्वर अपने आधीन रखता है । उस परमेश्वर में मनको लगाये रखने से प्राणी अन्त में उसी में मिल जाता है, फिर उसे मायावृत्ति नहीं होती ।।१०।।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशपहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ।।११

एतज् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।।१२

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति-
र्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य-
स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३

स्वदेहमरणि कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मंथनाभ्यासाद् देवं दश्येन्निगूढवत् ॥१४

तिलेषु तैल दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१५

सर्वव्यापिनमात्यानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ।
तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥१६

निरन्तर ध्यानपूर्वक उस परमदेव को जानने पर सर्व बन्धन कट जाते हैं। क्लेशों के नष्ट होने पर जन्म-मरण नहीं होता। देहत्याग के पश्चात् तृतीय नाकलोक तक के ऐश्वर्यों के त्याग द्वारा पूर्णकाम हो जाता है ॥ ११ ॥ अपने अन्तर में निवास करने वाले ब्रह्म का ही ज्ञान करना चाहिये, इससे ज्ञातव्य अन्य कुछ नहीं है। भोक्ता, भोग्य और परमेश्वर इन तीनों का ज्ञान होने पर सर्वज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार त्रिभेद वाला यह ब्रह्म ही है ॥ १२ ॥ जैसे काष्ठ में अन्तर्हित अग्नि का स्वरूप दिखाई नहीं देता, क्योंकि अरणि मन्थन होने पर ही वह अपने ईंधन रूप योनि से प्राप्त किया जा सकता है, वैसे ही वे आत्मा परमात्मा दोनों ही देह में प्रणव के द्वारा ग्रहण हो सकते हैं ॥ १३ ॥ अपने देह को निम्न अरणि और प्रणव को उत्तर अरणि बनाकर ध्यान द्वारा निरन्तर अभ्यास करने पर अरणि में छिपे अग्नि के समान ही परमेश्वर को देखना चाहिये ॥ १४ ॥ जैसे तिलों में तेल, दधि से घृत, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि

अदृश्य रहता है, वैसे ही हृदय में परमेश्वर अदृश्य रूप से रहता है। जो इसे सत्य और संयम के तप से देखता है वह इसके द्वारा ग्रहण होता है ॥१५॥ दूध में व्याप्त घृत के समान आत्मज्ञान और तप से सुलभ सर्वव्यापी परमेश्वर को जानता है, वही यह जानता है कि वही परमब्रह्म है ॥ १६॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीय अध्याय

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥१

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२

युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितु परिष्टुतिः ॥४

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभि-
र्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५

प्रथम हमारे मन-बुद्धि को तत्व प्राप्ति के लिये अपने स्वरूपों में लगाकर सविता देव अग्नि के तेज को पृथिवी के पदार्थों से उठा कर हममें स्थापित करें ॥ १ ॥ हम सविता देव की उपासना में नियुक्त

मन के द्वारा स्वर्गानन्द की प्राप्ति के निमित्त शक्तिभर प्रयत्न करें ॥२॥ हमारे मन-बुद्धि से स्वर्ग और आकाश में विचरण करने वाले तेजस्वी देवताओं को युक्त कर सविता देव प्रेरणा करते हैं ॥ ३ ॥ जिस सविता देव में विप्रगण अपने मन-बुद्धि को लगाते और यज्ञादि शुभ कर्म करते हैं वह विश्व-ज्ञाता एक हैं। उन महान् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ देव की हमें अत्यन्त स्तुति करनी चाहिये ॥ ४ ॥ हे मन और बुद्धि ! तुम्हारे सर्वेश्वर तथा सभी के आदि कारण ब्रह्म से मैं नमस्कार पूर्वक युक्त होता हूं। मेरा श्लोक विद्वान के यश के समान विस्तृत हो। दिव्य लोकों में निवास करने वाले अविनाशी परमात्मा के सभी पुत्र इस बात को सुनें ॥५॥

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः ॥६

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥७

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।

मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०

जहाँ अग्नि का मन्थन होता है, जहाँ प्राण का विधिवत् निरोध किया जाता है, जहाँ सोमरस का प्राकटय होता है, उस स्थान पर मन नितान्त पवित्र हो जाता है ॥ ६ ॥ सवितादेव की प्रेरणा से, सब के आदि ब्रह्म की उपासना करे। तू उसका आश्रय प्राप्त कर ले तो तेरे पूर्व कर्म इसमें विघ्न उपस्थित नहीं करेंगे ॥ ७ ॥ विद्वान् साधक को चाहिये कि वह अपने सिर, कंठ और वक्ष को ऊँचा उठावे और शरीर को सीधा रखे। फिर मन के द्वारा इन्द्रियों का हृदय में निरोध कर प्रणव रूप नौका से सब भयावने स्रोतों से पार हो जाय ॥ ८ ॥ विद्वान् साधक का कर्त्तव्य है कि योग-साधन में रत होकर विधिवत् चेष्टायें करते हुए प्राणायाम विधि से प्राण के सूक्ष्म होने पर नासिका द्वारा उसे बाहर छोड़े। जैसे चतुर सारथी दुष्ट अश्वों वाले रथ को भी निर्दिष्ट मार्ग से ले जाता है, वैसे ही सावधानीपूर्वक मन को वशीभूत रखे ॥६॥ कंकण, वालू या अग्नि से रहित, शब्द, जल, आश्रय के अनुकूल, नेत्रों को सुखप्रद, सब प्रकार स्वच्छ और समतल वायु-रहित गुफा आदि उत्तम स्थान पर स्थित होकर मन को ध्यानावस्थित करे ॥१०॥

नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोग न जरा न मृत्यु:
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥१३

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम् ।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५

एष ह देवः प्रदिषोऽनु सर्वा
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७

ब्रह्म प्राप्ति वाले योग में योगी के समक्ष कुहरा, धुँआ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत, स्फटिकमणि और चन्द्रमा के समान अनेक दृश्य दिखाई पड़ते हैं, यह सब योग-साफल्य के लक्षण रूप होते हैं ॥ ११ ॥ पञ्च महाभूतों का भले प्रकार उत्थान होने पर और पंच योग सम्बन्धी गुणों के सिद्ध हो जाने पर योग से तेजस्वी हुए देह को पा लेने वाला साधक रोग, जरा, मृत्यु से मुक्त हो जाता है ॥ १२ ॥ देह का हल्का होना, आरोग्य, भोगों से निवृत्ति, वर्ण की उज्ज्वलता, स्वर सौष्ठव, श्रेष्ठ

गंध, मल मूत्र की कमी यह सब योग की प्रथम सिद्धि बताई गई हैं ।।१३।। जैसे कोई चमकता हुआ रत्न मिट्टी लिपटाने से मैला हो जाता है और स्वच्छ किये जाने पर फिर दमकने लगता है, वैसे ही योगी आत्मतत्त्व को जानकर एकावस्था को प्राप्त होकर सब क्लेशों से मुक्त हो जाता है ।।१४।। फिर वह योगी आत्मतत्त्व के द्वारा ही दीपक के समान प्रकाशमय ब्रह्मतत्त्व के दर्शन करता है । तब वह अज, निश्चल, सर्वतत्त्व युक्त, पवित्र परमेश्वर को जानकर सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।।१५।।

यह परमेश्वर सभी दिशाओं और अनुदिशाओं में व्याप्त है । वही परमेश्वर प्रथम उत्पन्न हुआ था । वही सब ब्रह्माण्डरूप गर्भ में निवास करता है । वही विश्व के रूप में प्रत्यक्ष है और भविष्य में भी वही प्रकट होगा । वही सर्वतोमुख एवं सब देहधारियों में निवास करने वाला है ।।१६।। जो परमेश्वर अग्नि, जल, औषधि, वनस्पति तथा समस्त लोकों में व्याप्त है, उसके लिये बारम्बार नमस्कार है ।।१७।।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

30/06/15

तृतीय अध्याय

य एको जालवानीशत ईशनीभिः
सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।१

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ।।२

विश्वश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।३
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ।।४
या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ।।५

विश्वरूप जाल का स्वामी अपनी प्रभु-सत्ता द्वारा संसार पर प्रभुत्व रखता है । वह सब लोकों का नियामक अकेला ही सृष्टि रचना करने और उसे विस्तृत करने में समर्थ है । उसे जो ज्ञानी जन जान लेते हैं वे अमृतत्व को प्राप्त होते हैं ।। १ ।। जो अपनी शक्तियों से सब लोकों पर प्रभुत्व रखता है वह रुद्र-एक ही है, इसीलिए अन्य का आश्रय ज्ञानियों ने नहीं लिया । वह सभी देहधारियों में स्थित होकर लोक रचना करता हुआ सब की रक्षा करता है और सृष्टि के लय काल में सबको अपने भीतर समेट लेता है ।। २ ।। सर्वत्र जिसकी दृष्टि है, सर्वत्र मुख है, सर्वत्र हाथ और पाँव हैं, आकाश-पृथिवी का रचयिता है, वह एक ही परमेश्वर मनुष्यों को भुजाओं से और पक्षियों को पङ्खों से युक्त करता है ।। ३ ।। जो रुद्र देवताओं की उत्पत्ति, वृद्धि का कारणरूप तथा संसार का स्वामी है, उसने पहले हिरण्यगर्भ को प्रकट किया था, वह हमें श्रेष्ठ बुद्धि वाला बनावे ।। ४ ।। हे रुद्र ! जो तुम्हारी कल्याणकारी, भयंकरता रहित और पाप-रहित तेजस्विनी मूर्ति है, उस परम शान्तिमयी मूर्ति से हमारी ओर देखो ।।५

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।

शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥६
ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं
यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितार-
मीशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥७
वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८
यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥९
ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१०

हे पर्वत में शयन करने वाले रुद्र ! तुम जिस बाण को संधान के निमित ग्रहण किये हुए हो, वह बाण कहीं विश्व को नष्ट न कर डाले, इसलिये उसे कल्याणकारी बनाओ ॥ ६ ॥ संसार से परे, ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ, विश्व को अपनी माया से ढकने वाले, सब देहधारियों में उनके अनुरूप होकर निवास करने वाले, उन महान् एक ही देव परमेश्वर को जानने वाले अमृतत्व को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ अविद्या से परे, सूर्य के समान तेजस्वी महान् पुरुष का मैं ज्ञाता हूं । जो उसे जानता है वह मृत्यु से पार हो जाता है । इससे भिन्न कोई मार्ग भव-बन्धन से मुक्त होने का नहीं है ॥ ८ ॥ जिससे अधिक कोई नहीं है, जिससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, जो न सूक्ष्म है न महान् है, जो एकाकी ही आकाश में

वृक्ष के समान स्तब्ध खड़ा है, उस परमेश्वर से यह विश्व परिपूर्ण है ॥९॥ जो पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ से अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह आकार रहित ब्रह्म दोषों से रहित है। जो उसे जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो उसे नहीं जानते, वे क्लेशों में पड़ते हैं ॥१०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सभूर्वतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥११
महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥१२
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५

परमात्मा का मुख, शिर और कंठ सब ओर हैं और वह सर्वव्यापी सब प्राणियों के हृदय में स्थित रहता है, इसलिए वह सर्वगत एवं कल्याणकारी है ॥ ११ ॥ यह महान् एवं सर्व समर्थ परमेश्वर ज्योतिस्वरूप, अविनाशी है तथा मनुष्य के अंतःकरण को अपनी प्राप्ति रूप लाभ की ओर आकर्षित करता है ॥ १२ ॥ अंगुष्ठ परिमाण वाला परमेश्वर मनुष्यों के हृदयों में अन्तर्यामी रूप में निवास करता है। वही पवित्र हृदय और निर्मल मन वाला है। ध्यान के द्वारा उसे देखा जा सकता है। जो उस परमेश्वर को जान लेते हैं, वे अमरत्व प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥ वह परमेश्वर सहस्र शिर वाला, सहस्र नेत्र वाला

और सहस्र पाँवों वाला है । वह संसार को सब ओर से घेर कर हृदय में निवास करता है ॥१४॥ भूत, भविष्यत् और अन्न द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ वर्तमान जगत् परमेश्वर ही है और वही अमृतत्व का भी अधीश्वर है ॥१५॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७
नवद्वारे पुरे देहि हंसो लेलयाते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८
अपणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९
अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०
वेदाहमेतमजरं पुराणं
सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य
ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१

वह परमेश्वर सब स्थानों पर हाथ-पैर, आँख, सिर, मुख और कानों वाला है । वही संसार में सबको सब ओर से आवृत्त करता हुआ स्थित है ॥ १६ ॥ जो सब इन्द्रियों से परे रहकर भी उनके विषय

का ज्ञाता है, वही सबका आश्रमरूप एवं स्वामी है ।। १७ ।। सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम विश्व का नियामक परमेश्वर नौ द्वार वाले देह रूप पुर में स्थित हृदय में निवास करता है और वाह्य संसार में भी वही क्रीड़ा कर रहा है ।।१८।। बिना हाथ-पाँवों का होते हुए भी वह परमेश्वर सबका ग्रहण करने वाला, सर्वत्र गमनशील है अथा अचक्षु होते हुए भी सब कुछ देखता है । वह कानों के बिना सुनता और सब ज्ञातव्य विषयों का ज्ञाता है । उसका ज्ञाता कोई नहीं है । ज्ञानी जन उसे आदि एवं महान् बतलाते हैं ।। १९ ।। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म महान् से भी महान् परमेश्वर देहधारी के हृदय में स्थित है । जो उसकी कृपा से संकल्प रहित परमेश्वर को उसकी महिमा सहित देख लेता है, वह सब दुःखों से छूट जाता है ।। २० ।। ब्रह्मज्ञानी जन जिसे अजन्मा और नित्य कहते हैं उस सर्वत्र व्यापक, सर्वात्मा, अजर और पुराण पुरुष का मैं भले प्रकार ज्ञाता हूँ ।।२१।।

।। तृतीय अध्याय समाप्त ।।

चतुर्थ अध्याय

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।१
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुतदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ।।२
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः ।।३
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिन्दगर्भ ऋतवः समुद्राः ।

अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥४

अजमेका लोहितशुक्लकृष्णां
वह्वीः प्रजा सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥५

जो वर्ण-रहित, रहस्यमय, विविध शक्तियों से सम्पन्न परमेश्वर विविध रूप धारण कर लेता है तथा जिसमें, प्रलयकाल उपस्थित होने पर सम्पूर्ण विश्व विलीन हो जाता है, वह परमेश्वर अद्वितीय है। वह हमें श्रेष्ठ बुद्धि वाला करे॥ १ ॥ वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही नक्षत्र है, वही जल और प्रजापति है तथा ब्रह्म भी वही है ॥ २ ॥ तू स्त्री है, पुरुष भी तू है, तू ही कुमार और कुमारी है, तू वृद्ध होकर लाठी के सहारे से चलता है और तू ही उत्पन्न होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है ॥ ३ ॥ तू ही नील पतङ्ग है, हरे रङ्ग का और लोहित वर्ण के नेत्र वाला है, तू मेघ, ऋतु और सप्त समुद्र है, तुझसे ही सब लोक प्रकट हुये हैं। तू अनादि प्रकृतियों का स्वामी है और सब में व्याप्त हो रहा है ॥ ४ ॥ अपने समान रूप वाली, असंख्य प्राणियों को रचने वाली, लाल, श्वेत, काली, एवं अजन्मा प्रकृति को ही एक अजन्मा अज्ञानी प्राणी मोहयुक्त होकर भोगता है परन्तु दूसरा ज्ञानी पुरुष इस भोगी हुई प्रकृति का त्याग कर देता है ॥५॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥७

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति
य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥८

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥९

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०

सदैव साथ रहने वाले मित्र भाव से युक्त दो पक्षी रूप आत्मा और परमात्मा, एक वृक्ष पर ही निवास करते हैं, उनमें से एक आत्मा तो वृक्ष के फलों का स्वाद लेता है और दूसरा परमात्मा उन फलों का त्याग कर देता है ॥६॥ जीवात्मा आसक्ति में निमग्न है, सामर्थ्य न होने से मोह में डूबा हुआ शोक करता है, परन्तु जब वह सेवा किये जाने वाले परमात्मा को और उसकी महिमा को देखता है तब अपने शोक को त्याग देता है ॥ ७ ॥ जिसमें सब देवता भले प्रकार स्थित हैं, उसी अविनाशी परम व्योम में सब वेदों का निवास है। जो उसे नहीं जानता, वह वेदों से क्या निष्कर्ष निकालेगा ? परन्तु जो जानता है, वह उसी में भले प्रकार मिल जाता है। ८ । छन्द, यज्ञ, ज्योतिष्टोम, व्रत और भूत, भविष्यत् वर्तमान जो कुछ भी वेदों द्वारा वर्णित है, उसे इस विश्व का स्वामी इससे पूर्व ही रच डालता है और उससे भिन्न

जीवात्मा माया के भ्रम से प्रपञ्च में बँधा रहता है ॥ ९ ॥ प्रकृति को माया समझे और महेश्वर को माया का स्वामी समझे। उसी के अङ्गों से यह अखिल विश्व व्याप्त हो रहा है ॥१०॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१२

यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोकाः अधिश्रिताः। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१३

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥१५

जो एक ही योनियों का अधिष्ठाता है और जिसमें प्रलयकाल होने पर यह विश्व लीन हो जाता है तथा सृष्टि समय में विभिन्न रूप में प्रकट हो जाता है उस परमेश्वर को तत्व के द्वारा जान कर मनुष्य परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥ जो रुद्र देवताओं को प्रकट

कर उनके उद्भव का कारण है और अत्यन्त ज्ञानी, सब का रचयिता, हिरण्यगर्भ रूप सब का अधीश्वर है, वह परमात्मा हमको श्रेष्ठ बुद्धि वाला बनावे ॥ १२ ॥ जो सब देवताओं का स्वामी और सब लोकों का आश्रयरूप है तथा जो द्विपद और चतुष्पद देहधारियों पर प्रभुत्व रखता है, उस परमेश्वर को हवि देकर उपासना करें ॥ १३ ॥ जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म, हृदय में स्थित, संसार का रचयिता, विश्व को सब ओर से परिवेष्ठित रखने वाला जो एक परमात्मा है, उसे जानकर चिर शान्ति को पाता है ॥ १४ ॥ वह सम्पूर्ण लोकों का रक्षक, संसार का स्वामी, सब प्राणियों में रमा हुआ, जिसके ध्यान में ब्रह्मर्षि और देवतागण तल्लीन हैं, उस परमेश्वर को इस प्रकार जानने वाला मनुष्य जीवन-मरण के पाश से मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१६

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥१८

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥१९

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०
अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सद-मित्त्वा हवामहे ॥२२

नवनीत में निहित सार भाग के समान सबके लिए अत्यन्त कल्याण रूप एवं विश्व को परिवेष्टित किये हुए जो परमेश्वर है प्राणी उसे जानकर सब बन्धनों से मुक्त होता है ॥ १६ ॥ यह महान् आत्मा परमेश्वर संसार का रचयिता है और सब प्राणियों में निवास करता है । उसे हृदय, बुद्धि और मन के द्वारा ध्यान में लाने पर उपसे साक्षात् होता है । जो ऐसा जानते हैं वे अमृतत्व को प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ जब अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है, तब दिन, रात्रि, सत्, असत् का बोध नहीं रहता । उस समय केवल अविनाशी शिव ही दिखाई देते हैं । तब वे सवितादेव भी वरणीय होते हैं, जिनसे प्राचीन ज्ञान का प्रसार हुआ है ॥१८॥ जिस परमात्मा का नाम अत्यन्त महिमायुक्त है, उनकी कोई उपमा नहीं है । उसे कोई ऊपर, नीचे, तिरछे अथवा मध्य में से नहीं पकड़ सकता ॥ १९ ॥ इस परमेश्वर के रूप को कोई भी नेत्र देखने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि उसके समक्ष दृष्टि ठहरती ही नहीं । जो ज्ञानी इस हृदय में निवास करने वाले ईश्वर को हृदय और मन के द्वारा ज्ञात कर लेते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥ हे रुद्र ! तुम जन्म रहित हो, ऐसा जानकर जो भय-विह्वल पुरुष तुम्हारी शरणागत होता है, (उसकी और मेरी)

अपने कल्याणकारी दक्षिण मुख से सदा रक्षा करो ।।२१।। हे रुद्र ! हम हविदाता तुम्हारा सदा आह्वान करते रहते हैं । तुम हमारे पुत्रों, पौत्रों, गौओं, अश्वों आदि की आयु में क्रोधपूर्वक कमी मत करो और न हमारे वीर पुरुषों पर कुपित होकर उनको ही नष्ट करो ।।२।।

।। चतुर्थ अध्याय समाप्त ।।

पञ्चम अध्याय

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥१
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे
ज्ञानैर्बिभर्ति जातमानं च पश्येत् ।।२
एकैकं जालं बहुधा विकुर्व-
न्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः
सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३
सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्
प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो
योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ।।४
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः
पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद् यः ।

सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठत्येको
गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः ॥५

नाशवान् जड़ रूप पदार्थ अविद्या तथा अविनाशी आत्मा विद्या रूप है। जो परमात्मा विद्या-अविद्या दोनों का स्वामी है तथा जिसमें यह दोनों ही निहित हैं, वह इन दोनों से नितान्त भिन्न है। वह ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ, गूढ़ और असीम है ॥ १ ॥ जो एकाकी ही सब योनियों और रूपों पर तथा सभी रचनात्मक कार्यों पर अधिष्ठित है और जो प्रथम हुए कपिल ऋषि को ज्ञानवान बनाता है, उस कपिल ऋषि को जिसने जन्म लेते देखा, वह परमेश्वर ही ॥ २ ॥ परमात्मा संसार में स्थित एक-एक जाल को अनेकों में बाँटकर नष्ट कर डालता है, फिर वह सब लोकपालों की सृष्टि करके उनका स्वामी होता है ॥३॥ जैसे भास्कर अपनी रश्मियों सहित दमकता हुआ सब दिशाओं को ऊपर, नीचे और तिरछी और सर्वत्र प्रकाशित करता है, वैसे ही वह परमेश्वर एकाकी ही सब शक्तियों का स्वामी हो जाता है ॥ ४ ॥ जो विश्व का आदि कारण रूप परमेश्वर है वह सब प्राकृतिक तत्त्वों को तप से परिपक्व करता और उन्हें विभिन्न रूपों में बदलता है। वही सब गुणों को प्राणी में अकेला ही युक्त करता है और इस संसार पर अधिष्ठित होता है ॥५॥

तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः। ६
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः।।७

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ।।८
वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।।६
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।।१०

जिस परमेश्वर का अस्तित्व वेदों, रहस्यभूत उपनिषदों में वर्तमान है, उस ब्रह्मयोनि को ब्रह्मा जानता है। जो देवगण और ऋषिगण उस परमेश्वर के ज्ञाता थे, वे उसमें तल्लीन होकर अमर हो गये ।। ६ ।। गुणों से बंधा हुआ प्राणी फल की कामना से कर्म करता और उसी फल का उपभोग करता है। वह विभिन्न योनियों में उत्पन्न होने वाला तीन गुणों वाला त्रिमार्गगामी आत्मा अपने कर्म-फल रूप शरीरों में भ्रमता फिरता है ।।७।। जो अंगुष्टमात्र, सङ्कल्प विकल्प युक्त तथा बुद्धि के गुण से और अपने श्रेष्ठ कर्मों के गुण से रुई के अग्रभाग जैसे आकार वाला हो गया है, ऐसा सूर्य के समान तेजस्वी जीवात्मा भी ज्ञानियों ने देखा है ।। ८ ।। बाल के अग्रभाग के सौवें अंश के भी सौवें अंश के परिमाण वाला भाग ही प्राणी का स्वरूप जानना चाहिये। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिमाण वाला आत्मा के असीम गुण वाला हो जाता है ।। ६ ।। यह जीवात्मा पुरुष, स्त्री वा नपुंसक कुछ भी नहीं है, यह जिस-जिस प्रकार के शरीर को प्राप्त करता है, उसी-उसी से युक्त हो जाता है ।।१०।।

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै-
र्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म

कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥११

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणी देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते देवं सर्वपाशैः ॥१३

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४

सङ्कल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह तथा खान-पान और दृष्टि के द्वारा प्राणियों का जन्म और वृद्धि होती है । कर्म-फल से प्राप्त होने वाले विभिन्न शरीरों को विभिन्न लोकों में, अनुक्रम से यह जीवात्मा प्राप्त करता रहता है ॥ ११ ॥ जीवात्मा अपने कर्मरूप गुणों, शारीरिक गुणों और अहंभाव से उत्पन्न गुणों के प्रभाव से स्थूल अथवा सूक्ष्म विभिन्न रूपों को ग्रहण करता है । परन्तु उनके इस प्रकार रूप ग्रहण करने का कारण अन्य ही देखा गया है (जीवात्मा स्वयं ही किसी रूप को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है) ॥१२॥ संसार में व्याप्त, आदि अन्त से रहित, विश्व के रचयिता विविध रूपधारी, संसार को सब ओर से परिवेष्टित किये हुये परमेश्वर को जानने वाला मनुष्य सब पाशों से छूट जाता है ॥१३॥ जो साधकगण जिन निराश्रय, संसार के उत्पत्ति, संहार के कारणभूत, कलाओं में रचने वाले, भाव से ग्रहण करने योग्य, कल्याणरूप परमेश्वर को जान लेते हैं वे देह से सदा को मुक्त हो जाते हैं ॥१४॥ ॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥

छठा अध्याय

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥१

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥२

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूय-
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा
कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥३

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥४

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परास्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥५

अनेकों मेधावी-पुरुष प्रकृति को संसार का कारणभूत कहते हैं। उनसे अन्य पुरुष काल को संसार का उत्पत्तिकर्त्ता मानते हैं। परन्तु यह सभी मोह में भ्रमे हुए हैं। यथार्थ में तो यह परमात्मा की ही लोक-व्यापिनी माया है, जिसके द्वारा यह ब्रह्मचक्र घूमता रहता है ॥१॥ यह सम्पूर्ण विश्व जिस परमेश्वर से व्याप्त है, वह परमेश्वर काल का भी काल, सबका ज्ञाता और सर्व गुण वाला है। यह विश्व

रूप कर्म उसी की व्यवस्था से संचालित है तथा पृथिवी जल, तेज, वायु और आकाश भी उसी के द्वारा नियन्त्रित हैं ।। २ ।। उसी परमेश्वर ने अपने कर्म द्वारा जड़-चेतन का संयोग कराया अथवा एक, दो और तीन गुणों से और आठ प्रकृतियों से, काल से तथा आत्म-गुणों से इस प्राणी को संयुक्त किया ।।३।। गुणों से व्याप्त कर्मों के आरम्भ द्वारा जो साधक अपनी भावनाओं को परमेश्वर में समर्पित कर देते हैं, उन कर्मों का अभाव होने पर पहिले किये हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, और कर्मों के नष्ट होने पर परमेश्वर की प्राप्ति हो जाती है । क्योंकि जीवात्मा सभी जड़ तत्वों से भिन्न हैं ।।४।। वह आदि रूप परमेश्वर तीनों-कालों से परे, कालातीत तथा प्रकृति और जीव का संयोग कराने वाला है । वह हमारे अन्तःकरण में निवास करने वाला, विश्वरूप, अनादि एवं संसार के रूप में प्रकट है । उस स्तुति-योग्य पुराण पुरुष की साधना करनी चाहिये ।।५।।

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ।।६

तामीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ।।७

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।८

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।

स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।।९

यस्तन्तुनाभ इति तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् । स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ।।१०

जो विश्व-वृक्ष, काल, आकृति से परे रहते हुए भी इस संसार को चलाता है, उस धर्म-वर्द्धक, पाप नाशक, ऐश्वर्यों के स्वामी, विश्व के आश्रयभूत परमेश्वर को अपने हृदय में निवास करते हुए जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है ।। ६ ।। उस ईश्वरों के भी महान् ईश्वर, सब देवताओं के परम देव, स्वामियों के भी स्वामी, लोकों के अधीश्वर एवं स्तुत्य परमेश्वर को सर्वातीत जानते हैं ।। ७ ।। वह देह-रूप कार्यों एवं अन्तःकरण आदि से रहित है । उससे अधिक और उसके बराबर भी कोई दिखाई नहीं देता । उस परमेश्वर की स्वाभाविक पराशक्ति, ज्ञान, बल और क्रिया विभिन्न प्रकार की सुनी गई हैं ।।८।। उस परमेश्वर का स्वामी या शासक कोई नहीं है । वह किसी विशेष चिन्ह वाला भी नहीं है । वह समस्त करणाधिपों का भी अधीश्वर और सबका परम कारणरूप है । उनका पिता अथवा ईश्वर भी कोई नहीं है ।। ९ ।। जैसे मकड़ी अपने से प्रकट हुए तन्तुओं से जाला बनाकर अपने को आच्छादित कर लेती है, वैसे ही उस एक मात्र परमेश्वर ने अपने रूप, गुण, शक्ति से उत्पन्न कार्यों से स्वभावतः स्वयं को ढक रखा है । वह परमेश्वर अपने ब्रह्मधाम में हमें आश्रय दे ।।१०।।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।११

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।१२
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको वहूनां यो विदधाती कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययागाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१३
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।१४
एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।१५

एक परमेश्वर ही सब जीवों में स्थित एवं सर्वव्यापी है, वही सब भूतों के अन्तर में निवास करने वाला ब्रह्म है। वह सब के कर्मों का नियामक, सब प्राणियों का आश्रयभूत, सब का साक्षी, चेतन स्वरूप, पवित्र एवं निगुण है।। ११ ।। जो एकाकी ही असंख्य जीवों को वश में रखता है और एक बीज को ही विभिन्न रूपों में कर देता है उस हृदय में निवास करने वाले ब्रह्म का जो ज्ञानी निरन्तर दर्शन करते हैं, उन्हें शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है ।। १२ ।। जो चैतन्य स्वरूप, नित्य, एकाकी परमेश्वर असंख्य चैतन्य, और नित्य आत्माओं को कर्म फल की व्यवस्था करता है, उस ज्ञान-कर्म द्वारा प्राप्तव्य परमेश्वर का ज्ञाता समस्त पाशों से छूट जाता है।। १३ ।। (उसके परमधाम में, सूर्य, चन्द्र, तारागण और विद्युत, कोई भी प्रकाश नहीं फैला सकता, तो वहां अग्नि अपना प्रकाश कर ही कैसे सकता है ? अपितु सूर्य आदि सभी उसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और यह सम्पूर्ण लोक भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं ।।१४।। इस

लोक के मध्य में एक प्रकाश रूप परमेश्वर ही प्रतिष्ठित है। जल में निहित अग्नि भी वही है। उसका ज्ञाता मृत्यु से तर जाता है। उसकी प्राप्ति के लिए उसे जानने के सिवाये अन्य पन्थ नहीं है॥१५॥

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि-
ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितबन्धहेतुः ॥१६

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८

निष्कलं निष्क्रियँ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परँ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥१९

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥२०

संसार का रचयिता, ज्ञानरूप, सबका ज्ञाता, स्वयंभू, काल का भी काल, गुणयुक्त, प्रकृति और आत्मा का अधीश्वर, गुणों का स्वामी परमेश्वर ही संसार के बन्धनों में डालने, उसमें पड़ा रहने देने तथा छोड़ देने वाला है॥ १६ ॥ वही अविनाशी, अधीश्वरों में भी निहित, परिपूर्ण सर्वज्ञ परमेश्वर इस लोक का रक्षक है। वही इस विश्व का शासक है, उससे भिन्न कोई नहीं है॥१७॥ जो सर्व प्रथम ब्रह्मा को प्रकट करने वाले परमात्मा की मैं मोक्षकाम साधक शरण ग्रहण करता हूँ ॥१८॥ वह पर-

मेश्वर कला-रहित, कर्म-रहित, दोष-रहित, निर्मल, सुशान्त अमृत के सेतु रूप, दग्ध ईंधन वाले अग्नि के समान तेजस्वी है ॥१९॥ जब मनुष्यों में इतना सामर्थ्य हो जायगा कि वे आकाश को चर्म के समान लपेट लेंगे, तब उस परमेश्वर को जाने बिना भी दुःखों का नाश हो सकेगा ॥२०॥

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ।।२१

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ।।२२
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।
प्रकाशन्ते महात्मनः ।।२३

श्वेताश्वतर ऋषि ने तप-बल से और परमेश्वर की कृपा से ब्रह्म को जान पाया और उसने ऋषियों द्वारा प्रवर्तित अत्यन्त पवित्र ब्रह्मज्ञान आश्रमवासियों से कहा ।।२१।। पूर्व कल्प में यह अत्यन्त गूढ़ ज्ञान वेदान्त में कहा गया था। अशान्त मन वाले व्यक्ति को इसे नहीं बताना चाहिए, जो अपना पुत्र अथवा शिष्य न हो उसे भी यह ज्ञान न दे ॥ २२ ॥ परमेश्वर में जिसकी अत्यन्त भक्ति है तथा गुरु में भी उसी प्रकार भक्ति है ऐसे महान् आत्मा पुरुष के अन्तकरण में ही यह कहे हुए रहस्य जागरित होते हैं, उसी महात्मा का हृदय उन रहस्यों के प्रकाशित रहता है ॥२३॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥

॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् समाप्त ॥

(१३) गर्भोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों का रक्षण करे, वह हम दोनों का पालन करे। हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम परस्पर द्वेष न करें। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

ॐ पञ्चात्मकं पंचसु वर्तमानं षडाश्रयं षंगुणयोगयुक्तम् । तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीर भवति। पंचात्मकमिति कस्मात् पृथिव्यापस्तेजो वायूराकशमित्य स्मित्पंचात्मके शरीरे का पृथिवी का आपः किं तेजः को वायुः किमाकाशमित्यस्मिन्पंचात्मके शरीरे तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः यत्संचरति स वायुः यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते । तत्र पृथिवी धारणे आपः पिण्डीकरणे तेजः प्रकाशने वायुर्व्यूहने आकाशमवकाशप्रदाने । पृथक्श्रोत्रे शब्दोपलब्धौ त्वक् स्वर्शे चक्षुषी रूपे जिह्वा रसने नासिका घ्राणे उपस्थ आनन्दने अपान उत्सर्गे बुद्ध्या बुध्यति मनसा सङ्कल्पयति वाचा वदति। षडाश्रयमिति कस्मात्। मधुराम्ललवणतिक्तकटु-कषायरसान्विन्दतीति । षड्जऋषभगान्धारमध्यमपंचमधैवत-निषादाश्चेतीष्टानिष्टशद्वसंज्ञाः प्रणिधानाद्दशविधा भवन्ति। शुक्लो रक्तः कृष्णो धूम्रः पीतः कपिलः पाण्डर इति ।।१

यह शरीर पंचात्मक है। यह पाँचों में वर्तमान और छः आश्रयों से युक्त है। छः गुणों और सात धातुओं से बना है। तीन मलों से दोष युक्त, दो योनियों से सम्पन्न और चतुर्विधि आहार द्वारा पुष्ट होता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश से निर्मित होने के कारण ही इसे

पंचात्मक कहा गया है। इसमें कठिन तत्व पृथिवी है, जो तरल है वह जल तत्व है, उष्णता है वही तेज है, जो इसमें संचार करता है वह वायु है, जो छिद्र है वही आकाश तत्व माना गया है। इन तत्वों के जो कार्य हैं वह कहे जाते है। इनमें पृथिवी तत्व का कार्य धारण करना है, जल तत्व का कार्य एकत्रित करना है, तेज का कार्य प्रकाशित करना है, वायु का कार्य अवयवों का यथास्थान रहने देना अथवा उनका सचालन करना है और आकाश तत्व का कार्य अवकाश प्रदान करना है। इसके अन्तर्गत जो इन्द्रियाँ हैं उनमें कान का कार्य शब्द ग्रहण करना, त्वचा का कार्य स्पर्श करना, नेत्र का कार्य रूप देखना, जिह्वा का कार्य रसास्वादन करना, नाक का कार्य सूँघना, गुदा का कार्य मलोत्सर्ग करना है। इनके अतिरिक्त वागेन्द्रिय बोलने का कार्य करती है, मन के द्वारा सङ्कल्प किया जाता है और बुद्धि के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है।

मधुर, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और लवण, इन छः रसों का आस्वादन करने से यह देह छः आश्रय वाला कहा गया है। षडज्, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद यह सात स्वर बताए गए हैं। इनमें इष्ट, अनिष्ट और प्रणिधानकारक मिला देने से दश प्रकार के शब्द हो जाते हैं। इसमें सात रङ्ग हैं श्वेत, लाल, काला, पीत, कपिल, पाण्डुर और धूम्र ॥ ॥

सप्तधातुकमिति कस्मात् यदा देवदत्तस्य द्रव्यादिविषया जायन्ते। परस्परं सौम्यगुणत्वात् षड्विधो रसो रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसः स्नायवः स्नायुभ्योऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा मज्जातः शुक्रं शुक्रशोणितसंयोगादावर्तते गर्भो हृदि व्यवस्थां नयति हृदयेऽन्तराग्निः अग्निस्थाने पित्तं पित्तस्थाने वायुः वायुतो हृदयं प्राजापत्यात्क्रमात् ॥२

जब किसी देवदत्त नाम वाले मनुष्य को भोग्य विषय उपलब्ध होते हैं, तब उनकी पारस्परिक अनुकूलता से षट् रस पदार्थों की प्राप्ति होती है। इन पदार्थों से ही रस बनता है। रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेद मेद से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है। यह सात धातुऐं ही मनुष्य देह की निर्मात्री हैं। पुरुष-शुक्र ओर स्त्री-रज के योग से गर्भ बनता है। यह सभी धातु हृदयस्थ रहती हैं, वहीं अन्तराग्नि उत्पन्न होती है, अग्नि के स्थान में पित्त रहता है, पित्त के स्थान में वायु और वायु से ही हृदय बनता है ॥२॥

ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कमलं भवति सप्त-रात्रोषितं बुद्बुद भवति अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति। मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति मासद्वयेन शिरः संपद्यते। मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति। अथ चतुर्थे मासे गुल्फजठरकटिप्रदेशा भवन्ति। पंचमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठे मासे मुखनासिका-क्षिश्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवेन सयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति। पितू रेतोऽतिरेकात्पुरुषो मातू रेतोऽतरेकात्स्त्री उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। व्याकुलितमनसोऽन्धाः खजाः कुब्जा वामना भवन्ति। अन्योन्य-वायुपरिपीडितशुक्रद्वैविध्यात्तनु स्यात्ततो युग्माः प्रजायन्ते। पंचात्मकः समर्थः पंचात्मिका चेतसा बुद्धिगंन्धरसादिज्ञानाक्षरा-क्षरमोंकारं चिन्तयतीति तदेतदेकाक्षरं ज्ञात्वाष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरे तस्यैव देहिनः अथः मात्राशितपीतनाडीसूत्रगतेन प्राण आप्यायते। अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसंपूर्णो भवति। पूर्वजाति स्मरति। शुभाशुभ च कर्म विन्दति ॥३

ऋतु समय उचित प्रकार गर्भाधान होने पर शुक्र और शोणित के योग से एक रात्रि में कमल और सात रात्रियों में बुद्बुद बनता है एक पखवारे में पिण्ड बनता है जो एक मास में कठिन होता है। दो मास में

सिर और तीन मास में पांव बनते हैं । चौथे मास घुटने, पेट और कमर बनती है, पांचवे महीने में पृष्ठ रीढ़ और छठवें महीने मुख, नाक, कान, नेत्र आदि बन जाते हैं । सातवें महीने जीवयुक्त होकर आठवें महीने में परिपूर्ण शरीर होता है । शुक्र की अधिकता से पुत्र की उत्पत्ति होती है और रज की अधिकता से पुत्री उत्पन्न होती है । शुक्र-रज के समान मात्रा में होने से नपुंसक संतान का जन्म होता है । मन में व्याकुलता हो तो उस स्थिति का संयोग सन्तान के बौनी, कुबड़ी, अन्धी आदि होने का कारण बनता है । जब वायु के संघर्ष से शुक्र दो भागों में वितरित होता है तब युग्म संतति उत्पन्न होती है । पंचात्मक शरीर जब स्वस्थ और समर्थ होता है तब पंच ज्ञानेन्द्रिय वाली बुद्धि उत्पन्न होती है, उससे गन्ध, रस आदि का ज्ञान प्राप्त होता है । जब वह अविनाशी प्रणव का चिन्तन करता हुआ इस एकाक्षर को जान लेता है, तब आठ प्रकृतियां और षोडश विकार प्राप्त होते हैं । फिर माता द्वारा सेवन किया गया अन्न और जल नाड़ी-सूत्रों द्वारा शिशु के शरीर में पहुँच कर उसकी तृप्ति का कारण बन जाता है । फिर नौवें मास में वह ज्ञानेन्द्रिय आदि से युक्त होकर पूर्ण हो जाता है । उस समय वह पूर्व जन्म की याद करता है, तब उसके शुभ और अशुभ कर्म उसके समक्ष प्रकट हो जाते हैं ॥३॥

पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया । आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥ जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ एकाकी तेनदह्योऽहं गतास्ते फलभोगिनः । यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् । अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् । यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नारायणम् । अशुभयक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् । यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे । अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् । यदि योन्याः प्रमुच्येह ध्याये ब्रह्म सनातनम् । अथ योनिद्वारं संप्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो

महता दुःखेन जातमात्रास्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभ विन्दति ।।४

उस समय गर्भस्थ प्राणी सोचता है 'कि अपने हजारों पहले जन्मों को देखा और उनमें विभिन्न प्रकार के भोजन किये तथा विभिन्न योनियों में स्तन पान किये । मैं अनेक बार जन्मा और मृत्यु को प्राप्त हुआ । उन जन्मों में अपने परिवार के हित में जो-जो शुभ और अशुभ कर्म किये उनको सोच-सोच कर आज मैं अकेला ही जल रहा हूँ । उन भोगों को भोगने वाले तो न मालूम कहाँ गये, परन्तु मैं यहाँ दुःख रूप समुद्र में पड़ा हूँ, उससे निकलने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझता । जब मैं इस गर्भ से बाहर निकल जाऊँगा तब बुरे कर्मों के नष्ट करने वाले और मुक्ति रूप फल देने वाले महेश्वर की शरण ग्रहण करूँगा । जब मैं इस योनि से मुक्त हो जाऊँगा तब नारायण का आश्रय लूँगा अथवा इस गर्भ योनि से छूटने पर मुक्ति रूप फलदाता सांख्य-योग का साधन करूँगा । यदि मैं इस गर्भयोनि से निकल सका तो ब्रह्म का चिंतन करने में समय लगाऊँगा ।' इस प्रकार से विचार करता हुआ प्राणी बड़े कष्ट से जन्म ले पाता है, परन्तु जन्म लेने पर वह माया का स्पर्श होते ही पूर्व जन्म और मृत्युओं को भूल जाता है. उसे अपने गर्भज्ञान का भी ध्यान नहीं रहता और उसके द्वारा किये हुए शुभ-अशुभ कर्म भी लोप हो जाते हैं ।।४।।

शरीरमिति कस्मात् । अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति । तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति । दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति । ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म विन्दति । त्रीणि स्थानानि भवन्ति मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः आत्मा यजमानो मनो ब्रह्मा लोभादयः पशवो धृतिर्दीक्षा संतोषश्च बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि हवींषि कर्मेन्द्रियाणि शिरः कपालं केशा दर्भा

मुखमन्तर्वेदिः चतुष्कपालं शिरः षोडश पार्श्वदन्तपटलानि सप्तोत्तरं मर्मशतं साशीतिकं संधिशतं सनवकं स्नायुशतं सप्त शिराशतानि पंच मज्जाशतानि अस्थीनि च ह वै त्रीणि शतानि षष्ठीः सार्धचतस्रो रोमाणि कोटयो हृदयं पलान्यष्टो द्वादश पला जिह्वा पित्तप्रस्थं कफस्याढकं शुक्रकुडवं मेदः प्रस्थौ द्वावनियतं मूत्रपुरीषमाहारपरिमाणात् । पैप्पलादं मोक्षशास्त्रं पैप्पलादं मोक्षशास्त्रमिति ॥६

इस देह पिंड को शरीर क्यों कहा गया है ? क्योंकि ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और जठराग्नि रूप तीनों अग्नियों का इसमें निवास है। खाए-पिए पदार्थ को पचाने वाला जठराग्नि है, जो रूपों को दिखाता है, दर्शनाग्नि है । शुभाशुभ कर्मों को सामने उपस्थित करने वाला ज्ञानाग्नि है। देह में अग्नि के लिये तीन स्थान नियत हैं । मुख में आहवनीय अग्नि रहता है, उदर में गार्हपत्याग्नि रहता है तथा हृदय में दक्षिणाग्नि का वास है । यह देह यज्ञ रूप है । इसमें आत्मा यजमान रूप है, मन ब्रह्मा और लोभादि पशु हैं, धैर्य-संतोष रूपी दीक्षायें, ज्ञानेन्द्रियाँ यज्ञपात्र और कर्मेन्द्रियाँ हवि हैं । सिर कपाल, केश दर्भ और मुख अन्तर्वेदी है । सिर चतुष्कपाल, दन्तपंक्तियाँ षोडस कपाल माने गए हैं । एक सौ अस्सी सन्धियाँ, एक सौ सात मर्म स्थान, एक सौ नौ स्नायु और सात सौ शिराऐं कही गई हैं । पाँच सौ मज्जाऐं और तीन सौ साठ हड्डियाँ बताई जाती हैं । रोम साढ़े चार करोड़ हैं । आठ पल हृदय, बारह पल जिह्वा, एक प्रस्थ पित्त, कफ एक आढक, शुक्र एक कुडव, मेद दो प्रस्थ है । इन सबके सिवाय आहार के परिमाण के अनुसार मल-मूत्र का परिमाण होता है, परन्तु यह परिमाण अनियमित है, सब में एक समान नहीं होता । इस शास्त्र को मोक्ष शास्त्र कहा गया है तथा पिप्पलाद नामक ऋषि ने इसे प्रकट किया है ॥६॥

॥ गर्भोपनिषद् समाप्त ॥

(१२) मुद्गलोपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठतमा विरावीर्म एवि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृत वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो; मन वाणी में स्थित हो । हे स्वयं प्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ । हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि–दिन व्यतीत करता हूँ । मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

प्रथम खंड

पुरुषसूक्तार्थनिर्णयं व्याख्यास्यामः । पुरुषसंहितायां पुरुषसूक्तार्थः संग्रहेण प्रोच्यते ।

सहस्रशीर्षा इत्यत्र सशब्दो [हस्रो] ऽनन्तवाचकः ।
अनन्तयोजनं प्राह दशांगुलवचस्तथा ॥१
तस्य प्रथमया विष्णोर्देशतो व्याप्तिरीरिता ।
द्वितीयया चास्य विष्णोः कालतो व्याप्तिरुच्यते ॥२
विष्णोर्मोक्षप्रदत्वं च कथितं तु तृतीयया ।
एतावानिति मन्त्रेण वैभवं कथितं हरेः ॥३

अब 'पुरुष सूक्त' द्वारा प्रतिपादित अर्थ-निर्णय का विवेचन किया जाता है। भगवान् वासुदेव ने इन्द्र के प्रति इसे कहा था। पुरुष संहिता में इसकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार की है—

'सहस्रशीर्षा०' में सहस्र शब्द का अर्थ अनन्त है। 'दशांगुलम्' पद भी अनन्त का सूचक है। 'सहस्रशीर्षा०' में भगवान् विष्णु को सर्वकालव्यापी कहा है। द्वितीय मन्त्र भगवान् विष्णु को सर्वकालव्यापी कहता है। तृतीय मन्त्र विष्णु के मोक्ष देने वाला होने का प्रतिपादन करता है। इसमें भगवान् श्रीहरि के वैभव का भी वर्णन है ॥१-३

एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः।
त्रिपादित्यनया प्रोक्तमनिरुद्धस्य वैभवम् ॥४
तस्माद्विराडित्यनया पादनारायणाद्धरेः।
प्रकृतेः पुरुषस्यापि समुत्पत्तिः प्रदर्शिता ॥५
यत्पुरुषेणेत्यनया सृष्टियज्ञः समीरितः।
सप्तास्यासन्परिधयः समिधश्च समीरिताः ॥६
तं यज्ञमिति मन्त्रेण सृष्टियज्ञः समीरितः।
अनेनैव च मन्त्रेण मोक्षश्च समीरितः ॥७
तस्मादिति च मन्त्रेण जगत्सृष्टिः समीरिता।
वेदाहमिति मन्त्राभ्यां वैभवं कथितं हरेः ॥८
यज्ञेनेत्युपसंहारः सृष्टेर्मोक्षस्य चेरितः।
य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति ॥९

इन तीन मन्त्रों द्वारा ही चतुर्व्यूह से सम्बन्धित प्रभु-स्वरूप का वर्णन है। 'त्रिपाद' मन्त्र में चतुर्व्यूह के अनिरुद्ध रूप का वैभव-वर्णन है। 'तस्मादि०' के द्वारा पाद विभूति रूप नारायण से प्रकृति और पुरुष की उत्पत्ति दिखाई गई है। 'यत्पुरुषेण' से सृष्टि रूप यज्ञ को बता कर 'सप्तास्या०' में सृष्टि यज्ञ की समिधा वर्णित हुई है। तं यज्ञमिति' के

द्वारा इसी सृष्टि यज्ञ की पुष्टि और मुक्ति का वर्णन हुआ है। 'तस्मादिति' से सात मन्त्रों तक विश्व की रचना का वर्णन तथा 'यज्ञेन०' के द्वारा सृष्टि और मुक्ति का उपसंहारात्मक वर्णन है। पुरुष सूक्त का इस प्रकार ज्ञाता मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त होता है ॥४-९॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खंड

अथ तथा मुद्गलोपनिषदि पुरुषसूक्तस्य वैभवं विस्तरेण प्रतिपादितं वासुदेव इन्द्राय भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्म-श्रवणाय प्रणतायेन्द्राय परमरहस्यभूत पुरुषसूक्ताभ्यां खण्डद्वया-भ्यामुपादिशत् ॥१

द्वौ खण्डा वुच्येते। योऽयमुक्तः स पुरुषो नामरूपज्ञाना-गोचरं संसारिणामतिदुर्ज्ञेयं विषयं विहाय क्लेशादिभिः संक्लिष्टदेवादिसंजिहीर्षया सहस्रकलावयवकल्याणं दृष्टमात्रेण मोक्षदं वेषमाददे। तेन वेषेण भूम्यादिलोकं व्याप्यानन्तयोजन-मत्यतिष्ठत् ॥२॥ पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चासीत्। स च सर्वस्मान्महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान् ॥३

मुद्गलोपनिषत् के प्रथम खण्ड द्वारा पुरुषसूक्त के जिस वैभव का प्रतिपादन हुआ है, भगवान् वासुदेव ने उसी ज्ञान का उपदेश सूक्ष्म तत्व ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त नम्रतापूर्वक शरणागत इन्द्र को पुरुषसूक्त युक्त दो खण्डों में दिया है ॥१॥

पुरुषसूक्त के दो खण्ड बताये गये हैं। उनमें जिस पुरुष का वर्णन हुआ है वह नाम-रूप-ज्ञान से परे होने के कारण विश्व के प्राणियों के लिए जानने में नहीं आ सकता। इसलिये सांसारिक प्राणियों के

कल्याणार्थ अपने इस जानने में न आ सकने वाले रूप को छोड़ दुःखादि में पड़े हुए देवादि प्राणियों के कल्याण की इच्छा से अनन्त कलाओं वाले रूप को धारण किया। उनका वह रूप दर्शन मात्र से ही मुक्ति का दाता है। उसी रूप से वे लोकों में व्याप्त हुए तथा अनन्त योजनों तक अपना विस्तार किया है। सृष्टि रचना से पूर्व त्रिकालात्मक नारायण ही पुरुष स्वरूप में अवस्थित थे। वे सभी महिमावन्तों में श्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे ही इन सब प्राणियों के लिए मुक्ति प्रदान करते हैं ॥२–३॥

महापुरुष आत्मानं चतुर्धा कृत्वा त्रिपादेन परमे व्योम्नि हासीते। इतरेण चतुर्थे नानिरुद्धनारायणेन विश्वान्यासन् ॥४

स च पदनारायणो जगत्स्रष्टुं प्रकृतिमजनयत्। स समृद्धकायः सन् सृष्टिकर्म न जज्ञिवान्। सोऽनिरुद्धनारायणस्तस्मै सृष्टिमुपादिशत्। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि याजकानि ध्यात्वा कोशभूतं दृढग्रन्थि कलेवरं हविर्ध्यात्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा वसन्तकाल-माज्यं ध्यात्वा ग्रीष्ममिध्मं ध्यात्वा शरदृतुं रसं ध्यात्वैवमग्नौ हुत्वाऽङ्गस्पर्शात् कलेवरो वज्रंहोष्यते। ततः स्वकार्यान् सर्वप्राणिजीवान् पश्वाद्याः प्रादुर्भविष्यन्ति। ततः स्थावर जङ्गमा-त्मकं जगद्भविष्यति ॥५॥ एतेन जीवात्मनार्योगेन मोक्षप्रकारश्च कथित इत्यनुसंधेयम् ॥६। य इमं सृष्टियज्ञं जानाति मोक्षप्रकारं च सर्वमायुरेति ॥७

वे महान् पुरुष अपने चार अंशों में आविर्भूत हुए। उनमें से तीन अंशों सहित उनका निवास परम व्योम में है। चौथा अंश अनिरुद्ध नारा-यण के नाम से है, जिसके द्वारा जगत् रूप सृष्टि हुई ॥४॥

चौथे अंश रूप अनिरुद्ध ने विश्व-रचना के निमित्त प्रकृति को प्रकट किया। प्रकृति रूप ब्रह्मा देह प्राप्त करके भी सृष्टि के कर्म का ज्ञान नहीं पा सके। तब अनिरुद्ध नारायण ने ब्रह्माजी को सृष्टि-कर्म

समझाया। वे बोले—हे ब्रह्मन्! यज्ञकर्त्ता के रूप में अपनी ही इन्द्रियों का चिन्तन करो। कमलकोश से प्रकट हुए अपने सुदृढ़ देह को हवि रूप मानकर मुझे अग्नि मानो, वसन्त-काल को घृत, ग्रीष्म को समिधा और शरद् को रस-रूप मानो। इस प्रकार यज्ञ करने पर तुम्हारा देह अत्यन्त दृढ़ हो जायगा और उसके स्पर्श से वज्र भी मलीन हो जायगा। ऐसा होने पर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होंगे और सम्पूर्ण स्थावर, जङ्गम विश्व दिखाई देने लगेगा। जीव और आत्मा के योग से मोक्ष का भी यही प्रकार है। जो इस प्रकार जानता है, वह मनुष्य पूर्ण आयु प्राप्त करता है ॥५-७॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

तृतीय खंड

एको देवो बहुधा निविष्ट अजायमानो बहुधा विजायते ॥१

तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीद सर्वं युनक्ति। सामेति छन्दोगाः। एतस्मिन्हीदं सर्वं प्रतिष्ठितम्। विषमिति सर्पाः। सर्प इति सर्पविदः। ऊर्गित देयाः। रयिरिति मनुष्याः। मातेत्यसुराः स्वधेति पितरः। देवजन इति देवजनविदः। रूप इति गन्धर्वाः। गन्ध इत्यप्सरसः ॥२

तं यथायथोपासते तथैव भवति। तस्माद्ब्राह्मणः पुरुषरूपं परंब्रह्मंवाहमिति भावयेत्। तद्रूपो भवति। य एवं वेद ॥३

वह एक देव ही अनेक प्रकार की प्रविष्ठि द्वारा अजन्मा रहते हुए भी बहुत रूपों में प्रकट होता है ॥१॥

इस अग्नि के रूप में अध्वर्युओं द्वारा उसी की उपासना की जाती है। यजुर्वेदीय उसे यजुः मानते हुए सभी यज्ञ-कर्मों में योजित करते हैं। साम गायक उसे साम मानते हैं। सम्पूर्ण दृश्य जगत इस नारायण रूप में ही अवस्थित है। सर्प उसे विष मान कर ग्रहण करते हैं और सर्पवेत्ता प्राण रूप से अपनाते हैं। देवता इसे अमृत मानते और

मनुष्य धन समझते हैं। असुर माया मानते हैं, गन्धर्व रूप मानते हैं और अप्सराएँ इसे गन्धर्व मानती हैं। उपासक इसे देवता मानते हैं, पितर स्वधा मानते हैं। इस प्रकार यह अनेक रूप में माने जाते हैं। जो जिस भाव से उसकी उपासना करता है वह उसे उसी रूप में पाता है। इसीलिये ब्रह्मज्ञानी जन अपने में ही पुरुष रूप परब्रह्म की भावना करते हैं। इस प्रकार की भावना उसे उसी रूप का बना देती है तथा इस रहस्य का ज्ञाता भी उसी रूप में हो जाता है ॥२-३॥

॥ तीसरा खण्ड समाप्त ॥

चतुर्थ खंड

तद्ब्रह्म तापत्रयातीतं षट्कोशविनिर्मुक्तं षडूर्मिवर्जितं पञ्चकोशातीतं षड्भावविकारशून्यमेवमादिसर्वविलक्षणं भवति ॥१॥ तापत्रयं त्वाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकं कर्तृकर्मकार्य-ज्ञातृज्ञानज्ञेयभोक्तृभोगभोग्यमिति त्रिविधम् ॥ २ ॥ त्वङ्मांस-शोणितास्थिस्नायुमज्जाः षट्कोशाः ॥३॥ कामक्रोधलोभमोहमद-मात्सर्यमित्यरिषड्वर्गः ॥४॥ अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमया-नन्दमया इति पञ्चकोशाः ॥ ५ ॥ प्रियत्वजननवर्धनपरिणाम-क्षयनाशाः षड्भावा ॥६॥ अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणा-नीतिषडूर्मयः ॥ ७ ॥ कुलगोत्रजातिवर्णाश्रमरूपाणि षड्भ्रमाः ॥८॥ एतद्योगेन परमपुरुषो जीवो भवति नान्यः ॥९॥

ब्रह्म सब प्रकार विलक्षण है। वह त्रय-ताप-रहित, छः कोषों से रहित, छः ऊर्मियों से वर्जित, छः विकारों से शून्य तथा पंच कोषों से परे है। आध्यात्मिक, भौतिक, आधिदैविक यह त्रिताप है। चर्म, मांस, रक्त, अस्थि, नाड़ी और मज्जा यह छः कोश कहे गये हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर यह छः शत्रु हैं। प्राणमय, मनोमय, अन्नमय, आनन्दमय और विज्ञानमय यह पंच कोश हैं। प्रियत्व, प्रकटत्व, वृद्धि,

परिवर्तन विनाश एवं घटना यह भाव विकार हैं। क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु ऊर्मियाँ हैं। जाति, वर्ण, आश्रम, कुल, गोत्र, रूप यह भ्रम हैं। इन सभी के योग से परम पुरुष प्राणी होता है ॥१-९॥

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। अरोगी भवति श्रीमांश्च भवति। पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति। विद्वांश्च भवति। महापातकात् पूतो भवति। सुरापानात् पूतो भवति। अगम्यागमनात् पूतो भवति। दुहितृस्नुषाभिगमनात् पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। वेदोजन्महानात् पूतो भवति। गुरोरशुश्रूषणात् पूतो भवति। अयाज्ययाजनात् पूतो भवति। अभक्ष्य भक्षणात् पूतो भवति। उग्रप्रतिग्रहात् पूतो भवति। परदारगमनात् पूतो भवति। कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादिभिरवाधितो भवति। सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। इहजन्मनि पुरुषो भवति ॥१०

इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करने वाला अग्निपूत, वायु-पूत होता है। तथा आदित्य-पूत होता है। वह रोग-रहित होता हुआ श्री सम्पन्न हो जाता है वह पुत्र-पौत्रादि से समृद्ध होता हुआ ज्ञानी हो जाता है। महापापों से छूट कर काम-क्रोधादि से आवृत नहीं होता। सब पापों से छूट कर इसी जन्म में पुरुषरूप हो जाता है ॥१०॥

तस्मादेतत्पुरुषसूक्तार्थमतिरहस्यं राजगुह्यं देवगुह्यं गुह्यादपि गुह्यतरं नादीक्षितायोपदिशेत्। नानुचानाय। नायज्ञशीलाय नावैष्णवाय। नायोगिने। न बहुभाषिणे। नाप्रियवादिने। नासंवत्सरवेदिने। नातुष्टाय। नानधीतवेदायोपदिशेत। गुरुरप्येवविच्छुची देशे पुण्यनक्षत्रे प्राणानायम्य पुरुषं ध्यायन्नुपसन्नाय शिष्याय दक्षिणकर्णे पुरुषसूक्तार्थमुपदिशेद्विद्वान्।

न बहुशो वदेत् । यातयामो भवति । असकृत्कर्णमुपदिशेत । एतत्कुर्वाणोऽध्येताऽध्यापकश्च इह जन्मनि पुरुषोभवतीत्युपनिषत् ॥११

यह पुरुष सूक्त राज गुह्य, देवगुह्य अथवा गुह्य से भी गुह्य है। इसका अर्थ भी अत्यन्त रहस्यमय है। अदीक्षित को इसका उपदेश न करे। विद्वान् होने पर भी जिसे जिज्ञासा न हो, उसके प्रति भी न कहे। अयाज्ञिक, अवैष्णव, अयोग, अप्रियभाषी एवं बहुभाषी के प्रति भी इसे नहीं कहना चाहिये। वर्ष में एक बार भी वेदों का स्वाध्याय न करने वाले, वेद-ज्ञान से शून्य तथा असन्तोषी पुरुष को भी इसे न बतावे।

विज्ञ गुरु भी पवित्र स्नान में बैठ कर, पुण्य नक्षत्र में प्राणायाम पूर्वक परम पुरुष का ध्यान करे और विनम्र होकर जिज्ञासु भाव से आए हुए शिष्य के दक्षिण नेत्र में पुरुष सूक्त का उपदेश करे। अधिक बोले नहीं, अन्यथा उपदेश दूषित होने से निष्फल हो जाता है। बारम्बार कान में ही कहे। इस प्रकार के उपदेश से शिष्य और गुरु दोनों ही पुरुष रूप हो जाते हैं ॥११

॥ पन्द्रहवाँ खंड समाप्त ॥

॥ मुद्गलोपनिषत् समाप्त ॥

(१३) अक्ष्युपनिषत्

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ। ब्रह्म हम दोनों का रक्षण करे। वह हम दोनों का पालन करे। हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम परस्पर द्वेष न करें। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

प्रथम खंड

अथ ह सांकृतिर्भगवानादित्यलोकं जगाम। तमादित्यं नत्वा चाक्षुष्मतीविद्यया तमस्तुवत्। ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायाक्षितेजसे नमः। ॐ खेचराय नमः। ॐ महासेनाय नमः। ॐ तमसे नमः। ॐ रजसे नमः। ॐ सत्त्वाय नमः। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय। उष्णो भगवान् शुचिरूपः हंसो भगवान् शुचिरूपः प्रतिरूपः।

विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतिरूपं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।

ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायादित्यायाक्षितेजसेऽहोवाहिनी वाहिनी वा स्वाहेति। एवं चाक्षुष्मतीविद्यया स्तुतः सूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीत् चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुलेऽन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वाऽथ विद्यासिद्धिर्भवति। य एवं वेद स महान् भवति॥

एक समय की बात है कि भगवान् सांकृति आदित्य लोक में गये और वहाँ उन्होंने भगवान् सूर्य को प्रणाम कर चाक्षुष्मती विद्या से

उनकी स्तुति की। ॐ चक्षु इन्द्रियों को प्रकाशित करने वाले भगवान् सूर्य को नमस्कार है। आकाशगामी भगवान सूर्य को नमस्कार है। महासेन श्री सूर्य को नमस्कार है। तमोगुण रूप सूर्य को नमस्कार, रजोगुण रूप सूर्य को नमस्कार, सत्वगुण रूप सूर्य को नमस्कार। हे भगवन् ! मुझे असत् से सत्-मार्ग पर ले चलो। अन्धकार से प्रकाश में ले चलो। मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलो। वे सूर्य नारायण पवित्र हैं, वे अप्रतिरूप हैं। उन सम्पूर्ण रूप के धारण करने वाले राशि मालिकाओं से मण्डित, जातवेदा, स्वर्ण के समान प्रकाशमान, ज्योति स्वरूप एवं तापयुक्त सूर्य नारायण का हम स्मरण करते हैं। यह सहस्ररश्मि वाले, सैकड़ों प्रकार से वर्तमान सूर्य सब प्राणियों के सामने उदित हो रहे हैं। हमारे नेत्रों के लिए प्रकाश रूप अदितिपुत्र सूर्य को नमस्कार है। विश्व को वहन करने वाले सूर्य के लिए हम अपना सर्वस्व समर्पित करते हैं। इस चाक्षुष्मती विद्या द्वारा स्तुति होने पर सूर्य नारायण अत्यन्त प्रसन्न होते हुए कहने लगे—"जो ब्राह्मण इस विद्या का पाठ नित्य करता है उसे चक्षु-रोग नहीं होता और न उसके कुल में कोई अन्धा ही होता है। आठ ब्राह्मणों को इसे ग्रहण करा देने पर यह विद्या सिद्ध होती है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष महानता को प्राप्त होता है"।।१॥

द्वितीय खंड

अथ ह सांकृतिरादित्यं पप्रच्छ भगवन् ब्रह्मविद्यां मे ब्रूहीति। तमादित्यो होवाच।

सांकृते शृणु वक्ष्यामि तत्वज्ञानं सुदुर्लभम्।
येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥१
सर्वमेकमज शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम्।
पश्यन्भतार्थचिद्रूपं शान्त आस्व यथासुखम् ॥२
अवेदनं विदुर्योगं चित्तमाकृत्रिमम्।
योगस्थः कुरु कर्माणि नीरसो वाऽथ मा कुरु ॥३

विरागमुपयात्यन्तर्वासनास्वनुवासरम् ।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ।।४
ग्राम्यासुजठचेष्टासु सततं विचिकित्सते ।
नोदाहरति तर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ।।५

सांकृति मुनि ने भगवान् सूर्य से कहा—'भगवन् ! मेरे प्रति ब्रह्म विद्या का उपदेश करिये ।' भगवान् सूर्य कहने लगे—'सांकृति ! मैं तुम्हारे प्रति अत्यन्त दुर्लभ तत्वज्ञान कहता हूँ । उसके जान लेने मात्र से तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे । तुम सब प्राणियों को एक, अज, शान्त, अव्यय अनन्त, ध्रुव एवं चैतन्य रूप देखते हुए शान्ति और सुखपूर्वक रहो । आत्मा और परमात्मा के सिवाय अन्य वस्तु का आभास न हो । योग इसी स्थिति का नाम है । इसलिए योग में स्थित होकर कर्मों को करो । योग में प्रवृत्त होने वाले का अंत:करण दिनों दिन वासनाओं से हटता जाता है । मूर्खों की विरुद्ध चेष्टाओं में उसकी सहमति नहीं होती । किसी की गुप्त बातों को सुनकर दूसरों से नहीं कहता । वह सदा श्रेष्ठ कर्मों को ही करता है ।।१-५।।

अनन्योद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते ।
पापाद्बिभेति सतत न च भोगमपेक्षते ।।६
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्यूचितानि च ।
देशालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषके ।।७
मनसा कर्मणा वाचा सानुज्जनानुपसेवते ।
यतः कुतश्चिदानीय नित्यं शास्त्राण्य वेक्षते ।।८
तदाऽसौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम् ।
एवं विचारवान् यः स्यात् संसारोत्तारणं प्रति ।।६
स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः ।
विचारनाम्नीमित रामागतो योगभूमिकाम् ।।१०

जिन कर्मों के द्वारा प्राणी उद्वेगित न हो ऐसे सौम्य कर्मों को करता है । पाप से सदा भयभीत रहता है और किसी भोग की आकांक्षा

नहीं करता। वह प्रेम और स्नेहयुक्त वाणी बोलता है। मन, वचन, कर्म के द्वारा सज्जनों का सङ्ग करता तथा सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करता हुआ उनके अनुकूल चलता है। भवसागर से पार जाने की जो इच्छा करता है, वह उपरोक्त विचारों में लगा रहता है। वह भूमिकावान् कहा जाता है। जो विचार नामकी द्वितीय भूमिका वाला है उसके लक्षण इस प्रकार हैं ॥६–१०॥

श्रुतिस्मृति सदाचारधारणाध्यानकर्मणः।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्छ्रयति श्रेष्ठपण्डितान् ॥११
पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्चान्यो गृहं गृहपतिर्यथा ।.१२
मदाभिमानमात्सर्यलोभमोहातिशायिताम्।
बहिरप्यास्थितामीषत्त्यहिरिव त्वचम् ॥१३
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवया ।
सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥१४

वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान की श्रेष्ठ व्याख्या करने वाले विद्वानों का आश्रय ग्रहण करता है। वह सुनने योग्य शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने में निपुण होता तथा पद और पदार्थों के विभाग को भले प्रकार जानता है। मद, अभिमान, मोहादि का आधिक्य उसके चित्त में नहीं रहता परन्तु बाहरी रूप से इनकी किंचित् स्थिति रहती है। सर्प के केंचुली त्याग देने के समान वह वाह्य दोषों का भी त्याग कर देता है। ऐसा साधक शास्त्र, गुरु आदि की कृपा से सब बातों का यथावत ज्ञान प्राप्त कर लेता है ॥ ११–१४ ॥

असंसर्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम्।
ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवामलाम् ॥१५

यथावच्छास्त्रवाक्यार्थें मतिमाधाय निश्चलाम् ।
तापसाश्रमविश्रान्तैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥१६
शिलाशय्याऽऽसनासीनो जरयत्यायुराततम् ।
वनावनिविहारेण चित्तोपशमशोभिना ॥१७
असङ्गसुखसौख्येन कालं नयति नीतिमान् ।
अभ्यासात् साधुशास्त्रणां करणात् पुण्यकर्मणाम् ॥१८
जन्तोर्यथादेवेयं वस्तुदृष्टि प्रसीदतिः ।
तृतीयाँ भूमिकां प्राप्य बुद्धोऽनुभवति स्वयम् ॥१६

इसके अन्तर योग की तृतीय भूमिका असंसर्गा में प्रविष्ट होता है । शास्त्र-वचन जिस अर्थ को बताते हैं, उनमें अपनी अविचल बुद्धि को लगाकर, तपनिष्ठ सन्तों के आश्रमों में निवास करता हुआ, शास्त्र चर्चा करता हुआ पाषाण-शय्या पर स्थित होता हुआ ही आयु व्यतीत करता है। चित्त को शान्ति प्राप्त होने के कारण नीतिज्ञ पुरुष वन विहार द्वारा विषयों में आसक्ति रहित हो सहज प्राप्त सुख का उपभोग करता हुआ, अपना समय यापन करता है। पुण्य कर्मों के अनुष्ठान और सत्शास्त्रों के अभ्यास द्वारा प्राणी की यथार्थ देखने वाली दृष्टि स्वच्छ होती है । इस भूमिका के प्राप्त होने पर साधक स्वयं प्रबुद्ध हो जाता है ॥१५-१६॥

द्विप्रकारमसंसर्गः तस्य भेदमिमं श्रृणु ।
द्विविधोऽयमसंसर्गः सामायः श्रेष्ठ एव च ॥२०
नाहं कर्त्ता न भोक्ता च न बाध्यो न बाधकः ।
इत्यसञ्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ॥२१
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव वा ।
सुखं वा यदि वा दुखं नैवात्र मम कर्तृता ॥२२
भोगाभोग महारोगाः संपदः परमापदः ।
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियाम् ॥२३
कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावान नारतम् ।

अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलब्धमनसः सासान्योऽसावसङ्गमः ॥२४
अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्त्ता कर्म वा प्राक्तनं मम ॥२५
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनाम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥२६

असंसर्ग के दो प्रकार हैं । सामान्य और श्रेष्ठ । मैं कर्ता, भोक्ता, बाध्य, बाधक कुछ भी नहीं हूँ इस प्रकार विषयों के प्रति अनासक्त भाव ही सामान्य असंसर्ग कहा जाता है । इस जन्म में जो कुछ सामने है वह सब पूर्व जन्म के किये हुए कर्म के फल रूप में है । इसलिए सुख या दुःख इसमें मुझे क्या करना चाहिए ? भोगों का विस्तार घोर व्याधि स्वरूप है और सब प्रकार का वैभव घोर विपत्तियों का घर है । सभी संयोग एक दिन वियोग कराने वाले हैं । मानसिक चिन्तायें अज्ञानियों के निमित्त व्याधि के समान हैं । सब पदार्थ मिटने वाले हैं, क्योंकि काल उन्हें अपना ग्रास बनाता रहता है । शास्त्रोपदेशों को समझ लेने पर उन पदार्थों में आस्था का न रहना मनमें उनके अभाव की भावना उत्पन्न करता है । यह सामान्य असंसर्ग कहा गया है । "मैं कर्त्ता नहीं हूं, मेरे पूर्व कर्म ही कर्ता हैं अथवा परमात्मा कर्त्ता है" इस प्रकार की चिन्ता को बिल्कुल मिटा देने के अनन्तर जो मौन, आसन और शांत भाव की प्राप्ति होती है वह उत्कृष्ट असंसर्ग कहा गया है ॥२०–२६॥

सन्तोषामोदमधुरा प्रथमोदेति भूमिका ।
भूमिप्रोदितमात्रोऽन्तरमृतांकुरिकेव सा ॥२७
एषा हि परिमृष्टाऽन्तरन्यासां प्रसवकभूः ।
द्वितीयां च तृतीयां च भूमिकां प्राप्नुयात्ततः ॥२८
श्रेष्ठा सर्वगता ह्येषा तृतीया भूमिकाऽत्र हि ।
भवति प्रोज्झिताशेषसंकल्पकलनः पुमान् ॥२९
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
समं सर्वत्र पश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकां गतः ॥३०

अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकां गताः ॥३१
भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते ।
चित्तं तु शरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ॥३२

सन्तोष और आनन्द के कारण मधुर लगने वाली प्रथम भूमिका ऐसे प्रकट होती है जैसे अन्तःकरण रूप पृथिवी में अमृत का अंकुर फूट पड़ा हो। इस भूमिका के प्रकट होने पर अन्य भूमिकाओं के प्राकट्य के निमित्त अन्तःकरण एक क्षेत्र हो जाता है। इसके अनन्तर साधक को दूसरी और तीसरी भूमिका प्राप्त हो जाती है। तीनों भूमिकाओं में तीसरी भूमिका ही सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। क्योंकि इसके प्रकट होने पर सभी संकल्पजन्य वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। तीनों भूमिकाओं का अभ्यासी साधक अज्ञान नष्ट होने पर चौथी भूमिका को प्राप्त कर सब ओर समान भाव से देखने वाला हो जाता है। उस समय अद्वैत भाव में दृढ़ता इतनी बढ़ जाती है कि अद्वैत भाव स्वयं ही लोप हो जाता है। इस प्रकार चतुर्थ भूमिका को प्राप्त हुए साधक इस लोक को स्वप्न के समान मिथ्या मानते हैं। प्रथम तीनों भूमिकाएँ जागरण रूप और चतुर्थ भूमिका स्वप्न कही जाती है ॥ २७-३२ ॥

सत्ताऽवशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ।
जगद्विकल्पो नोदेति चित्तस्यात्र विलापनात् ॥३३
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रकः ॥३४
गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽन्तः प्रबोधवान् ।
सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ॥३५
अन्तर्मुखतया तिष्ठन् बहिर्वृत्ति परोऽपिसन् ।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥३६
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ।

षष्ठी तुर्याभिधामन्यां क्रमात् पतति भूमिकाम् ।।३७
यत्र नासन्न सद्रूपोनाहं नाप्यनहंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ।।३८
निर्ग्रन्थिः शान्तसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावनः ।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः ।।३९
षष्ठ्यां भूमावसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
विदेह मुक्तताऽत्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका ।।४०

पञ्चम भूमिका की प्राप्ति पर जैसे शरद् काल में बादल आकाश में लीन हो जाते हैं वैसे ही साधक का चित्त विलीन हो जाता है और सत्यमात्र ही शेष रह जाता है। ऐसी अवस्था होने पर सांसारिक विकल्प उत्पन्न नहीं होते। इस भूमिका वाले साधक के सभी भेद शान्त होते हैं और साधक अद्वैतावस्था में ही रहता है। द्वैत भाव के नाश होने से सुषुप्तपद नाम वाली पञ्चम भूमिका आत्मज्ञानी साधक को अपने स्वरूप में कर लेती है। वह बाह्य व्यवहार करता हुआ भी अन्तर्मुख रहता और सदा थके हुए के समान सोता-सा दिखाई देता है। इस भूमिका के सिद्ध होने पर वासना-रहित साधक षष्ठी भूमिका में प्रविष्ट होता है। वहाँ सत्, असत्, अहङ्कार, अनहंकार और मननात्मक वृत्ति नहीं रहती तथा विशुद्ध अद्वैतावस्था में रहकर भय–रहित हो जाता है। उसकी हृदय-ग्रन्थियों के खुलने पर सभी सन्देह निवृत्त हो जाते हैं। उस समय उसकी भावशून्य स्थिति होती है। वह निर्वाणपद प्राप्त हुए बिना ही निर्वाण जैसी अवस्था में पहुँचकर जीवन्मुक्त हो जाता है। उस समय की अवस्था निश्चल दीपक के समान होती है। इस छठवीं भूमिका के पश्चात् सातवीं भूमिका की प्राप्ति होती है।।३३-४०।।

अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा सर्वभूमिषु ।
लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।।४१
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ।
ओंकारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षम् ।।४२

वाच्यवाचकताऽभेदात् भेदेनानुपलब्धितः ।
ओंकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः ॥४३
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत् क्रमेण तु ।
समाधिकालात् प्रागेव विचिन्त्यातिप्रयत्नतः ॥४४
स्थूलसूक्ष्मक्रमात् सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् ।
चिदात्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ॥४५
परमानन्दसंदेहो वासुदेवोऽहमोमिति ।
आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ॥४६
तस्मात् सर्वं परित्यज्यं तत्त्वनिष्ठो भवानघ ।
अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासाविवर्जितम् ॥४७
आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम् ।
प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत् ॥४८

सातवीं भूमिका में विदेह मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है । वह भूमिका अत्यन्त शांत है तथा वाणी के द्वारा नहीं कही जा सकती। सभी भ मिकाओं की यह अन्तिम सीमा रूप है, यहाँ सभी योग-भूमिकाओं का अन्त हो जाता है । इसमें लोकाचार, देशाचार और शास्त्राचार का भी त्याग हो जाता है । विश्व, प्राज्ञ और तैजस आदि के रूप में यह सम्पूर्ण ससार 'ॐकार' ही है। इसमें वाच्य-वाचक भेद नहीं होता और भेद हो तो इसकी प्राप्नि संभव नहीं है । ॐकार की प्रथम मात्रा 'अंकार विश्व, 'उ'कार तैजस 'म'कार प्राज्ञ है। समाधि से पहले ही अत्यन्त प्रयत्न द्वारा इसका चिन्तन करे और स्थूल-सक्ष्मके क्रमसे सब कुछ चिदात्मा में लीन करे । चिदात्मा को अपना ही रूम मानते हुए, ऐसा दृढ भाव करे कि 'मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तामात्र, अद्वितीय, परमानन्दमय वासुदेव तथा प्रणवरूप हूं।' यह सम्पूर्ण प्रपंच आदि, मध्य, अन्त के रूप में दुःखमय है, इसलिये सर्वत्यागी होकर तत्वनिष्ठता प्राप्त करे। मैं आनन्द रूप, निर्मल, विशुद्ध, अविद्या-रहित, आभास-रहित, वाणी द्वारा अगम्य, प्रज्ञानघन ब्रह्म हूं, ऐसी भावना करे । यह उपनिषद्रूप रहस्य है ॥४१-४८॥

॥ इति अक्ष्युपनिषद् समाप्त ॥

(१४) अध्यात्मोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ । यह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत पूर्ण है । इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है । इस पूर्ण ब्रह्म में से इस पूर्ण जगत् को निकाल लें, तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहेगा ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अन्तः शरीरे निहतो गुहायामज एको नित्यमस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद । यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन् यमापो न विदुः । यस्त तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद । यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद । यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद । यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे संचरन् यं मनो न वेद । यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद । यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद । यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन् यं चित्तं न वेद । यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद । यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद । यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद । स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ।

अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि ।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्मनिष्ठया ॥१

हरि ॐ । शरीर के भीतर हृदय रूपी गुफा में एक 'अजन्मा नित्य' रहता है । इसका शरीर पृथ्वी है, वह पृथ्वी के भीतर रहता है, पर पृथ्वी उसे जानती नहीं जल जिसका शरीर है और जल के अन्दर जो रहता है, पर जल जिसे जानता नहीं । तेज जिसका शरीर है और जो तेज के भीतर रहता है, तो भी तेज जिसको जानता नहीं जो वायु के भीतर रहता है, और वायु जिसका शरीर है, पर वायु जिसे जानता नहीं । आकाश जिसका शरीर है और जो आकाश के भीतर रहता है, पर आकाश जिसे जानता नहीं । मन जिसका शरीर है और जो मन के भीतर रहता है, तो भी मन जिसको जानता नहीं । बुद्धि जिसका शरीर है और बुद्धि के भीतर जो रहता है तो भी बुद्धि जिसको जानती नहीं। अहंकार जिसका शरीर है और जो अहंकार के भीतर रहता है, तो भी अहंकार जिसको जानता नहीं । चित्त जिसका शरीर है और चित्त के भीतर जो रहता है तो भी चित्त जिसको जानता नहीं । अव्यक्त जिसका शरीर है और अव्यक्त के भीतर जो रहता है, तो भी अव्यक्त जिसको जानता नहीं । अक्षर जिसका शरीर है और अक्षर के भीतर जो रहता है, तो भी अक्षर जिसको जानता नहीं । मृत्यु जिसका शरीर है और मृत्यु के अन्दर जो रहता है, तो भी मृत्यु जिसे जानती नहीं । वही इन सर्वभूतों का अन्तरात्मा है, उसके पाप नष्ट हो गये हैं और वही एक दिव्य देव नारायण है । देह, इन्द्रियाँ आदि अनात्म पदार्थ हैं, इनके ऊपर 'मैं-मेरा' ऐसा जो भाव होता है, वह अध्यास (भ्रम) है, इसलिये विद्वान को ब्रह्मनिष्ठा द्वारा इस अध्यास को दूर करना चाहिए ॥1॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्ययात्मनं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम् ।
सोऽहमित्येव तद्वृत्त्या स्वान्यत्रात्ममतिं त्यजेत् ॥२

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनम् त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥३
स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः ।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ॥४
निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः ।
क्वचिन्नावसरं दत्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥५

अपने को ही बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी-प्रत्यगात्मा जानकर 'वह मैं ही हूँ' ऐसी वृत्ति द्वारा अपने सिवाय सब पदार्थों के ऊपर से आत्मबुद्धि का त्याग करना ॥ २ ॥ लोक का अनुसरण करना छोड़कर देश का अनुसरण भी छोड़ देना, इसके पश्चात् शास्त्र का अनुसरण छोड़कर आत्मा के ऊपर का अध्यास भी छोड़ देना ॥ ३ ॥ अपनी ही आत्मा में स्थित होकर युक्ति, श्रवण तथा स्वभाव द्वारा अपने को ही सबका आत्मरूप जानकर योगी का मन नाश होता है ॥४॥ निद्रा को, लोगों की बातों को, शब्दादि विषयों को तथा आत्मा के विस्मरण को किसी स्थल पर अवसर दिए बिना हृदय में आत्मा का चिन्तन करना ॥५॥

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ब्रह्मभूयं कृती भव ॥६
घटाकाशं महाकाशं इवात्मानम् परात्मनि ।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥७
स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना ।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत् ॥८
चिदात्मनि सदानन्दे देहरूढामहंधियम् ।
निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ॥६
यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तःपुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ ॥१०

यह शरीर माता-पिता के मैल में से उत्पन्न हुआ है और मल तथा मांस से ही भरा है, इसलिये उसे चाण्डाल की तरह त्यागकर ब्रह्मरूप होकर तू कृतार्थ हो ॥६॥ हे मुनि ! महाकाश में घटाकाश की तरह परमात्मा में आत्मा को एक रूप करके अखण्ड भाव से सदा शान्त रहो ॥ ७ ॥ स्वयं ही अपने आप, स्वयं प्रकाश और अधिष्ठान-ब्रह्मरूप होकर पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड का भी विष्ठा-पात्र के समान त्याग कर दे ॥ ८ ॥ देह के ऊपर रूढ़ हुई अहङ्कार बुद्धि को सदैव आनन्द रूप चिदात्मा में स्थापित करके लिंग शरीर को त्याग और सर्वदा केवल आत्मा रूप हो ॥९॥ हे निर्दोष ! दर्पण में जैसे शहर दिखाई दे, वैसे ही जिसमें इस जगत का भास दिखाई पड़ता है, वही ब्रह्म मैं हूं, इस प्रकार जान कर तू कृतार्थ हो ॥१०॥

अहङ्कारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवत्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः ॥११
क्रियानाशाद्भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः ।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः स जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥१२
सर्वत्र सर्वतः सर्वं ब्रह्ममात्रावलोकनम् ।
सद्भावभावनादार्ढ्याद्वासनालयमश्नुते ॥१३
प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः ॥१४
यथाऽपकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति ।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वाऽपि पराङ्मुखम् ॥१५

अहङ्कार को पकड़ने से छूटा हुआ मनुष्य ही आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है, और फिर चन्द्रमा जैसा निर्मल होकर, सदा आनन्दरूप और स्वयं प्रकाश बनता है ॥ ११ ॥ क्रिया का नाश होने से चिन्ता का नाश होता है, और चिन्ता का नाश होने से वासना का नाश होता है। वासना नाश यही मोक्ष है और यही जीवन्मुक्ति कहलाती है ॥ १२ ॥

सर्वत्र, सब तरफ, सबको केवल ब्रह्मरूप देखना—ऐसी सद्भावना दृढ़ होने से वासना का नाश होता है ।।१३।। ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करना, क्योंकि यही मृत्यु है, ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं ।। १४ ।। जिस प्रकार शैवाल को पानी से कुछ हटा भी दिया जाय तो भी वह पानी को बिना ढके नहीं रहता इसी प्रकार समझकर व्यक्ति भी ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी विमुख हो जाय तो माया उसे लिप्त कर देती है ।।१५।।

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः ।
समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ ।।१६
अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा ।
समाधिनाऽविकल्पेन यद्वाऽद्वैतात्मदर्शनम् ।।१७
अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत् ।।१८
ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः ।
ततः पूर्णं स्ववात्मनं पश्येदेकात्मना स्थितम् ।।१९
स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्ववम् शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किंचन् ।।२०

जिसको जीवितावस्था में ही केवल ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त हो गई है, वह देह-रहित होने पर भी ब्रह्मरूप ही रहेगा, इसलिए हे निर्दोष ! समाधिनिष्ठ होकर विकल्पों से शून्य बन ।।१६।। जिस समय निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मा का दर्शन होता है उसी समय हृदय की अज्ञानरूप गाँठ का पूर्णतः नाश होता है ।।१७।। आत्मा के ऊपर ही आत्मभाव को दृढ़ करके अहं-कार आदि के ऊपर वाले आत्मभाव का त्याग करना, घड़ा, वस्त्र आदि पदार्थों से जिस प्रकार उदासीन भाव से रहा जाता है, उसी प्रकार अहंकार आदि की तरफ से भी उदासीन भाव से रहना ।। १८ ।। ब्रह्मा से लेकर खम्भ तक की सब उपाधि झूठी हैं, इसलिए एक स्वरूप में रहने वाले

अपने पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना ॥१९॥ स्वयं ही ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इन्द्र, स्वयं शिव, स्वयं जगत और स्वयं ही यह सब कुछ है, स्वयं से भिन्न कुछ भी नहीं है ॥२०॥

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासितः ।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥२१
असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥२२
द्रष्टृ दर्शनदृश्यादिभावशून्ये निरामये ।
कल्पार्णव इवात्यन्तं परिपूर्णे चिदात्मनि ॥२३
तेजसीव तमो यत्र विलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥२४
एकात्मके परे तत्वे भेदकर्ता कथं वसेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ॥२५

अपनी आत्मा में ही सब वस्तुओं का आभास केवल आरोपित है, उसको दूर करने से स्वयं ही पूर्ण अद्वैत और क्रियाशून्य परब्रह्म बन सकता है ॥२१॥ एक ही आत्मा रूप वस्तु में यह जगत रूप जो विकल्प (भेद) जान पड़ता है, वह लगभग झूँठा है क्योंकि निर्विकार, निराकार और अवयव रहित वस्तु में भेद कहाँ से आ सकता है ॥२२॥ चिदात्मा द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य आदि भावों से रहित है, निर्दोष है तथा प्रलयकाल के समुद्र की तरह परिपूर्ण है। जिस प्रकार प्रकाश में अन्धकार विलीन हो जाता है, वैसे ही अद्वितीय परम तत्व में भ्रान्ति का कारण विलय हो जाता है। वह अवयव रहित है, इससे उसमें भेद कहाँ से हो सकता है ? ॥२३-२४। यह परम तत्व एक स्वरूप ही है, उसमें भेद कैसे रह सकता है ? सुषुप्ति अथवा केवल सुख रूप है उसमें भेद किसने देखा है ? ॥२५॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥२६

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः ।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥२७

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम् ।
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरते फलम् ॥२८

यद्युत्तरोत्तराभावे पूर्वपूर्वं तु निष्फलम् ।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः ॥२९

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥३०

इस विकल्प (भेद) का मूल चित्त है, अगर चित्त न हो तो कोई भेद है ही नहीं, इसलिये प्रत्यग् स्वरूप परमात्मा में तू चित्त को एकाग्र करदे ॥ २६ ॥ अखण्ड आनन्दरूप आत्मा को स्वस्वरूप जानकर इस आत्मा में ही बाहर और भीतर सदा आनन्द रस का तू स्वाद ले ॥२७॥ वैराग्य का फल ज्ञान है, ज्ञान का फल उपरति है और आत्मानन्द के अनुभव से जो शान्ति होती है, वही उस उपरति का फल है ॥ २८ ॥ ऊपर बतलाई हुई वस्तुओं में से उत्तरोत्तर जो न हो तो उससे पहले की वस्तु निष्फल है । विषयों से दूर जाना, यही परम तृप्ति है और आत्मा का जो आनन्द है वह स्वयं ही अनुपम है ॥ २९ ॥ मायारूप उपाधि वाला, जगत का उत्पत्ति स्थान, सर्वज्ञाना आदि लक्षणों से युक्त, परोक्षपन से मिश्र और सत्य आदि स्वरूप वाला जो परमात्मा है, वही 'तत्' शब्द से प्रसिद्ध है ॥३०॥

आलम्बतनया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥३१

मायाऽविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते ॥३२

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या सम्भावितत्वासंधानं मननं तु तत् ॥३३
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य तत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥३४
ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥३५

और जो 'मैं' ऐसे अनुभव तथा शब्द का आश्रय जान पड़ता है और जिसका ज्ञान अन्तःकरण से मिथ्या है, वह (जीव) 'त्वम' शब्द से पुकारा जाता है ॥३१॥ इस परमात्मा को माया और जीव को अविद्या- ऐसी दो उपाधि हैं, इनको त्याग करने से अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म ही जान पड़ता है ॥ ३२ ॥ इस प्रकार 'तत् त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म की एकतारूप अर्थ का अनुसंधान करना, यह श्रवण है और जो कुछ सुना गया है उसके अर्थ को युक्तिपूर्वक विचार करना, यह मनन है ॥३३॥ इस श्रवण और मनन द्वारा निस्सन्देह हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एक तान बनना, यह निदिध्यासन है ॥३४॥ फिर ध्याता तथा ध्यान का त्याग करके चित्त, केवल एक ध्येय को ही विषय रूप माने और वायु रहित स्थान में रखे हुए दिये के समान निश्चल बन जाय, उसको समाधि कहते हैं ॥३५॥

वृत्तयस्तु तदानीमप्यज्ञाता आत्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः ॥३६
अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मोऽभिवर्धते ॥३७
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥३८
अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥३९

वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक् परोक्षावभासते ।
करामलकवद् बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥४०

इस समाधि के समय वृत्तियाँ केवल आत्मारूप विषय वाली होती हैं, इससे जान नहीं पड़ती, पर समाधि में से उठे हुए साधक की वे उत्थान पाई हुई वृत्तियाँ, स्मरण से अनुमान की जाती हैं ॥ ३६ ॥ इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म, इकट्ठा कर लिए जाते हैं, पर इस समाधि द्वारा वे नष्ट हो जाते हैं, और शुद्ध धर्म बढ़ते हैं ॥३७॥ उत्तम योगवेत्ता इस समाधि को 'धर्म मेघ' कहते हैं, क्योंकि वह मेघ की तरह धर्म रूप हजारों धाराओं की वर्षा करती है ॥ ३८ ॥ इस समाधि द्वारा वासनाओं का समूह पूर्णतः लय को प्राप्त होता है और पुण्य-पाप नाम के कर्मों का समूह जब जड़ से उखड़ जाता है, तब यह 'तत्त्वमसि' वाक्य प्रथम परोक्ष ज्ञान रूप में प्रकाशित होता है, और फिर हाथ में रहे आमला की तरह स्खलित होकर अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है ॥३६-४०॥

वासनाऽनुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदाऽवधिः ।
अहंभावावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः ॥४१
लीनबृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा ।
स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते ॥४२
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रयः ।
ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ॥४३
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ।
सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४
देहेन्द्रियेष्वहृभाव इदंभावस्तदन्यके ।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४५

भोगने लायक पदार्थ के ऊपर वासना जागृत न हो, तब वैराग्य की अवधि जान लेनी और अहंभाव का उदय न हो तब ज्ञान की परम

अवधि समझना ॥४१॥ इसी प्रकार लय को प्राप्त हुई वृत्तियाँ फिर से उत्पन्न न हों, वह उपरति की अवधि है। ऐसा स्थितप्रज्ञ यति सदा आनन्द को पाता है ॥ ४२ ॥ जिसका मन ब्रह्म में ही लीन हुआ हो वह निर्विकार और निष्क्रय रहता है। ब्रह्म और आत्मा (जीव . शोधा हुआ, और दोनों के एकत्व में लीन हुई वृत्ति विकल्प रहित और मात्र चैतन्य रूप बनती है तब वह प्रज्ञा कहलाती है। यह प्रज्ञा जिसमें सर्वदा होती है, वह जीवनमुक्त कहलाता है ॥ ४३-४४ ॥ देह तथा इन्द्रियों पर जिसको अहंभाव न हो, और इनके सिवाय अन्य पदार्थों पर 'यह मेरा है' ऐसा भाव जिसको न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥४५॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कथाऽपि ब्रह्मसर्गयोः ।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते । ४६
साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४७
विज्ञातब्रह्मतत्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः ।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥४८
सुखाद्यनुभवो यावत् तावत् प्रारब्धमिष्यते ।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हिं कुत्रचित् ॥४९
अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम् ।
संचितं विलयं याति प्रबोधान् स्वप्नकर्मयत् ॥५०

जीवात्मा तथा ब्रह्म का भेद और ब्रह्म तथा सृष्टि का भेद बुद्धि द्वारा जो कभी नहीं जानता, वह जीवनमुक्त कहलाता है ॥४६॥ सज्जन सत्कार करें और दुर्जन दुःख दें, तो भी जिसको सदैव सबके ऊपर सम भाव रहे, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ४७ ॥ जिसने ब्रह्म तत्व को जान लिया होता है, उसकी दृष्टि में संसार प्रथम जैसा नहीं रहता, इस लिये अगर वह संसार को पूर्ववत् ही देखता है तो मानना पड़ेगा कि

उसने अभी तक ब्रह्म भाव को जाना ही नहीं है और वह बहिर्मुख है ।। ४८ ।। जहाँ तक सुख वगैरह का अनुभव होना है, वहाँ तक यह प्रारब्ध कर्म है, ऐसा माना गया है, क्योंकि प्रत्येक फल का उदय क्रिया-पूर्वक ही होता है, क्रिया बिना किसी स्थान पर कोई फल होता ही नहीं ।।४९।। जिस प्रकार जग जाने से स्वप्न की क्रिया नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होने से करोड़ों और अरबों जन्म से इकट्ठा किया संचित कर्म नाश पाता है ।।५०।।

स्वमसंगमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा ।
न श्लिष्यते यतिः किंचित् कदाचिद्भाविकर्मभिः ।।५१
न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते ।
तथाऽऽत्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते ।।५२
ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति ।
यदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टवाणवत् ।।५३
व्याघ्रवुद्ध्या विनिर्मुक्तो वाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
न तिष्ठति भिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ।।५४
अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते ।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्ध कल्पना ।।५५

आकाश के समान अपने को असंग तथा उदासीन जानकर योगी, भविष्य के कर्मों में लेशमात्र लिप्त नहीं होता ।। ५१ ।। जिस प्रकार मदिरा के घड़ा में रहा हुआ आकाश मदिरा की गन्ध से लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा उपाधि का संयोग होने पर भी उसके धर्मों से लिप्त नहीं होता ।। ५२ ।। जिस प्रकार लक्ष्य को उद्देश्य करने छोड़ा बाण लक्ष्य को वेधे बिना नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान के उदय होने के पहले किया गया कर्म, ज्ञान का उदय होने के बाद भी उसका फल दिए बिना नहीं रहता (अर्थात्) किए हुए कर्म का फल तो ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी भोगना पड़ता है । ज्ञान द्वारा कर्म का नाश नहीं हो सकता ।। ५३ ।। बाघ समझकर छोड़ा हुआ बाण छूटने के बाद 'यह

बाघ नहीं है वरन् गाय है" ऐसी बुद्धि होने पर भी रुक नहीं सकता, पर वेग पूर्वक लक्ष्य को पूर्ण तरह वेधता ही है, इसी प्रकार किया हुआ कर्म ज्ञान हो जाने के बाद भी फल प्रदान करता है ।। ५४ ।। 'मैं अजर हूं, मैं अमर हूँ' इस प्रकार जो अपने को आत्मारूप स्वीकार करता है, तो वह आत्मारूप ही रहता है, अर्थात् उसको प्रारब्ध कर्म की कल्पना कहाँ से हो ?" [अर्थात् ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म का सम्बन्ध नहीं रहता] ।।५५।।

प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थिति ।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ।।५६
प्रारब्धकल्पनाऽप्यस्य देहस्य भ्रान्ति रेष हि ।।५७
अध्यस्तस्य कुतस्य (स) त्त्व मसत्यस्य कुतोजनिः ।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ।।५८
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान् ।।५९

प्रारब्ध कर्म तो उसी समय सिद्ध होता है, कि जब देह के ऊपर आत्म बुद्धि होती है, पर देह के ऊपर आत्मभाव रखना तो कभी इष्ट नहीं है, इस लिये देह के ऊपर की आत्मबुद्धि को तजकर प्रारब्ध कर्म का त्याग करना ।। ५६ ।। देह की भ्रांति यही प्राणी के प्रारब्ध कर्म की कल्पना है, पर आरोपित अथवा भ्रांति से जो कल्पित हो वह सच्चा कहाँ से हो ? जो सच्चा नहीं है उसका जन्म कहाँ से हो ? जिसका जन्म नहीं हुआ उसका नाम कहाँ से हो ? इस प्रकार जो असत् है, वस्तु रूप है ही नहीं उसको प्रारब्ध कर्म कहाँ से हो ।। ५७-५८ ।। देह यह अज्ञान का कार्य है, उसका ज्ञान द्वारा जो समूल नाश हो जाता है तो यह देह रहती कैसे है ? ऐसी शंका करने वाले अज्ञानियों का समाधान करने के लिये ही श्रुति ने बाह्य दृष्टि से प्रारब्ध को कहा है । [वास्तव में न तो देह है और न प्रारब्ध है ।।५ ।

समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ।
न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ।।६०

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम् ।
सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमव्ययम् ॥६१
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम् ।
अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम् ॥६२
निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम् ॥६३
सत्समृद्धं स्वतः सिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन ॥६४
स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
स सिद्धः सुसुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनाऽऽत्मनि ॥६५
क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम ॥६६

"देह आदि सत्य है" ऐसा ज्ञानियों को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात नहीं कहता [पर अज्ञानियों का समाधान करने के लिए ही श्रुति प्रारब्ध कर्म की बात कहता है] वास्तव में परिपूर्ण, आदि अन्त रहित, अमाप (नाप सकने में असंभव विकार रहित, सत्तामय, चैतन्यमय, नित्य, आनन्दमय, अविनाशी, हर एक में व्यापक होने वाले, एक रस वाला, पूर्ण, अनन्त, सर्व तरफ मुख वाला, त्याग सकने में अथवा ग्रहण कर सकने में अशक्य, आधार के ऊपर नहीं, रहने वाला, आश्रय रहित, निर्गुण, क्रिया रहित, सूक्ष्म, विलकल्प रहित, स्वतः सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अमुक के समान नहीं, एक और अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है। और कोई भी नहीं है ॥६०-६३॥

इस प्रकार अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखंडित जानकर तू सिद्ध हो, और निर्विकल्प स्वरूप आत्मा से ही अत्यन्त सुख पूर्वक स्थिति कर ॥६४॥ [गुरु के इस उपदेश को सुनकर शिष्य ज्ञानी बन गया और कहने लगा] जगत को मैंने अभी देखा था, वह कहाँ गया ?

किसने उसे ले लिया ? और वह किसमें लय हो गया ? बड़ा आश्चर्य है कि क्या वह नहीं है ।। ५-६६।।

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत् किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णब्रह्ममहार्णवे ।।६७
न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि स्वलक्षणः ।।६८
असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमहं हरिः ।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णश्चिरन्तनः ।।६९
अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमव्ययः ।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽह सदाशिवः ।।७०

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददौ । अपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ। ब्रह्म घोराङ्गिरसे ददौ । घोराङ्गिरा रैक्वाय ददौ । रैक्वो रामाय ददौ । रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येतन्निर्वाणानुशासनं वेदानुशानं वेदानुशासनमित्युपनिषत् ।।७१

अखण्ड आनन्द रूप अमृत से भरे इस ब्रह्मरूप महासागर में अब मुझे क्या त्याग करना ? क्या लेना ? अन्य क्या है ? विलक्षण क्या है ? ।। ६७ ।। यहाँ मैं कुछ देखता भी नहीं, कुछ सुनता नहीं और कुछ जानता नहीं, क्योंकि मैं सदा आनन्द रूप अपने आत्मारूप में ही हूँ, और मैं स्वयं ही अपने लक्षण वाला हूँ ।। ६८ ।। मैं असंग हूँ, शरीर रहित हूँ बिना चिन्ह वाला हूँ मैं ही श्री हरि हूँ, अत्यन्त शांत हूं, मैं अनन्त हूँ, परिपूर्ण हूं और प्राचीन से प्राचीन हूँ ।। ६९ ।। मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूं, मैं विकाश रहित और अविनाशी हूँ, वैसे ही मैं शुद्ध और ज्ञान स्वरूप हूँ, मैं ही केवल सदाशिव हूँ ।। ७० ।। यह विद्या (गुरू ने) अपांतरतम [अपने नाम मात्र के शिष्य] को दी थी, अपांतरतम ने ब्रह्मा को दी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी थी, घोरांगिरस ने रैक्व को दी थी, यह निर्वाण का उपदेश है, वेद की शिक्षा है और वेद की आज्ञारूप है । इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होता है ।।७१।।

।। अध्यात्मोपनिषत् समाप्त ।।

(१५) मैत्रायण्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति।

ॐ। मेरे अंग, वाणी, प्राण, आंख, कान, बल और सब इन्द्रियाँ पुष्ट बनें। यह सब उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म से अपने को दूर न करूं और ब्रह्म मुझे अपने से दूर न करे। ब्रह्म मुझ से दूर न हो और मैं ब्रह्म से दूर न हूँ। आत्मा से प्रीति रखने वाले मनुष्य के लिए जो धर्म उपनिषदों में बतलाये गये हैं वे मेरे भीतर हों—मेरे भीतर हों। ॐ शांति, शांति, शांति।

प्रथम प्रपाठक

बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परम तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठति। अन्ते सहस्रस्य मुनिरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्भगवान् शाकायन्यः। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवत् नाहमात्मवित त्वं तत्वविच्चणुमो वय स त्वं नो ब्रूहीति। एतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान् कामान् वृणीष्वेति शाकायन्यस्य चरणावभिमृशमानो राजेमां गाथां जगाद ॥१

बृहद्रथ नाम के राजा को शरीर की अनित्यता का ज्ञान होने पर वैराग्य उत्पन्न हो गया। इससे वह अपना राज्य बड़े पुत्र को देकर वन में चला गया। वहाँ उसने बहुत समय तक उग्र तपश्चर्या की। वह सूर्य के सामने देखता और हाथ ऊँचा करके खड़ा रहता। एक हजार वर्ष के अन्त में उसकी तपश्चर्या के फलस्वरूप शाकायन्य नाम के आत्मवेत्ता महामुनि उसके पास आये। उनका तेज ऐसा लगता था जैसे बिना धुँए की अग्नि। उन्होंने राजा से कहा—'उठ-उठ, वरदान माँग।' राजा ने कहा—'हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ; मैंने सुना है कि आप आत्मवेता हो, इसलिये मुझे आत्मज्ञान रूप वरदान दो।' यह सुनकर मुनि ने कहा—हे इक्ष्वाकुवंशी राजा! तू अन्य कोई वर माँग ले, और ऐसा प्रश्न मत पूछ जिसे प्राचीन काल से ही अति कठिन माना जाता है।' यह सुनकर बृहद्रथ राजा शाकायन्य के चरणों को स्पर्श करता हुआ यह गाथा बोला—॥ १॥

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणित श्लेष्माश्रुदूषिकाविण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः॥२

कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः॥३

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादस्तृणवन्नश्यतयोद्भूतप्रध्वंसिनः॥४

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्वद्ध्रियाश्वाश्वपतिः। शशाविन्दुर्हरिश्चन्द्रोऽम्बरीषोऽननूक्तः स्वयातिर्ययातिरनरण्योक्षसेनोत्थमरुत्तभरतप्रभृतयो राजानो मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वाऽस्माल्लोकादमुं लोकं प्रयान्ति॥५

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये गन्धर्वासुरयक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनां निरोधनं पश्यामः ।

अथ किमेतैर्वाऽन्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनमस्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येयद्विधेऽस्मिन् संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदिहावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धूदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन् संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ॥७

हे भगवन् ! यह शरीर हड्डी, चमड़ा, स्नायु, मज्जा, मांस, वीर्य, रक्त, आँसू, विष्ठा, मूत्र, वायु, पित्त, कफ आदि से युक्त है, दुर्गन्ध से भरा है और निस्सार है, तो विषय भोगों की क्या आवश्यकता है ? यह शरीर काम, क्रोध, लोभ, भय, दुःख, ईर्ष्या प्रिय वस्तु का वियोग, भूख, प्यास, बुढ़ापा, मरण, रोग, शोक इत्यादि से पीड़ित है, तो विषय-भोगों की क्या आवश्यकता है ? यह समस्त जगत नाशवान है । मनुष्य आदि प्राणियों को मरते हुए देखता हूँ । इसी प्रकार डाँस, मच्छर आदि उत्पन्न होकर तुरन्त ही मर जाते हैं । इनकी क्या गिनती जबकि बड़े-बड़े धनुर्धारी और कितने ही सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, धियाश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, मनु का पुत्र शर्याति, ययाति, अनरण्य, उक्षसेन, मरुत और भरत आदि चक्रवर्ती नरेश भी अपने बन्धुबान्धवों के देखते-देखते, इस लोक के ऐश्वर्य को त्यागकर परलोक को चले गये । मनुष्य ही नहीं, पर गन्धर्व, असुर, यक्ष, राक्षस, भूतगण, पिशाच, सर्प और ग्रह आदि को भी हम नाश होते हुए देखते हैं । अथवा इनको भी छोड़ दो तो बड़े-बड़े समुद्र सूख जाते हैं, पर्वत टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान पर स्थिर नहीं रहते, वृक्ष गिर जाते हैं, पृथ्वी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकती, देवगण भी अपने स्थान से नीचे गिर जाते हैं, तो इस अहंकार से भरे जगत् में विषय-भोगों में पड़कर क्या लाभ हो सकता है ? विषयों में

लीन रहने वाले तो बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए दिखाई पड़ते हैं। इसलिये हे भगवन्! अन्धेरे कुँए में पड़े हुए मेंढ़क के समान इस जगत में मैं भी पड़ा हुआ हूं। आप मेरा उद्धार कीजिये, मैं आपकी शरण हूँ, आप ही मेरे आधार हैं" ॥ २—७ ॥

॥ प्रथम प्रपाठक समाप्त ॥

द्वितीय प्रपाठक

अथ भगवान् शाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं वाव खल्वात्मा ते कतमो भगवान् वर्ण्य इति तं होवाच ॥१॥ य ऐषो वाह्यावष्टम्भमनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तो व्यथमानोऽव्यथमानस्तमः प्रणुदत्येष आत्मेत्याह भगवानथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतामृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ॥२

यह सुनकर महर्षि शाकायन्य अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा से कहने लगे। कि "हे महाराज बृहद्रथ तुम इक्ष्वाकुवंशी ध्वजशीर्ष नरेश के पुत्र हो, मरुत नाम से विख्यात हो और सब प्रकार से कृतकृत्य हो। यह आत्मा कैसा है, यह अब मैं तुमको बतलाता हूँ। राजा ने कहा—"हे भगवन्! आप इस विषय को अवश्य मुझे बतलायें।" तब मुनि कहने लगे—"वाह्य इन्द्रियों का विरोध करने से यह प्राण रूप आत्मा योग द्वारा ऊपर चढ़ता है। यह दुःखयुक्त जान पड़ने पर भी वास्तव में दुःख रहित है और अन्धकार का नाश करता है। यही आत्मा इस शरीर से बाहर निकल कर परम ज्योतिरूप ब्रह्म को प्राप्त करके अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। यह आत्मा अमृतरूप, अभयरूप और ब्रह्मरूप है ॥ १-२ ॥

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं

भगवता मैत्रेयेण व्याख्याऽहं ते कथयिष्यामीत्यथापहतपाप्मान-स्तिग्मतेजस ऊर्ध्वरेतसो बालखिल्या इति श्रूयन्तेऽथ ते प्रजापति-मब्रुवन् भगवन् शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वीदृशो महिमाऽतीन्द्रियभूतस्य येनैतद्विधमिदं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिताऽस्य को भगवन्नेतदस्माकं ब्रूहीति तान् होवाच ॥ ३ ॥

यो ह खलु वाचोपरिस्थः श्रूयते सा वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तोऽप्राणोऽनीशात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भगवन् कथमनेदृशेनानिच्छेनैतद्विधमिदं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता नेषोऽस्येति कथमिति तान् होवाच ।।४

स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृशः पुरुषसंज्ञको बुद्धिपूर्वमिहै-वावर्ततेऽशेन सुषुप्तस्यैव बुद्धिपूर्वं निबोधयत्यथ यो ह खलु वावतस्यांशोऽयं यश्चेतनमात्रः यति पुरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यव-सायाभिमानलिङ्ग प्रजापतिर्विश्वाक्षस्तेन चेतनेनेदं शरीरं चेतन-वत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुभगवन्नीदृशस्य कममंशेन वर्तनमिति तान् होवाच ।।५

प्रजापतिर्वा एषोऽग्रंऽतिष्ठत् स नारमतंकः स आत्मान-मभिध्यायद्बह्वी, प्रजा असृजत्ता अस्मे वा अप्रबुद्धा अप्राणा स्थाणुरिव तिष्ठमाना अपश्यत् स नारमत सोऽमन्यततासां प्रति-बोधनायाभ्यन्तरं प्राविशानीत्यथ स वायूमिवात्मानं कृत्वाऽभ्य-न्तरं प्राविशत् स एको नाविशत् स पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यो-च्यते यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति ।।६

हे राजन् ! समस्त उपनिषद् जिसका उपदेश करते हैं, उस ब्रह्म का ज्ञान भगवान् मैत्रेय ने हमको प्रदान किया है यही मैं तुझे बतलाता हूं । जिनके पाप नष्ट हो चुके हैं, ऐसे तीक्ष्ण तेज वाले और ब्रह्मचारी

वालखिल्य नाम के मुनि प्रसिद्ध हैं। उन्होंने एक बार ब्रह्माजी से पूछा—'हे भगवन् ! यह शरीर गाड़ी (शकट) के समान अचेतन है, तो ऐसी किसकी महिमा है, कौन-सा ऐसा अतीन्द्रिय पदार्थ है जिससे यह शरीर चेतन के समान प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है ? इसको प्रेरणा देने वाले कौन हैं, यह हमको बतलाओ।' इस पर ब्रह्मा ने उत्तर दिया—'जिसे वाणी से परे बतलाया जाता है, उसी, शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, जीवित करने वाले, अनन्त, अविनाशी, स्थिर, सनातन, जन्म रहित और स्वतंत्र आत्मा की यह सब महिमा है। उसीसे इस शरीर को चेतन के समान प्रतिष्ठा मिलती है, वही प्रेरणा देने वाला है।' यह सुनकर वालखिल्य ने पूछा—"हे भगवन् ! यह आत्मा इच्छारहित होने पर भी इस शरीर में चैतन्य रूप कैसे टिका हुआ है ? यह क्यों इसको प्रेरणा देता है ? और इसकी यह महिमा किस प्रकार की है ?' ब्रह्मा ने उत्तर दिया—'यह आत्मा सूक्ष्म, अग्राह्य, अदृश्य है। इसका नाम पुरुष है। अपने एक अंश से वह यहाँ बुद्धिपूर्वक क्रिया करता है, सोते हुए को युक्तिपूर्वक जगाता है। उसका यही अंश सब चेतन प्राणियों में जीवात्मा बना है। वही हर एक शरीर में क्षेत्रज्ञ के रूप में रहता है, वही तेज, सङ्कल्प, प्रयत्न और अहङ्कारयुक्त, प्रजापति रूप और सबको देखने वाला है। उसी चेतन द्वारा यह शरीर सचेतन बना हुआ है, और वही इस शरीर को क्रिया के लिए प्रेरणा देता है।' तब वालखिल्यों ने पूछा—'भगवन् ! यह आत्मा अखण्ड होने पर भी किस प्रकार अंश रूप में यहाँ रहता है ?' ब्रह्मा ने उत्तर दिया—'सबसे पहले प्रजापति ही अकेले थे। उनको अकेले रहने से जब चैन नहीं पड़ा तो उन्होंने आत्मा का ध्यान करके अनेक प्रकार की प्रजा उत्पन्न की। अपने उत्पन्न किये हुये प्राणी उनको प्राण रहित और खम्बे के समान जड़ जान पड़े। यह उनको अच्छा नहीं लगा। उन्होंने विचार किया कि इस प्रजा को सचेतन करने के लिए मैं इसके भीतर प्रवेश करूँ। यह विचार कर अपने को

वायु के समान बनाकर उन्होंने उनमें प्रवेश किया। इसलिए एक ही प्राण के पाँच भेद हो गए—प्राण, अपान, समान, उदान् और व्यान ॥३-६॥

अथ योऽयमुर्ध्वमुत्क्रामतीत्येष वाव स प्राणोऽथ योयमवाञ्चं संक्रामत्येष व:व सोऽपानोऽथ योऽयं स्थविष्ठमन्नधातुमपाने स्थापयत्यणिष्ठं चाङ्गेऽङ्गे समं नयत्येष वाव स समानोऽथ योऽयं पीताशीवद्गिरति निगिरतोतति चैष वाव स उदानोऽय येनैताः सिरा अनुव्याप्ता एष वाव च व्यानः ।।७

अयोपांशुरन्तर्याम्य [मम] भिभवत्यन्तर्यामिमु [म उ] पांशुमेतयोरन्तराले चोष्णयं प्रास्त्रवद्यदोष्णयं स पुरुषोऽध यः पुरुष सोऽग्निर्वैश्वानरोऽप्यन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्बैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यदेतत् कर्णावपिधाय शृणोति स यदात्क्रमिष्यत् भवति ननं घोषं शृणोति ।।८

जो ऊपर की ओर गति करता है वह प्राण है, जो नीचे गति करता है वह अपान है, जो अतिशय स्थूल अन्न धातु को गुदाहस्थान में पहुँचाता है, वह समान है, जो खाता-पीता, ऊँचे और नीचे जाता है, वह उदान है, और जिससे सब नाड़ियाँ भरी हुई हैं वह व्यान है। जो समीप में अन्तर्यामी है और जो एक प्रहर के भीतर पराभव कर सकता है—उन दोनों के बीच जो गर्मी के महीने जैसी उष्णता है, वही उष्णता पुरुष है। जो पुरुष है वही वैश्वानर नाम का अग्नि है। अन्य स्थानों पर भी यह कहा गया है कि यह भीतर रतने वाला पुरुष वैश्वानर अग्नि पुरुष है, इससे ही अन्न पचता है । जो खाया जाता है उसी का शब्द भीतर सुनाई देता है। कान बन्द करने पर जो आवाज सुनाई देती है, वह यही आवाज होती है। जब शरीर में से प्राण निकलने को होते हैं तब यह आवाज सुनने में नहीं आती ॥७-८॥

स वा एष पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य निहितो गुहायां मनोमयः प्राणशरीरो बहुरूपः सत्यसङ्कल्प आत्मेति स वा एषोऽस्य हृदन्तरे तिष्ठन्नकृतार्थोऽमन्यतार्थानसानि तत्स्वानीमानि भित्त्वोदितः पञ्चभी रश्मिभिर्विषयत्तीति बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया रथः शरीर मनो नियन्ता प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदनेन [स्तेन] खल्वीरित परिभ्रमतीदं शरीरं चक्रमिवानेनैवेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ॥६

स वा एष आत्मेत्यदोवशं नीत इव सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमान इव प्रतिशरीरेषु चरत्यव्यक्तत्वात् सूक्ष्मत्वाददृश्यत्वादाग्रह्यत्वान्निर्ममत्वाच्चानवस्थोऽकर्ता कर्तेवावस्थितः ॥१०

स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चालेपोऽव्यग्रो निःस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्य चरितभुग्गुणमयेन पटेनात्मानमन्तर्धायावस्थित इत्यवस्थित इति ॥११

यह प्रजापतिरूप आत्मा अपने पाँच रूप बनाकर हृदयरूप गुफा में स्थित बना है, और यह आत्मा ही मन के रूप में, प्राण के रूप में तथा अन्य अनेक रूप में सत्य सङ्कल्प वाला है। इस प्रकार हृदय में रहता हुआ वह अपने को अकृतार्थ मानने लगा और अपने को कृतार्थ करने के निमित्त अपने पाँचों द्वारों को भेदकर प्रकट हुआ। ये पांच द्वार ही पांच इन्द्रियाँ बन गईं। ये पाँच इन्द्रियाँ लगाम हैं और पांच कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं, शरीर रथ है, मन सारथी है और स्वभाव प्रकृति (चाबुक) है। इस चाबुक से प्रेरित होने पर शरीर चक्र की तरह प्रेरित होता है, पर मृत्यु के पश्चात् वह चेतनायुक्त दिखलाई नहीं देता। इस प्रकार आत्मा ही शरीर का प्रेरक है ॥६॥ ऐसा जान पड़ता है कि यह आत्मा शरीर के वश में हो गया है और शुभाशुभ कर्मों के फल से बंधन

में पड़ गया है और इस कारण भिन्न-भिन्न शरीरों में संचार करता रहता है। पर विचार करने से जान पड़ता है कि वास्तव में वह अव्यक्त, सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य और ममता रहित है, इसलिए वह समस्त अवस्थाओं से रहित है। उसमें कर्त्तापन न होने पर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह कर्त्तारूप है ॥१०॥ यह आत्मा शुद्ध, स्थिर, अचल, आसक्ति रहित, दुःख-रहित, इच्छारहित, दृष्टा की तरह रहकर अपने कर्मों का फल भोगता जान पड़ता है। इसी प्रकार यह भी जान पड़ता है कि उसने अपने स्वरूप को त्रिगुणात्मक वस्त्र द्वारा ढक रखा है ॥११॥

॥ द्वितीय प्रपाठक समाप्त ॥

तृतीय प्रपाठक

ते होचुर्भगवन् यद्येवमस्यात्मो महिमानं सूचयसीत्यन्यो वा परः कोऽयमात्मा योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः स दसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां गति द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति कतम एष इति नान् होवाच ॥ १ ॥ अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्माऽऽख्यो योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभू-यमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां इति द्वन्द्वैरभिभू-यमानः परिभ्रमतीत्यस्योपव्याख्यानं पञ्च तन्मात्राणि भूतशब्दे-नोच्यन्ते पंच महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ तेषां यः समुदायः शरीरमित्युक्तमथ यो ह खलु वाव शरीरमित्युक्तं स भूतात्मेत्युक्त-मथास्ति तस्यात्मा बिन्दुरिव पुष्कर इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरित्यतोऽविभूतत्वात् संमूढत्वं प्रयात्यसंमूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद् गुणौघैस्तृप्यमन कलुषीकृतश्चा-स्थिरश्चञ्चलोलोलुप्ययानः सस्पृहो व्यग्रश्चाभिमानित्वं प्रयात् इत्यहं सो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनाऽऽमानं जाले-नेव कृतस्यानुफलरभिभूयमानः परिभ्रमतीति ॥२

यह सुनकर वालखिल्यों ने प्रश्न किया—'भगवन् जो इस आत्मा की ऐसी महिमा बतलाते हो, तो फिर क्या शुभाशुभ कर्मों के नीचे दबा हुआ और भली-बुरी योनियों में भ्रमण करता हुआ आत्मा कोई दूसरा है ? सुख और दुःख से पराभव पाकर कौनसा आत्मा ऊँची अथवा नीची गति में भ्रमण करता है ?' यह सुनकर ब्रह्मा बोला–'जो शुभाशुभ कर्मों के नीचे दबा हुआ है, वह तो दूसरा भूतात्मा कहलाता है । वह भली बुरी योनियों को प्राप्त होता है, ऊँची-नीची गतियों में जाता है और राग द्वेष आदि द्वन्दों से अभिभूत होता है । इसको भूतात्मा कहने का कारण यह है कि पाँच तन्मात्राओं और पंच महाभूतों को 'भूत' नाम से पुकारा जाता है, और इन भूतों का जो समुदाय है वही शरीर है । इसलिये इस शरीर को ही भूतात्मा कहा जाता है । इसमें रहने वाली आत्मा तो कमल पत्र पर रहने वाली पानी की बूंदों की तरह है । पर अपनी प्रकृति के गुणों द्वारा पराभव पाकर वह मूढ़ बन गया है और इसलिये अपने भीतर रहने वाले प्रेरक परमात्मा को वह देख नहीं सकता । इसी प्रकार गुणों के समूह से तृप्त होता हुआ, पापयुक्त अस्थिर, चञ्चल, लोलुप, विषयों की इच्छा वाला, व्याकुल और अभिमानी बनकर वह अहंकार-युक्त बन जाता है । वह कहने लगता है कि 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' ऐसा मान कर पक्षी की तरह जाल में फँस जाता है । वह अपने किये कर्मों के फल में स्वयं ही फँस कर जहाँ-तहाँ घूमता फिरता है ॥२॥

अथान्यत्राप्युक्त यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारयिताऽन्तःपुरुषोऽथ यथाऽग्निनाऽयःपिडो वाऽभिभूतःकर्तृभिर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्येवं वाव खल्वसौ भूतात्माऽन्तःपुरुषेणाभिभूतो गुणैर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्यथ यत्त्रिगुणं चतुरशीतलक्षयोनिपरिणतं भूतत्रिगुणमेतद्वै नानात्वस्य रूपं तानि ह वा इमानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव चक्रणेत्यथ यथाऽयःपिण्डे हन्य-

माने नाग्निरभिभूयत्येवं नाभिभूयत्यसौ पुरुषोऽभिभूयत्ययं भूतात्मोपसंश्लिष्टत्वात् ॥३

अथान्यत्राप्युक्तं शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविद्व्यपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणाऽवबद्धं विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इवावसन्नेति ॥४

अथान्यत्राप्युक्तं सोमोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री व्रणी जरा शोकः क्षुत् पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं वैकारिण्यं मूढत्वं निर्व्रीडत्वं निकृतत्वमुद्धतत्वमसमत्वमिति तामसान्वितस्तृष्णा स्नेहो रागो लोभो हिंसा रतिर्दृष्टिर्व्यावृतत्वमीर्ष्याकाममस्थिरत्वं चंचलत्वं जिहीर्षाऽर्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहावलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्वभिष्वङ्ग इति राजसान्वितैः परिपूर्ण एतैरभिभूत इत्ययं भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति ॥५

अन्य स्थान पर भी कहा गया है कि कर्तापन तो इस भूतात्मा का ही है और अन्दर रहने वाली शुद्ध आत्मा केवल प्रेरक ही है। वह इन्द्रियों द्वारा सब कार्य कराता है। जैसे आग में तपाये लोहे को पीटकर लुहार अनेक रूपों में बना देता है, इसी प्रकार यह भूतात्मा शुद्ध आत्मा द्वारा तपाकर और गुणों द्वारा पीटा जाकर अनेक प्रकार का बन जाता है अर्थात् तीन गुण संयुक्त चौरासी लाख योनियों में घूमता रहता है। यही अनेकत्व का स्वरूप है। जिस प्रकार चक्र को चलाने वाला कुम्हार चक्र से भिन्न रहता है, वैसे ही इन तीनों गुणों को प्रेरणा देने वाला पुरुष, अर्थात् आत्मा इन गुणों से भिन्न है। जैसे लोहे के गोले को पीटने में उसमें रहने वाली अग्नि को नहीं पीटा जाता, वैसे ही शुद्ध आत्मा को कुछ विकार नहीं होता, परन्तु भूतात्मा के संसर्ग का दोष ही उसे लगता है ॥ ३ ॥ फिर अन्य स्थान में यह भी कहा गया है कि स्त्री-पुरुष के

संयोग से यह शरीर उत्पन्न होता है, वह चेतना रहित है और मानो नरक ही है । मूत्र के द्वार में से निकलने वाला यह शरीर हड्डियों से गठित किया गया है, मांस से लिपा हुआ है, चमड़े से मढ़ा है, मल मूत्र पित्त, कफ आदि से भरपूर है, इसके सिवा अन्य बहुत तरह के मलों से भी युक्त है । वह मानो सब खराब वस्तुओं का खजाना हो, ऐसा लगता है।४।

फिर अन्य स्थान में भी कहा गया है कि मोह, दुःख, क्रोध, बुढ़ापा, भूख, प्यास, दीनता, नास्तिकता, अज्ञान, मत्सरता, निर्दयता, मूढ़ता, निर्लज्जता, कृतघ्नता, उद्धतता और विषमता आदि अनेक तमोगुण के विकारों से यह भरा हुआ है । इसके अतिरिक्त तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ, हिंसा, खेल, दृष्टिव्यापार, ईर्ष्या, स्वेच्छापूर्ण व्यवहार, चचलता, किसी की वस्तु के लेने की इच्छा, धन कमाने की इच्छा, मित्रों का संग्रह, परिग्रह का आश्रय, इन्द्रियों के अप्रिय विषयों से द्वेष और प्रिय विषयों से आसक्ति इत्यादि रजोगुण के विकार भी उसमें बहुत से पाते जाते हैं । इन सबके द्वारा यह भूतात्मा पराभव पाता है और इससे अनेक रूपों को प्राप्त होता है ।।५।।

।। तीसरा प्रपाठक समाप्त ।।

चतुर्थ प्रपाठक

ते ह खलु वावोर्ध्वरेतसोऽतिविस्मिता अभिसमेत्योचर्भगवन्नमस्तेऽस्त्वनुशाधि त्वमस्माकं गतिरन्या न विद्यता इति । अस्य को विधिर्भूतात्मनो येनेदं हित्वात्मन्येव सायुज्यमुपैति ता न्होवाचेति ।।२

अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषुर्मय इव निवर्तकमस्य यत् पुराकृतं समुद्रवेलेव दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागमनं सदसत्फलमयैर्हि पाशै पशुरिव बद्धं बन्धनस्थ इवास्वमन्त्र यमविषयस्य इव बहुभ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विपदृष्टं महान्धकार इव रागान्धमिन्द्रजाल इव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासार-

नट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनो रममित्यथोक्तम् ॥

शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः।
येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥२

अयं वाव खल्वस्य प्रतिविधिर्भूतात्मनो यदेवविद्याऽधिगमं स्वधर्मस्यानुचरण स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमण स्वधर्म एव सर्वं धत्ते स्तम्भशाखेवेतराण्यनेनोर्ध्वंभाग्भवत्यन्यथाऽधः पतत्येष स्वधर्मोऽभिहितो यो वेदेषु न स्वधर्मातिक्रमेणाश्रमी भवत्याश्रमेष्वेवात्रस्थितस्तपस्वी चेत्युच्यतं एतदप्युक्त नातपस्कस्यात्मज्ञानेऽधिगमः कर्मशुद्धिर्वेत्येवं ह्याह ॥

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात् संप्राप्यते तनः।
मनसा प्राप्यते त्वामा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥३

यह सुनकर वे ब्रह्मचारी वालखिल्ल बहुत विस्मित होकर, अति समीप जाकर बोले-'भगवन् ! आपको नमस्कार हो। तुम्हीं हमको शरण देने वाले हो, अन्य कोई हमारा शरणस्थल नहीं है। इसलिये हमको समझाओ कि इस भूतात्मा का अतिथि कौन है कि जिसके लिये यह सब को छोड़कर आत्मा में ही सायुज्य पाता है ?" ब्रह्मा ने उत्तर दिया।१। फिर अन्य स्थान में कहा गया है कि जिस प्रकार बड़ी नदियों में तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार इस भूतात्मा में पूर्व के कर्म पाये जाते हैं और उनका फल इसे भोगना ही पड़ता है। फिर समुद्र का किनारा जिस प्रकार लहरों के अन्त होने के लिये जरूरी है, उसी प्रकार भूतात्मा के लिए मृत्यु भी जरूरी है। वह शुभाशुभ कर्मों के फलरूप बन्धनों में पशु की तरह जकड़ा हुआ है और बिल्कुल परतन्त्र बन गया है। मानो यम के राज्य में रहता हो। इस प्रकार यह भूतात्मा सदैव बहुत भयभीत रहता है। विषय-सुख रूप मदिरा को पीकर वह उन्मत्त बन जाता है पाप-रूपी भूत का आवेश हुआ हो, इस प्रकार वह जहाँ-तहाँ भटकता है।

विषधर साँप ने काटा हो इस प्रकार वह विपत्ति से दुःख पाता है। विषयों की इच्छारूप गहरे अन्धकार से वह अन्धा बन जाता है। मदारी के जादू की तरह वह माया से भरा है। स्वप्न की तरह मिथ्या दिखाई देता है। केला के गर्भ (भीतरी भाग) की तरह वह निस्सार है। नट की तरह वह क्षण में नये-नये वेश धारण करता है और चित्रयुक्त दीवार की तरह ऊपर से ही सुन्दर है। फिर यह भी कहा है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय असार हैं। उन्हें आसक्त हुए भूतात्मा को अपना सच्चा रूप याद नहीं आता ॥२॥

इसकी मुक्ति का उपाय इस प्रकार है—ज्ञान की प्राप्ति हो सके ऐसा धर्मयुक्त आचरण करना और अपने आश्रम-धर्मका पालन करना। क्योंकि स्वधर्म ही सब कुछ कर सकता है, अन्य कर्म तो स्तम्भ की शाखा के समान झूठे हैं। इसीलिये भूतात्मा इस स्वधर्म द्वारा ही उन्नति को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से तो वह नीचे ही पड़ता है। वेद में कहे गये स्वधर्म का त्याग करने वाला 'आश्रमी, नहीं' कहा जा सकता। जो अपने आश्रम-धर्म का पालन करता है वह तपस्वी है। यह भी कहा है कि जो तपस्वी नहीं है उसका ध्यान आत्मा में नहीं जमता और इसीलिये उसकी कर्म शुद्धि नहीं होती। तप द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, होने से मन वश में आता है, मन वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है, और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से छुटकारा मिल जाता है।

यहाँ निम्न श्लोक हैं

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१
स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥२

चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम् ।।३
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ।।४
समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत् को न मुच्येत बंधनात् ।।५

जिस प्रकार लकड़ी के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वय ही अपने स्थान में बुझ जाता है, उसी प्रकार वृत्तियों का नाश होने पर चित्त स्वयमेव ही अपने उत्पत्ति स्थान में शान्त हो जाता है ।।१।' अपने उत्पत्ति स्थान में शांत बना और ज्ञान प्राप्त किया हुआ चित्त जब सत्य की तरफ प्रेरित होता है, तब कर्म के वश रहने वाले इन्द्रियों के विषय उसे मिथ्या लगते हैं ।।२।। चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न करके चित्त को शुद्ध बनाना चाहिए, जैसे चित्त होता है वैसी ही गति प्राप्ति होती है, यह सनातन रहस्य है ।। ३ ।। चित्त शांत होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और शांत हुआ मनुष्य जब आत्मामें लीन होता है, तब उसे अविनाशी आनन्द प्राप्त होता है ।। ४ ।। मनुष्य का चित्त जितना विषयों में आसक्त होता है, उतना ही यदि वह ब्रह्म में आसक्त हो जाय, तो बंधन में से मुक्ति क्यों न प्राप्त हो ? ।। ५ ।।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्ध मेव च ।
अशुद्ध कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ।।६
लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।
यदा यात्यमनोभावं तदा तत् परमं पदम् ।।७
तावदेव नीरोद्धव्य हृदि यावत् क्षयं गतम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षश्च शेषास्तु ग्रन्थविस्तरः ।।८
समाविधूं तमलस्य चेतसो निवेशीतस्यात्मनि यतसुखं
लभेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेन
गृह्यते ॥९

अपामपोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत ।
एवमन्तर्गतं चित्तं पुरुषः प्रतिमुच्यते ॥१०
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥११-४

मन दो प्रकार का है— शुद्ध और अशुद्ध । कामनाओं की इच्छा वाला मन अशुद्ध है और कामनाओं से रहित मन शुद्ध है । जब मन लय, विक्षेप रहित और बिल्कुल स्थिर बन जाता है और उसका मन-पना निकल जाता है, तभी वह परमपद रूप हो जाता है । जहाँ तक मन का नाश न हो वहाँ तक ही उसका हृदय में निरोध करना है । बस यही ज्ञान और मोक्ष का सार है, बाकी तो ग्रन्थों में विस्तार किया गया है । समाधि द्वारा जिसका मल दूर हो गया है और जो आत्मा में संयुक्त हो गया है, ऐसा चित्त ही आनन्द प्राप्त कर सकता है । उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता । उसका तो केवल अन्तःकरण से अनुमान किया जा सकता है । जिस प्रकार पानी में पानी, अग्नि में अग्नि, आकाश में आकाश मिल जाने पर वह फिर पृथक् रूप में दिखाई नहीं पड़ सकता उसी प्रकार चित्त का लय हो जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है । मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है । विषयों में आसक्त बना हुआ मन ही बन्धन का कारण है, और विषय रहित मन मोक्ष का कारण है ॥९-११॥४॥

अथ यथेथं कौत्सायनिस्तुतिः—

त्वं च ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥१२
त्व मनुस्त्वं यमश्च त्वं पृथ्वी त्वमथाच्युतः ।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि ॥१३

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत् ।
विश्वभुग्विश्वमायस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः ॥१४
नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यमाय च ।
अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिघनाय चेति ॥१५॥५

कौत्सायन ऋषि के द्वारा की गई स्तुति

'तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र हो, तुम प्रजापति हो, तुम अग्नि, तुम वरुण हो, तुम वायु हो, तुम इन्द्र हो और तुम चन्द्रमा हो। तुम मनु हो, तुम यम हो, तुम पृथ्वी हो, तुम अच्युत हो, तुम ही अपने विषय रूप स्वाभिक अर्थ में हो और तुम्हीं स्वर्ग में अनेक प्रकार से रहते हो। हे सबके ईश्वर ! तुमको नमस्कार ! तुम ही सबके आत्मा, सब कर्म करने वाले, सबके भोक्ता, सब प्रकार की माया वाले, सर्वत्र क्रीड़ा करने में प्रेम रखने वाले और प्रभु हो। हे शांत-स्वरूप आपको नमस्कार हो ! अतिशय गुह्य, अचिन्त्य, प्रमाणों से न जान सकने योग्य तथा आदि-अन्त रहित आपको नमस्कार हो ॥१२-१५॥५॥

तमो वा इदमेकमास तत् पश्चात्त परेणेरितं विषयत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै तमसो रूपं तत्तमः खल्वोरितं तमसा संप्रास्रवत्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत् सत्त्वमेवेरितं सत्त्वात् संप्रास्रवत् सोऽशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुष क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अग्र्यस्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरि यो ह खलु वावास्य राजसोशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माऽथ य ह खलु वावास्य तामसोऽशोषो स योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोसो स एवम् विष्णु स वा एष एक स्त्रिधाभूतेऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा चोद्भूत नुद्भूतत्वाद्भूतेषु चरति प्रतिष्ठा सर्वभूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसावात्मान्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च ।३

सृष्टि के पहले यह केवल अंधकार (अथवा अज्ञान) रूप ही था। फिर परमात्मा से प्रेरणा पाकर इन्द्रियों के विषय रूप बना है। इसमें से यह वस्तु रजोगुण स्वरूप है, अर्थात् प्रेरणा पाया हुआ रजोगुण विषमता को प्राप्त हुआ है। उसी प्रकार यह तमोगुण का रूप है, मानो प्रेरणा पाया तमोगुण ही तमोगुण में से निकला है। और यह सत्वगुण है मानो प्रेरणा पाया सत्वगुण ही सत्वगुण में से स्रवित हुआ है। जो यह चेतन सत्ता प्रत्येक प्राणी में क्षेत्रज्ञ जीव रूप से उपस्थित है, वही परमात्मा का अंश है। वह संकल्प और निश्चयस्वरूप है, अहंकाररूप चिह्नयुक्त है और प्रजाओं का पति है। ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र को परमात्मा का सबसे बड़ा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। उस परमात्मा का रजोगुण का अंश ब्रह्मा है, तमोगुण का अंश रुद्र है और जो सतोगुण का अंश है, वह विष्णु है इस प्रकार वह एक ही परमात्मा तीन रूपों में, आठ रूपों में, ग्यारह रूपों में, बारह रूपों में और अगणित रूपों में प्रकट हुआ है। वह इसी प्रकार अनन्त होकर प्रत्येक भूत में स्थित है। वह सब प्राणियों का अधिपति है और वही भीतर तथा बाहर आत्मारूप में है। वही भीतर और बाहर है ॥६॥

॥ चतुर्थ प्रपाठक समाप्त ॥

पञ्चम प्रपाठक

द्विधा वा एष आत्मानं बिभर्त्ययं यः प्राणो यश्चासावादित्योऽथ द्वौ वा एतावस्तां पञ्चधा नामान्तर्बहिश्चाहोरात्रे तौ व्यावर्तेते असौ वा आदित्यो बहिरात्मान्तरात्मा प्राणो बहिरात्मा गत्यान्तरात्मनानुमीयते। गतिरित्येवं ह्याह यः कश्चिद्विद्वान॰ पहतपाप्माध्यक्षोऽवदातमनास्तन्निष्ठ आवृत्तचक्षुः सोऽन्तरात्मा-गत्या बहिरात्मनोनुमीयते गतिरित्येवं ह्याहाथ य एषोऽन्तरा-दित्ये हिरणमयः पुरुषो यः पश्यति मां हिरण्यवत्स एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति ॥१

'यह परमात्मा दो प्रकार की आत्माओं (स्वरूपों) को धारण करता है। यह जो प्राण है और जो सूर्य है, ये दोनों प्रथम हुए थे। वे भीतर और बाहर रात-दिन फिरा करते हैं। यह सूर्य बाहर का आत्मा है और प्राण अन्तरात्मा है। इसकी गति को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि यह अन्तरात्मा है। वेद कहते हैं कि यह गति रूप ही है। जिस विद्वान् के पाप नष्ट हो चुके हैं। वह सबका अध्यक्ष होता है। उसका मन शुद्ध होता है, उसकी निष्ठा परमात्मा में ही रहती है। उसका ज्ञानरूप चक्षु खुल जाता है और वह अन्तरात्मा में ही स्थित रहता है। वह गति द्वारा बाहर भी चला जाता है। आत्मा की गति का अनुमान किया जा सकता है, ऐसा वेद कहते हैं। अब जो सूर्य के भीतर सुवर्णमय पुरुष दिखाई देता है, जो हमको हिरण्य (प्रकाश) जैसा दिखाई देता है, वही हृदय कमल में स्थित है और वही अन्न को खाता है ॥१॥

अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्दिवि श्रितः सौरः कालाख्योऽदृश्यः सर्वभूतान्नमत्ति कः पुष्करः किमयं वेद वा वं तत्पुष्करं योऽयमाकाशोऽस्येमाश्चतस्रो दिशश्चतस्र उपदिशः संस्था अयमर्वागग्निः परतः एतौ प्राणा-दित्यावेतावुपासीतोमित्यक्षरेण व्याहृतिभिः सावित्र्या चेति ॥२

'अब जो हृदय-कमल में स्थित है और अन्न खाता है, वही इस सूर्य की अग्नि के रूप में आकाश में रहता है। वह 'काल' नाम वाला है, वह अदृश्य रहकर सर्व भूत रूपी अन्न का भक्षण करता है। यह कमल क्या है? और यह क्या जानता है? इसका उत्तर यह है कि यह जो आकाश है वही कमल है। (इसमें रहने वाला वह सब कुछ जानता है।) इन चार दिशाओं और चार उपदिशाओं में वह स्थित है। वह सबसे परे है। इस प्राण और आदित्य की ॐ अक्षर द्वारा व्याहृतियों द्वारा और गायत्री मन्त्र द्वारा उपासना करनी चाहिये ॥२॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ यन्मूर्तं बदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म यद्ब्रह्म तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः स वा एष ओमित्येतदात्मा स त्रेधात्मनं व्यकुरुत ओमिति तिस्रो मात्रा एताभिः सर्वमिदमोतं प्रोतं चेवास्मिन्नित्येवं ह्याहैतद्वा आदित्य ओमित्येवं ध्यायंस्तथात्मानं युंजीतेति ॥३

ब्रह्म के दो ही स्वरूप हैं—मूर्त और अमूर्त । उनमें से जो मूर्त है वह असत्य है और जो अमूर्त है वह सत्य है । वही ब्रह्म है । जो ब्रह्म है वही ज्योति है, जो ज्योति है वही आदित्य है । वही ॐ है, वही आत्मा है । उसने अपने स्वरूप को तीन प्रकार बनाया है । ॐ यह तीन मात्राओं के रूप में हैं । इन तीन मात्राओं से यह सब ओतप्रोत है । इसी में सब कुछ मौजूद है, ऐसा श्रुति में कहा गया है अथवा आदित्य ही ॐ है, ऐसा ध्यान करते हुए पुरुष को चाहिए कि वह आत्मा का उसके साथ संगठन करे ॥६॥

अथान्यत्राप्युक्तमथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो य प्रणवः स उद्गीथ इत्यासावदित्य उद्गीथ एव प्रणव इत्येवं ह्याहोद्गीथः प्रणवाख्यं प्रणेतारं नामरूपं विगतनिद्रं विजरमविमृत्युं पुनः पञ्चधाज्ञेयं निहितं गुहायामित्येवं ह्याहोर्ध्वमूलं वा आब्रह्मः शाखा आकाशवाय्वग्न्युदकभूम्यादय एकेनात्तमेत्तद्ब्रह्म तत्तस्यैतत्ते यदसावादित्य ओमित्येतदक्षरस्य चैतत्तस्मादोमिष्यनेनैतदुपासीताजस्रमित्येकोऽस्य रसं बोधयीस्यं इत्येवं ह्याहैतयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

फिर अन्य स्थान पर भी कहा गया है कि यह जो (सामवेद का एक भाग) उद्गीथ है वहीं प्रणव (ॐ) है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। जो प्रणव नाम वाला तत्व है वही सब को उत्पन्न करने वाला है । वह नाम तथा रूप है, निद्रा रहित है, वृद्धावस्था रहित है,मृत्यु रहित है। फिर उसको पाँच प्रकार का जानना चाहिए । वह हृदयरूपी गुफा में

रहता है, ऐसा श्रुति ही कहती है। इसका मूल ऊपर है और शाखाऐं ब्रह्म तक हैं। वे शाखायें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि हैं। इस एक ही तत्व द्वारा यह सब कुछ ग्रहण किया जा सकता है। यही ब्रह्म है। यह सब जगत् उसका स्वरूप ही है। यह जो सूर्य है वह इस ॐ अक्षर का ही स्वरूप है। इसलिए ॐ अक्षर से ही उसकी सदैव प्रार्थना करनी चाहिये। इसी से एकमात्र उसके रस को समझा जा सकता है। इस प्रकार श्रुति कहती है। यही पवित्र अक्षर है। इसी अक्षर को जानकर मनुष्य जिसकी इच्छा करे, वह उसे प्राप्त हो जाता है ।।४।।

अथान्यत्राप्युक्तं स्तनयत्येषास्य तनूर्या ओमिति स्त्रीपुंनपुंसकमिति लिङ्गवत्येषाथाग्निर्वायुरादित्य इति भास्वत्येषाथ रुद्रो विष्णुरित्यधिपतिरित्येषाथ गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीय इति मुखवत्येषासृग्यजुः सामेति विज्ञानात्येषाथ भुभुंवः स्वरिति लोकवत्येषाथ भूतं भव्यं भविष्यदिति कालवत्येषाथ प्राणोऽग्निः सूर्य इति प्रतापत्येषाथान्नामापश्चन्द्रमा इत्याप्यायनवत्येषाथ बुद्धिर्मनोऽहंकार इति चेतनवत्येषाथ प्राणोऽपानो व्यान इति प्राणवत्येचे त्यजामीत्युक्तैताह प्रस्तोतार्पिता भवतीत्येव ह्याहैतद्वै सत्यकाम परं चापरं च यदोनित्येतदक्षरमिति ।।५

फिर, अन्य स्थान पर कहा गया है कि ब्रह्म का यह शरीर शब्द करता है, उसे ॐ कहते हैं। यह स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग वाला है, अग्नि, वायु और सूर्य के रूप में यह प्रकाश वाला है, रुद्र और विष्णु के रूप में अधिपति है, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ये उसके तीन मुख हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को वह जानता है भूः भवः और स्वर्ग—ये तीन उसके लोक हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान ये उसके काल हैं, प्राण, अग्नि और आदित्य उसके प्रताप हैं, अन्न, जल और चन्द्रमा उसके पोषण है, बुद्धि मन और अहंकार उसके चेतन हैं और प्राण, अपान तथा व्यान उसके प्राण हैं, ऐसा कितने ही कहते

है। 'मैं तजता हूँ' ऐसा वह कहा गया है। वह स्तुति करने वाला और अर्पित करने वाला होता है, श्रुति ऐसा कहते हैं। सत्य काम, यहीं पर और अपर ब्रह्म है, यह ॐ ऐसा अक्षर है ॥५॥

अथ व्यात्तं वा इदमासीत्सत्यं प्रजापतिस्तपस्तप्त्वा अनुव्याहरद्भूर्भुवः स्वरित्येषा ह्यथ प्रजापतेः स्थविष्ठा तनूर्या लोकवतीति स्वरित्यस्याः शिरो नाभिर्भुवो भूः पादा आदित्य-श्चक्षुरायत्तः पुरुषस्य महतो मात्राश्चक्षुषा ह्ययं मात्राश्चरति सत्यं वै चक्षूरक्षिण्युपस्थितो हि पुरुषः सर्वार्थेषु वदत्येतस्माद्भूर्भुवः स्वरित्युपासीतान्नं हि प्रजापतिर्विश्वात्मा विश्वचक्षुरि-वोपासितो भवतीत्येवं ह्याहैषा वै प्रजापतिर्विश्वभृत्तनूरेतस्या मिदं सर्वमन्तर्हितमस्मिँश्च सर्वस्मिन्नेषान्तर्हितेति तस्मादेषोपासीतेति ॥६॥ तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सवितः स वा एव प्रवरणाय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै तेऽवस्थिता योऽस्य भर्गः कं संचिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्म-वादिनोऽथ धियो यो नः प्रचोदयादिति बुद्धयो धियस्ता योऽस्माकं प्रचोयादित्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्ग इति तो ह वा अस्मिन्नादित्ये निहितस्तारकेऽक्षिणि चैव भर्गाख्यो भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गोभर्जति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ भग इति गच्छत्यस्मिन्नागच्छत्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भारगद्भर्गः शश्व-न्सुयमानत्वात्सूर्यः सवनात्सविता दानादादित्यः पवनात्पावमानोऽ-थायोऽथायादित्य इत्येवं ह्याह खल्वात्मनात्मामृताख्यश्चेता मन्ता गन्ता स्रष्टानन्दयिता कर्ता वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता स्पर्शयिता च विभुर्विग्रहे सन्निष्ठा इत्येवंह्याहाथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रतीतिरसयते चैव स्पर्शयति सर्वमात्मा जानोतेति यत्राद्वैतीभूतं विज्ञान कार्यकारणनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं कि तदाद-वाच्यम् ॥७

'अब इसने जो विस्तार किया, यह सत्य है। प्रजापति ने तप करके भूःभुवः और स्वः ऐसा कहा है। यह प्रजापति का स्थूल शरीर है। यह लोकों द्वारा बना है। स्वः उसका मस्तक है, भुवर नाभि है, भूः पैर हैं, आदित्य चक्षु हैं। यह उसके आधीन है। महापुरुषों की ये मात्राएं (अंश) हैं। यह पुरुष चक्षु द्वारा इन मात्राओं में जाता है। सत्य ही चक्षु है। नेत्र में रहने वाला पुरुष ही सब पदार्थों के विषय में बतलाता है। इसलिये भूर्, भुवर् और स्वर—इस विधि से उपासना करनी चाहिये। अन्न ही प्रजापति है। सबका आत्मा और सबका चक्षु की तरह वह उपास्य है, ऐसा वेद कहते हैं। यह प्रजापति जगत को धारण करने वाला शरीर है, इसमें यह सब स्थित है और वह इन सब में स्थित है, इसलिये इसकी उपासना करनी चाहिए ॥६॥

यह सूर्य का श्रेष्ठ तेज है, अथवा यही आदित्य है और यही सविता) अर्थात् सबको उत्पन्न करने वाला) है, इस प्रकार समझ कर आत्मा की इच्छा रखने वाले को, उसी को स्वीकार करने को तत्पर रहना चाहिये, ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं।

अब इस सूयदेव के 'भर्ग' का हम ध्यान करते हैं, क्योंकि वह हमारे सम्मुख उपस्थित रहता है। उनका जो 'भर्ग' है वह वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। ब्रह्मवादी प्रश्न करते हैं कि हम किसका चिन्तन करें ?" इसका उत्तर है कि "सम उसका चिन्तन करें जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है। बुद्धि को धी कहते हैं। जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है—सन्मार्ग पर चलाता है" ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं।

अब 'भर्ग' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'भर्ग' वही है जो सूर्य में स्थापित किया गया है। आंख की पुतली में भी 'भर्ग' के नाम से यही रहता है। इसकी कान्ति से ही गति कर सकता

है, इसलिये यह 'भर्ग' है अथवा यह सबको तपाता है इससे भर्ग है, अथवा इन प्राणियों का रञ्जन करता है इसलिये 'भर्ग' है अथवा यह प्राणियों में जाता है इसलिये 'भर्ग' है, अथवा इस जगत में यह आता है और जाता है अथवा इसी के लिये प्रजा है, अथवा यह सबका धारण पोषण करता है इसलिए 'भर्ग' है। फिर, यह शत्रुओं का नाश करता है इसलिए 'सूर्य' है, सबको उत्पन्न करने वाला है इसलिए सविता है, सबको प्रकाश देता है इससे 'आदित्य' है सबको पवित्र करता है, इससे पवमान है, अथवा यह सबकी तरफ जाता है और सबका अयन अर्थात् आश्रय स्थान है इसलिए उसको 'आदित्य' कहते हैं। यह स्वयं ही आत्मा है। इसका नाम अमृत है, वह सबको जानता है, विचार करता है, गति करता है, सृजन करता है, आनन्द प्रदान करता है, कहता है, स्वाद लेता है, सूँघता है, स्पर्श करता है, शरीर में व्याप्त रहता है, उत्तम स्थान रूप है, ऐसा वेद कहते हैं। जहाँ विज्ञान—द्वैतरूप होता है, वहीं सुनता है, देखता है, सूँघता है, स्वाद लेता है और स्पर्श करता है। पर यह सब आत्मा ही है ऐसा तुम निश्चय रखो। इसलिए जहाँ विज्ञान अद्वैत हो जाता है वहाँ वह कार्य और कारण से रहित, अवर्णनीय, उपमा रहित और व्याख्या रहित हो जाता है। उसके विषय में क्या कहा जा सकता है? ॥७॥

एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड्ढिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निना पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनाण्डेनैष वाव विजिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वारण्यं गत्वाथ बहिः कृतेन्द्रियार्थान्स्वशरीरादुपलभतेऽथैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

हे भाई ! यही आत्मा है, यही सबका नियन्ता, ईश्वर, शङ्कर, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्व सृष्टा, हिरण्यगर्भ सत्य, प्राण, हंस, शान्त, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट, इन्द्र और चन्द्र है। जो इस अग्नि के रूप में तपता है और हजारों के नेत्र रूप में प्रकाशमय आनन्द से व्याप्त है, वही जानने योग्य है। सब प्राणियों को अभयदान देकर जङ्गल में जाकर उसी की खोज करना चाहिये। जो इन्द्रियों के विषयों का बहिष्कार करते हैं उनको अपने शरीर में से ही वह प्राप्त हो जाता है। वही विश्वस्वरूप, उज्ज्वल अथवा तेजस्वी है, जन्म लेने वालों का ज्ञाता है, सबका परम आश्रयस्थान है और केवल ज्योति रूप से तपता है। यह सूर्य (परमात्मा) हजारों किरणों वाला, सैकड़ों प्रकार से वर्तमान और प्रजाओं का प्राण रूप होकर उदय होता है।

॥ पञ्चम प्रपाठक समाप्त ॥

॥ मैत्रायणी उपनिषद् समाप्त ॥

(१६) शिवसंकल्पोपनिषत्

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु । ३
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।५
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६

हे ईश्वर ! जो मन जागता हुआ तथा सोता हुआ भी बहुत दूर-दूर तक जाया करता है तथा जो सभी इन्द्रियों में इसी प्रकार चमकता है ऐसा प्रभावशाली है जैसे कि सारे आकाश में स्थित तारों आदि में सूर्य ! उस हमारे मन को कृपाकर शुभ संकल्पों से युक्त करदे ॥ १ ॥ हे ईश्वर ! जिस मन के द्वारा कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, यज्ञ करने वाले तथा मुनिजन (विद्वान्) शुभ कर्म किया करते हैं, साथ ही जो सभी इन्द्रियों के संचार का कर्त्ता हैं, उन्हें चलाता है, उस इस हमारे मन को अच्छे संकल्पों वाला बनादे ॥ २ ॥ हे प्रभो ! जो मन उच्चकोटि के सच्चे ज्ञान का साधनभूत है, जो स्मरण शक्ति से युक्त है, जो दिये की तरह अपने आप ही प्रकाशित रहा करता है तथा

प्रत्येक चीज को प्रकाशित करता है साथ ही कोई भी काम जिसके बिना नहीं हो सकता उस इस हमारे मन को अच्छे सङ्कल्पों वाला बनादे ।।३।। जिस मन से भूत, भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञान होता है, साथ ही जो याज्ञिक ब्रह्मा की तरह शरीर में स्थित सभी इन्द्रियों द्वारा आत्मा से इस शरीर यज्ञ को चलाता है, उस इस हमारे मन को हे भगवन् ! शुभ इच्छा युक्त करो ।।४।। हे प्रभो ! जो मन ऋक् साम तथा यजुर्वेद के मध्य इन्हें स्मरण करके ऐसे स्थित हो जाता है जैसे रथ के पहियों में अरे (बीच के छोटे-छोटे डण्डे) ऐसे इस मन को शुभ इच्छायुक्त करो ।।५।। जैसे कि अच्छा सारथि बलवान् व वेगयुक्त घोड़ों को वश में करके चलता है ठीक ऐसे ही जो मन विचार युक्त मनुष्यों एव विद्वानों का प्रदर्शन कराता है, जो हृदय में स्थित है, जो बुढ़ापे से रहित है तथा जो कि बड़ा शक्तिशाली है ऐसे इस मन को हे प्रभो ! अच्छे संकल्पों वाला बनादो ।।६।।

।। शिव संकल्पोपनिषद् समाप्त ।।

(१७) आश्रमोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्तिः नः पूषा विश्ववेदाः स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे पूज्य देवो! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया दे उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सबको जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें—जिसकी गति रोकी न जा सके, ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें। ॐ शांतिः शांतिः शांति॥

हरि ॐ। अथातश्चत्वार आश्रमाः षोडशभेदा भवन्ति तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो ब्राह्मणः प्राजापत्यो बृहन्निति। य उपनयनादूर्ध्वं त्रिरात्रमक्षारलवणाशी गायत्रीमंत्रो स गायत्रः। योऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत्प्रतिवेदं द्वादश वा यावद्ग्रहणान्तं वा वेदस्य स ब्राह्मणः। स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः। अथवा चतुर्विंशतिवर्षाणि गुरुकुलवासी ब्राह्मणोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षवासी च प्राजापत्यः। आ प्राणायद्गुरोरपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति॥१

हरि ॐ॥ चार आश्रम होते हैं, जिनके कि सोलह भेद हो जाया करते हैं। ब्रह्मचारी चार तरह के होते हैं गायत्र, ब्राह्मण, प्रजा-

पात्य, तथा बृहन्। जो कि यज्ञोपवीत होने पर तीन रात तक नमक रहित भोजन खाकर गायत्री जप करता है वह गायत्र कहा जाता है। जो अड़तालीस वर्ष तक वेद पठन हेतु ब्रह्मचर्य करता है अथवा प्रत्येक वेद में में बारह वर्ष लगाता है वह, अथवा जब तक वेद का भलीभांति ज्ञान न हो जाय तब तक ब्रह्म यानी वेद उसके लिये चर्य यानी नियमादि पालन करता है वह ब्राह्मण कहाता है। अपनी स्त्री में रत, ऋतुकाल के समय ही सम्भोग करने वाला, सदा दूसरे की स्त्रियो का त्याग करने वाला प्राजापत्य कहलाता है। अथवा जो चौबीस वर्ष तक गुरुकुल में रहे वह ब्राह्मण और अड़तालीस वर्ष तक जो रहे वह प्रजापात्य कहाता है। मृत्यु पर्यन्त जो गुरु को न छोड़े ऐसा नैष्ठिक ब्रह्मचारी बृहन् कहलाता है ॥ १ ॥

गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति-वार्ताकबृत्तयः शालीनबृत्तयो यायावरा घोरसन्यासिकाश्चेति। तत्र वार्ताकवृत्तयः कृषिगोरक्ष वाणिज्यमगर्हितमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। शालीनवृत्तयो यजन्तो न याजयन्तोऽधीनाया नाध्यापयन्तो ददवो न प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिराद्भः कार्यं कुर्वन्ता प्रतिदिवसमाहृतोञ्छवृत्तिमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मनं प्रार्थयन्ते ॥२

गृहस्थ भी चार तरह के होते हैं—वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर व घोर सन्यासिक। इनमें से वार्ताक वाले वह हैं जो कि खेती, पशुपालन व व्यापार, जो कि निन्दित न हो (न्याययुक्त हो) इनको करते हुए सैंकड़ों वर्षों यज्ञ करते हुए (जीवन यज्ञ) आत्मा की प्रार्थना करते हैं—उपासते हैं। शालीनवृत्ति वह होते हैं जो स्वयं तो यज्ञ करते

हैं किन्तु करवाते नहीं। पढ़ते हैं किन्तु पढ़ाते नहीं। दान देते हैं किन्तु लेते नहीं। इस प्रकार सौ वर्ष तक यज्ञ करते हुए आत्मा की प्रार्थना करते हैं। यायावर वह होते हैं जो कि यज्ञ करते हैं तथा कराते भी हैं, पढ़ते तथा पढ़ाते हैं, दान देते तथा लेते हैं, इस प्रकार सौ वर्ष तक यज्ञ करते हुए आत्मा की प्रार्थना करते हैं। घोर संन्यासिक तपस्या में निरत रहकर सौ वर्ष यज्ञादि करते हुए आत्मा की प्रार्थना और उपासना करते हैं।

वानप्रस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वैखानसा उदुम्बरा बालखिल्याः फेनपाश्चेति। तत्र वैखानसा अकृष्टपच्यौषधिवनस्पतिभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। उदुम्बराः प्रातरुत्थाय यां दिशमभिप्रेक्षन्ते तदाहृतोदुम्बरबदरनीवारश्यामाकैरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। बालखिल्या जटाधराश्चीरचर्मवल्कलपरिवृताः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्पफलमुत्सृजन्तः शेषानष्टौ मासान् वृत्त्युपार्जनं कृत्वाऽग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। फेनपा उन्मत्तकाः शीर्णपर्णफलभोजिनो यत्र यत्र वसन्तोऽग्निपरिचरणं कृत्वा पंचमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते ॥३

वानप्रस्थ भी चार तरह के होते हैं—वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य तथा फेनप। इनमें से वैखानस स्वयं उत्पन्न तथा पके औषध एवं बनस्पतियों से जो कि ग्रामीणों द्वारा उपेक्षित हैं (उनमें) अग्नि का परिचरणकर पञ्च महायज्ञों को करते हुए आत्मा की प्रार्थना करते हैं। उदम्बुर प्रातःकाल उठकर किसी दिशा में जाकर गूलर, बेर, नीवार आदि का संग्रह करके अग्निहोत्र करके पञ्च महायज्ञों को करते हुए आत्मा की प्रार्थना करते हैं। बालखिल्य वह हैं जो कि जटा, फटे वस्त्र,

वृक्षों की छालों को धारण करने वाले, कार्तिकी पौर्णमासी को पुष्प फल छोड़ते हुए शेष आठ मास वृत्ति का उपार्जन करके अग्नि-परिचरण, पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए आत्मा की प्रार्थना करते हैं। फेनप वह होते हैं जो कि विक्षिप्त से रूखे-सूखे पत्ते व फल खाने वाले जहाँ कहीं ठौर (स्थान) मिला वहीं पड़े रहने वाले, अग्नि का परिचरण करके पंच महायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हैं ॥३॥

परिव्राजका अपि चतुर्विधा भवन्ति—कुटीचरा बहूदका-हंसाः परमहंसाश्चेति। तत्र कुटीचरा स्वपुत्रगृहेषु भिक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। बहूदकास्त्रिदण्डकमण्डलुशिक्यपक्ष जलपवित्र पात्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनकाषायवेषधारिणः साधुवृत्तेषु ब्राह्मणकुलेषु भैक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। हंसा एकदण्डधराः शिखावर्जिता यज्ञोपवीतधारिणः शिक्य कमण्डलुहस्ता ग्रामैकरात्रवासिनो नगरे तीर्थेषु पंचरात्रं वसन्त एकरात्रद्विरात्रकृच्छ्रचान्द्रायणादि चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। परमहंसा नदण्डधरा मुण्डाः कन्थाकौपीनवाससोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्तचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डकमण्डलुशिक्य-पक्षजलपवित्रपात्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतानां त्यागिनः शून्या-गारदेवगृहवासिनो न तेषां धर्मो नाधर्मो न चानृतं सर्वसहाः सर्वसमाः समलोष्टाश्मकांचना यथोपपन्नचातुर्वर्ण्यभैक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं मोक्षयन्त आत्मानं मोक्षयन्त इति ॥ ४ ॥

ॐ तत्सदित्युपनिषत् ॥

संन्यासी भी चार तरह के होते हैं—कुटीचर, बहूदक, हंस तथा परमहंस। इनमें से कुटीचर तो अपने पुत्र आदि के घरों से भिक्षा लेते हुए आत्म चिन्तन करते हैं। बहूदक, त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्य पक्ष, जलपवित्र-पात्र, पादुका, आसन, शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन तथा काषाय वेष को धारण करने वाले, सच्चरित्र ब्राह्मणों के घरों से भिक्षा लेते

हुए आत्मध्यान रत रहते हैं। हंस, एकदण्ड धारी, शिखाहीन, यज्ञोप-वीती (जनेऊ वाले) शिक्यकमण्डलुधारी गांव में केवल एक रात ठहरने वाले, शहर व तीर्थों में पांच रात टिकने वाले, एक, दो या तीन रात कृच्छ्र चान्द्रायण आदि करने वाले, आत्मतत्व चिन्तन में लगे रहते हैं। परमहंस, दण्डहीन, मुण्डित, कन्था व कौपीनधारी, अव्यक्त (अप्रकट) लिङ्ग (चिह्न) वाले, गुप्त आचरण वाले, धीर शांत, मूर्ख न होने पर भी मूर्खों से प्रतीत होने वाले, त्रिदण्ड कमण्डलु, शिक्य पक्ष, जलपवित्र पात्र, पादुका, आसन शिखा व यज्ञोपवीत का त्याग करने वाले उजड़े घर, अथवा मन्दिरों में रहने वाले होते हैं। उनके लिये धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य कुछ नहीं, वे सब सहने वाले सबको समान देखने वाले, मिट्टी के ढेले, पत्थर व सोने को समान देखने वाले यथालब्ध (प्राप्त) चारों वर्णों से भिक्षा लेने वाले, आत्मा को बन्धन से मुक्त करने वाले, अर्थात् मोक्ष के साधक होते हैं ॥ ४ ॥

॥ आश्रमोपनिषत् समाप्त ॥

(१८) द्वयोपनिषत्

ॐ अथातः श्रीमद्द्वयोत्पत्ति । वाक्यो द्वितीयः । षट्-पदाण्यष्टादश । पञ्चविंशत्यक्षराणि । पंचदशाक्षरं पूर्वम् । दशाक्षरं परम । पूर्वो नारायणः प्रोक्तोऽनादिसिद्धो मन्त्ररत्नः सदाचार्य मूल। ।

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।
मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदामन्त्राश्रयः शुचिः ॥१
गुरुभक्तिसमायुक्त। पुराणज्ञो विशेषवित् ।
एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥२
आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि ।
स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते ॥३
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥४
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।
गुरुरेव परं विद्या गुरुरेव परं धनम् ॥५
गुरुरेव परः कामः गुरुरेव परायणः ।
यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ॥६

यस्सकृदुच्चारणः संसारविमोचनो भवतिः । सर्वपुरुषार्थ-सिद्धिर्भवति । न च पुनरावर्तते न च पुनरार्तवत इति । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥७

अब श्रीमद्द्वय की उत्पत्ति बताई जाती है उसकी प्रधानता बताई जाती है) दूसरा वाक्य है। षटपद अठारह हैं। पच्चीस इसमें अक्षर हैं। पन्द्रह पहले दस बाद में। सदाचार का आदि कारण मन्त्र रत्न स्वरूप

अनादि सिद्ध भगवान नारायण पहले ही निरूपित है सिद्ध है। जो शास्त्रज्ञ आचार सम्पन्न देवज्ञ वैष्णव तथा डाह ईर्ष्या से रहित, मन्त्रों का ज्ञाता, मन्त्रों में श्रद्धा रखने वाला, अच्छे मन्त्रों का आश्रय लेने वाला तथा पवित्र हो।१। गुरु में भक्ति रखने वाला, पुराणों को जानने वाला विशेषज्ञ हो। इन सब गुणों से जो विभूषित है उसे गुरु कहा जाता है।२। शास्त्रों के अर्थों को भलीभाँति चुनने (समझने) के कारण तथा सदाचार की स्थापना करने के कारण एवं उसका अपने आप भी आचरण करने के कारण ही आचार्य पद प्राप्त हो सकता है अर्थात् जो ऐसा करता है वह इसी कारण आचार्य कहलाता है ॥३॥ गुरु शब्द के अन्दर जो 'गु' अक्षर है उसका अर्थ है अन्धकार, 'रु' अक्षर का अर्थ है उसे रोकने वाला, अतः अज्ञान रूपी अन्धकार को रोकने के कारण ही गुरु को 'गुरु' कहा जाता है ॥४॥ गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परमगति है, गुरु ही उत्तम विद्या है एवं गुरु ही वस्तुतः सर्वोत्तम धन है ॥५॥ गुरु ही वस्तुतः सर्वो इच्छित वस्तु है। गुरु ही परम आश्रय का स्थान है। क्योंकि वह उस परम ज्ञान का उपदेश करने वाला है। इसी कारण गुरु महान् अन्धकार का नाशक है ॥६॥ जो इसका एक बार भी मुँह से उच्चारण करता है वह ससार से सर्वथा मुक्त हो जाता है। उसे सभी धर्म, अर्थ, काम मोक्ष नामक पुरुषार्थों की प्राप्ति होजाती है। वह फिर कदापि कभी भी इस संसार में नहीं आया करता, यह निश्चित सिद्धांत है, एक दम सत्य बात है। जो इसे ठीक प्रकार समझता है इस पर श्रद्धा करता है उसे ही ये लाभ प्राप्त होते हैं ॥७॥

॥ द्वयोपनिषत् समाप्त ॥

(१८) वज्रसूचिकोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोतमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते तयि सन्तु ते मयि ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

ॐ। मेरे अङ्ग, वाणी, प्राण, आँख, कान, बल और सब इन्द्रियाँ पुष्ट बनें। यह सब उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म से अपने को दूर न करूँ और ब्रह्म मुझे अपने से दूर न करे। ब्रह्म मुझसे दूर न हो और मैं ब्रह्म से दूर न हूँ। आत्मा से प्रीति रखने वाले मनुष्य के लिये जो धर्म उपनिषदों में बतलाये गये हैं वे मेरे भीतर हों—मेरे भीतर हों। ॐ शांतिः, शांतिः, शांतिः।

वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।
दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम् ॥१

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति ॥२

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वात् एकस्यापि तमवशादनेकदेहसंभवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति ॥३

है। ज्ञानहीन के लिए दूषण रूप प्रतीत होगा और ज्ञान-नेत्र रखने वाले को भूषण स्वरूप है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चार वर्ण कहे गये हैं जिनमें ब्राह्मण प्रधान है, ऐसा वेद का वचन है और स्मृतियों में भी यही कहा गया है। यहाँ प्रश्न यह है कि ब्राह्मण कौन है ? क्या वह जीव है, अथवा देह है अथवा जाति है अथवा ज्ञान है, अथवा कर्म है अथवा वह धार्मिकता है ॥१-२॥

इसमें अगर सबसे पहले जीव को ब्राह्मण कहा जाय तो यह नहीं हो सकता। भूत और भविष्यकाल में अनेक शरीरों में जो जीव हुए हैं अथवा होंगे वे सब एक से ही हैं। जीव एक है और कर्मों के अनुसार अनेक देहों में उसका जन्म होता है, सब शरीरों में जीव में एकता रहती है। इसलिए जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥३॥

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वात् जरामरणधर्मा-धर्मादिसाम्यदर्शनात्। ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्य पीतवर्णः शूद्र कृष्णवर्णइति नियमाभावात् पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषसंभावाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥४

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न तत्र जात्यन्तरजन्तुष्व-नेकजातिसंभवात्। महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्यः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीकोः वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्, शशपृष्ठात् गौतमः वसिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति शृतत्वात। एतेषां जात्या विनाऽप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति ॥५

तब क्या देह ब्राह्मण है ? यह भी नहीं हो सकता। चाण्डाल से लेकर समस्त मनुष्यों के शरीर एक से पञ्चभौतिक होते हैं, उनमें

वृद्धावस्था, मरण, धर्म अधर्म एक से ही होते हैं। ब्राह्मण गोरा, क्षत्रिय लाल, वैश्य पीला और शूद्र काला ही हो ऐसा कोई नियम देखने में नहीं आता। और न पिता, भाई आदि के शरीर की दाह क्रिया करने से पुत्र आदि को ब्रह्महत्या आदि का दोष लगता है। इसलिए देह ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ तब क्या जाति ब्राह्मण है ? यह भी नहीं हो सकता क्योंकि भिन्न जाति वाले प्राणियों से भी अनेक महर्षियों की उत्पत्ति कही गई है, जैसे मृगी से शृङ्गी ऋषि, कुश से कौशिक, जम्बुक से जाम्बुक, बाँबी से बाल्मीक, मल्लाह की कन्या से व्यास, शशक की पीठ से गौतम, उर्वशी वैश्या से वशिष्ठ, कलश से अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति कही जाती है. इस प्रकार के ऋषि बिना जाति के ही पूर्व में ज्ञानी हुए हैं, इसलिये जाति को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता ॥ ५ ॥

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न । क्षत्रियादयोऽपि परमार्थ दर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति । तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति ॥६

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेतन्न । सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्ध-संचितागामिकर्मसाधर्म्यदर्शनात् कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति । तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति ॥७

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेतन्न । क्षत्रियादयो हिरण्यः दात्तारो बहव सन्ति । तस्मान्न धर्मिको ब्राह्मण इति ॥८

तर्हिं को वा ब्राह्मणो नाम । यः कश्चिदात्मनमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वं दोषरहितं सत्य ज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेष कल्पाधारमशेष भूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्वहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्द स्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामल-कवत साक्षादपरोक्षीयकृत कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादि संपन्नो भावमात्सर्यतृष्णाऽऽशामोहादिरहितो दम्भा-

हंकारादिभिरसंस्पृष्ठकेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव। सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत्॥

तब क्या ज्ञान ब्राह्मण ? यह भी नहीं कहा जा सकता। बहुत क्षत्रिय भी परमार्थ के ज्ञाता और ज्ञानी हुए हैं। इसलिए ज्ञान से ब्राह्मण होना नहीं कहा जा सकता॥ ६॥ तब क्या कर्म ब्राह्मण होता है? यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी प्राणियों के प्रारब्ध, संचित और आगामी कर्मों में एकसापन दिखाई देता है और कर्म से प्रेरित होकर ही जीव क्रिया करता है। इसलिए कर्म ब्राह्मण नहीं हो सकता॥७॥ तब क्या धार्मिकता से ब्राह्मण होता है? यह भी नहीं, क्यों कि बहुत से क्षत्रिय आदि सुवर्ण का दान करते रहते हैं, इसलिए धार्मिक व्यक्ति ही ब्राह्मण नहीं हो सकते॥ ८॥ तब ब्राह्मण किसको कहा जाय? जो आत्मा के द्वैत भाव से रहित हो, जाति, गुण और क्रिया से रहित हो, छः ऊर्मी और छः भावों आदि सब प्रकार के दोषों से रहित हो, सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त स्वरूप, स्वयं निर्विकल्प रहने वाला, अशेष कल्पों का आधाररूप, सब भूतों का अन्तर्यामी, भीतर और बाहर आकाश के समान व्याप्त, अखण्ड आनन्द वाला, अप्रमेय, अनुभव से ही जानने योग्य, अपरोक्ष भासने वाले आत्मा का करतलगत आमले की तरह साक्षात्कार करने वाला, कृतार्थ होकर काम, राग आदि दोषों से रहित, शम, दम आदि से युक्त, मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदि से रहित, दम्भ अहंकार आदि से चित्त को सर्वथा पृथक रखने वाला ही ब्राह्मण कहा जा सकता है। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास का ऐसा ही अभिप्राय है इससे भिन्न अन्य किसी प्रकार से ब्राह्मणत्व सिद्ध नहीं होता। आत्मा ही सच्चिदानन्द रूप और अद्वितीय है, ऐसे ब्रह्म भाव से मनुष्यों को मानना चाहिए। यह उपनिषद् है॥९॥

॥ वज्रसूचिकोपनिषद् समाप्त॥

(20) अथर्वशिर उपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्र। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शांतिः शांतिः शांतिः॥

हे देव, हम कानों से कल्याण की बातें सुनें, आँखों से कल्याण देखें। हम अङ्गों से तथा शरीर से अपनी ईश्वर प्रदत्त आयु, तुम्हारी स्तुति करते हुए व्यतीत करें। महान् कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सबको जानने वाला पूषादेव हमारा कल्याण करे, जिसकी गति रोकी न जा सके, ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

ॐ देवा हवै स्वर्गं लोकमायंस्ते रुद्रमपृच्छन्को भवानिति। सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च यान्यः कश्चिन्मत्तः व्योतिरिक्त इति। सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत् दिशश्चान्तरं प्राविशत् सोऽहं नित्यानित्योऽहं व्यक्ताव्यतो ब्रह्माब्रह्माहं प्राञ्चःप्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणाञ्च उदञ्चोहं अधश्चोर्ध्वं चाहं दिशश्च प्रतिदिशश्चाहं पुमानपमान् स्त्रियश्चाहं गायत्र्यहं सावित्र्यहं त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्चाहं चन्दोऽहं गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयोऽहं सत्योऽहं गौरहं गौर्यहमृगहं यजुरहं सामाहमथर्वाङ्गिरसोऽहं ज्येष्टोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोऽहमापोऽहं तेजोऽहं गुह्योऽहमरण्योऽहमक्षरमहं क्षरमहं पुष्करमहं पवित्रमहमुग्रं च मध्यं च बहिश्च पुरस्ताज्ज्योतिरित्यहमेव सर्वेभ्यो मामेव स सर्वः समां यो मां वेद

स सर्वान्देवान्वेदं सर्वाश्च वेदान्साङ्गानपि ब्रह्म ब्राह्मणंश्च मां गोभिर्ब्राह्मणन्ब्राह्मणेन हविर्हविषा आयुरायुषा सत्येन सत्यं धर्मेण धर्मं तर्पयामि स्वेन तेजसा। ततो ह वै ते देवा रुद्रमपृच्छन् ते देवा रुद्रमपश्यन्। ते देवा रुद्रमध्यायन् ततो देवा ऊर्ध्वंबाहवो रुद्रं स्तुवन्ति ॥१

ॐ! किसी समय देवगण रुद्र लोक में जाकर भगवान् रुद्र से पूछने लगे—"आप कौन हैं?" रुद्र ने कहा—"मैं एक हूँ, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य काल में हूँ। मेरे अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। जो अन्तर के भी अन्तर में है, जो सब दिशाओं में प्रविष्ट है वह मैं हूँ। मैं ही नित्य और अनित्य हूँ, मैं ही व्यक्त और अव्यक्त हूँ, मैं ही ब्रह्म और अब्रह्म हूँ। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व अधो दिशारूप प्रतिदिशारूप, पुमान, अपुमान, स्त्री, मैं ही हूँ। मैं ही गायत्री, सावित्री त्रिष्टुप, जगती, अनुष्टुप आदि छन्दरूप, गार्हपत्य दक्षिणाग्नि, आवाहनीय तीनों अग्निरूप, सत्य, गौ, गौरीरूप, ऋग्, यजु, साम अथर्व-चारों वेद रूप हूँ। मैं ही आंगिरस, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ, जल, तेज, गुह्य, अरण्य, अक्षर, क्षर, पुष्कर, पवित्र, अग्र, मध्य, बाह्य, पुरस्तात, इस प्रकार ज्योति रूप मैं हूँ—मुझे सब में व्याप्त जानो। मुझे जानने वाला सब देवों को जानता है और अङ्ग सहित वेदों को जानता है। मैं ब्रह्म को ब्राह्मण से, गौ को गौ से, ब्राह्मण को ब्राह्मण से, हविष्य को हविष्य से, आयुष्य को आयुष्य से, सत्य को सत्य से, धर्म को धर्म से तृप्त करता हूँ। वे देव शंका से रुद्र को देखने लगे, उनका ध्यान करने लगे और फिर भुजायें उठाकर इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ १ ॥

ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च विष्णुस्तस्मै व नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च स्कन्दस्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चेन्द्रस्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चाग्निस्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च वायुस्तस्मै वै नमोनमः।

यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सोमस्तस्मै वं नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ ग्रहास्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ प्रतिग्रहास्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च भूस्तस्मै वं नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च भुवस्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च स्वस्तस्मै बै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च महस्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्या च पृथिवी तस्मै वै नमोनमः। यो बै रुद्रः स भगवान्याच्चान्तरिक्षं तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्या च द्यौस्तस्मै वे नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्याश्चापस्तस्मै वं नमोनमः। यो बं रुद्रः स भगवान्यच्च तेजस्तस्मै बं नमोनमः। यो व रुद्रः स भगवान्यश्च कालस्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः न भगवान्यश्च यमस्तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च मृत्युस्तस्मै वै नमोनमः। यो बै रुद्रः स भगवान्यच्चामृतं तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चाकाशं तस्मै बै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च विश्वं तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च स्थूलं तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सूक्ष्मं तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्याच्च शुक्लं तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च कृष्णं तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च कृत्स्न् तस्मै वै नमोनमः यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सत्यं तस्मै वै नमोनमः। यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सर्वं तस्मै वे नमोनमः ॥२

हे रुद्र भगवान् ! आप ब्रह्मारूप हैं, आपको नमस्कार है। आप विष्णुरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप स्कन्दरूप हैं आपको नमस्कार है। आप इन्द्ररूप, अग्निरूप, वायुरूप, सूर्य रूप हो आपको नमस्कार है। आप सोमरूप, अठग्रहरूप, प्रतिग्रहरूप, भू.रूप, भुवःरूप, स्वरूप, महःरूप, हो, आपको नमस्कार है। आप पृथ्वीरूप, अन्तरिक्षरूप, द्यौरूप, जलरूप

तेजरूप, कालरूप, यमरूप, मृत्युरूप अमृतरूप हो आपको नमस्कार है। आप आकाशरूप, विश्वरूप, स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, कृष्णरूप, शुक्लरूप, सत्यरूप, सर्वरूप हो आपको नमस्कार है ।।२।।

भूस्ते आदिर्मध्य भुवस्तेस्वस्तेशीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मो-कसर्वंद्विधा त्रिधा वद्धस्त्वं शान्तिस्त्वं पुष्टिस्त्वं हुतमहुतं दत्त-मदत्तं सर्वसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्। अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतं मर्त्यस्य। सोमसूर्यपुर-स्तात् सूक्ष्माः पुरुषः। सर्वं जगद्धितं वा एतदक्षरं प्राजापत्यं सूक्ष्मं सौम्यं पुरुषं ग्राह्यमग्राह्येण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण वायव्यं वायव्येन ग्रसति स्वेन तेजसा तस्मादुपसंहर्त्रे महाग्रसाय वै नमोनमः। हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः। हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादौ य उत्तरतः परन्तुः सः। सः ओङ्कारः य ओंकारः स प्रणवः य प्रणवः स सर्वंव्यापी यः सर्वंव्यापी सोऽनन्तः योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं तच्छुक्लं तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म यत्परं ब्रह्म स एकः स एक स रुद्रः यो रुद्रः स ईशानः य ईशानः स भगवान् महेश्वरः ।।३

भूःलोक आपका नीचे का, भुवः लोक मध्य का और स्वःलोक शिरोभाग का रूप है। आप विश्वरूप में केवल ब्रह्मरूप हो, दो या तीन अन्य प्रकार के (भ्रमवश) जान पड़ते हो। आप वृद्धिरूप, शान्तिरूप, पुष्टिरूप, हुतरूप, आहुतरूप, दत्तरूप, अदत्तरूप, सर्वरूप, असर्वरूप, विश्वरूप, अविश्वरूप, कृत-अकृतरूप, पर-अपररूप, परायणरूप हो। आपने हमको सोमरूप अमृत पिला के अमृतरूप किया है, हम ज्योति रूप को प्राप्त हुए हैं और हमको ज्ञान प्राप्त हुआ है। अब शत्रु हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। आप मनुष्यों के लिए अमृत स्वरूप हैं। चन्द्र और सूर्य से भी प्रथम और सूक्ष्म पुरुष आप ही हैं। प्रजापति का अक्षर

और अमूरूप वाला जो सूक्ष्म रूप है वही जगत का कल्याणकारी पुरुष है। वही अपने प्रभाव से ग्राह्य को ग्राह्य से, भावको भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से, वायु को वायु से ग्रसित करता है। ऐसे महाग्रास करने वाले आपको नमस्कार है। सबके हृदय में देवताओं का, प्राणों का, आपका निवास है। वे तीन मात्राएँ हैं और वह उनसे परे है। उत्तर में उसका शिर है, दक्षिण में उसके पद हैं। जो उत्तर में है वह ओंकाररूप है, जो ओंकार है वह प्रणव है, जो प्रणव है वही सर्व व्यापी है जो सर्वव्यापी है वही अनन्त है, जो अनन्त है वही तारकरूप है, जो तारकरूप है वही सूक्ष्म रूप है, जो सूक्ष्मरूप है वही शुक्ल है जो शुक्ल है वही विद्युतरूप है, जो विद्युत है वही परब्रह्मरूप है, जो परब्रह्म है वह एक रूप है, जो एक रूप है वही रुद्ररूप है वही ईशानरूप है, जो ईशानरूप है वही भगवान् महेश्वर हैं ॥३॥

अथ कस्मादुच्यत ओंकारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्कामयति तस्मादुच्यते ओंकारः। अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चायमाण एव ऋग्यजुः सामाथर्वाङ्गिरस ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः। अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी तस्मादुच्चार्यमाण एव सर्वांल्लोकान्व्याप्नोति स्नेहो यथा पललपिण्डमिव शान्तरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी। अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तो यस्मादुच्चायमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः। अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्म व्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्। अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयति च तस्मादुच्यते शुक्लम्। अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृशति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्। अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं

यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महति तमसि द्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम्। अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात्परमपरं परायण च बृहद्बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म। अथ कस्मादुच्यते एकः यः सर्वान्प्राणान्संभक्ष्य संभक्षणेनाजः संसृजति विसृजति तीर्थमेचे ब्रजन्ति तीर्थमेके दक्षिणाः प्रत्यंच उदंचः प्रांचोऽभिव्रजन्त्येके तेषां सर्वेषामिह सद्गतिः। साकं स एको भूतश्चरति प्रजानां तस्मादुच्यत एकः। अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मादृषिभिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्मादुच्यते रुद्रः। अथ कस्मादुच्यते ईशानः यः सर्वान्देवानीशते ईशानीभिर्जननीभिश्च परमशक्तिभिः। अभित्वा शूरणो नुमो दुग्धा इव धेनवः ईशाननस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द तस्थुष इति तस्मादुच्यते ईशानः। अथ कस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः यस्माद्भक्तांज्ञानेन भजत्यनुगृह्णाति च बाचं संसृजति विसृजति च सर्वान्भा वान्परित्यजात्मज्ञानेन योगेश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः। तदे दद्रुद्रचरितम् ॥४

अब ॐकार किस कारण से कहा जाता है? इसलिये कि उसका उच्चारण करने में प्राणों को ऊपर खींचना पड़ता है, इसी से आपको ॐकार कहा जाता है। प्रणव कहने का कारण यह है कि उसका उच्चारण करते समय ऋग, यजु, साम्, अथर्व, अङ्गिरस, ब्रह्म ब्राह्मण को प्रणाम करने में आता है, इसलिए आपका नाम प्रणव है। सर्वव्यापी किस कारण से कहा जाता है, क्योंकि जैसे तिलों में तेल व्याप्त होकर रहता है उसी प्रकार आप शान्त (अप्रत्यक्ष) रूप से सब सृष्टि में व्याप्त हो रहे हो, इसी से आपको सर्वव्यापी कहा जाता है। अनन्त इसलिये कहा जाता है कि इसका उच्चारण करते समय उच्च, नीच और तिर्यक कहीं भी आपका अन्त देखने में नहीं आता, इसलिये आपको अनन्त कहा जाता है। तारक कहने का कारण यह है कि आप गर्भ, जन्म, व्याधि, जरा और मरण वाले संसार के महाभय से तारने

वाले हैं। शुक्ल इसलिए कहा जाता है कि इसके कहने में क्लेद (क्लान्ति अथवा श्रम) होता है। सूक्ष्म इसलिए कहा जाता है कि इसका उच्चारण करने में सूक्ष्मरूप युक्त होकर स्थावरादि सबके शरीरों को आधीन करते हैं। वैद्युत कहने का कारण यह है कि इसके उच्चारण से स्थूल महान् तमावस्था में प्रकाश होता है। अब परब्रह्म कहने का कारण यह है कि पर, अपर और परायण का बड़ी वीणा से ज्ञान कराते हो, इसी से परब्रह्म कहा जाता है। अब एक क्यों कहते हैं, इसलिए कि सब प्राणों का भक्षण करके अजरूप से उत्पत्ति और संहार करते हो। कितने ही तीर्थों में जाते हैं, दक्षिण, पश्चिम, पूर्व, उत्तर दिशाओं में तीर्थ यात्रा करते हैं उन सबकी यही सद्गति है। सब प्राणियों के साथ एक रूप में रहने के कारण आपको एक कहते हैं। अब रुद्र इसलिए कहा जाता है कि आपके स्वरूप का ज्ञान ऋषियों को हो सकता है अन्य सामान्यों को नहीं हो सकता। अब ईशान क्यों कहते हैं? इसलिए कि आप ईशानी तथा जननी शक्तियों से वेदों को अधिकार में रखते हो। हम आप शूर की इसी प्रकार स्तुति करते हैं जैसे दूध के लिए गाय को प्रसन्न करते हैं। इन्द्र रूप से आप ही संसार के ईश और दिव्य दृष्टि वाले हो, इसलिए आपको ईशान कहा जाता है। अब भगवान् महेश्वर क्यों कहते हैं? इसलिए कि जो भक्त ज्ञान के लिए आपको भजते है उन पर अनुग्रह करते हो, वाणी का प्रादुर्भाव करते हो। सब भावों को त्याग आत्मज्ञान और योगेश्वर्य से अपनी महिमा में स्थित रहते हो इससे आपको महेश्वर कहा जाता है। इस प्रकार का यह रुद्र का चरित्र है ॥४॥

एको ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः। एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्मै य इमांल्लोकानीशत ईशानीभिः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता। यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकोयेनेन सर्वं विचरति

सर्वम् । तमीशानं पुरुष देवमीड्यं निचाय्येमां शांतिमत्यन्तमेति । क्षमां हित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे । रुद्रमेकत्वमाहुः शाश्वत वै पुराणमिषमूर्जेण पशवोऽनुनामयन्तं मृत्युपाशान् । तदेतेनात्मन्नेतेनार्धचतुर्थेन मात्रेण शांति ससृजति पशुपाशविमोक्षणं । या सा] प्रथमा मात्रा ब्रह्मदेवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद्ब्रह्मपदम् । या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदेवत्या कृष्ण वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद्वैष्णवं पदम् । या सा तृतीया मात्रा ईशानदेवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेदैशानं पदम् । या सार्धचतुर्थी मात्रा सर्वदेवत्याऽव्यक्तीभूता खं विचरति शुद्धा स्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत्पदमनामयम् तदेतदुपासीत मुनयो वाग्वदन्ति न तस्य ग्रहणमयं पन्था विहित उत्तरेण येन देवा यान्ति येन पितरो येनऋषयः परमपरं परायणं चेति । वालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातरूपं वरेण्यम् तमात्मस्थं येनु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिर्भवति नेतरेषाम् । यस्मिन्क्रोधं यां च तृष्णां क्षमां चाक्षमां हित्वा हेतुजालस्य मूलम् । बुद्ध्या सचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः । रुद्रो हि शाश्वतेन वै पुराणेनेषमूर्जेण तपसा नियन्ता । अग्निरति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्वं ह वा इदं भस्म मनएतानि चक्षूंषि यस्माद्व्रतमिदं पाशुपतं यद्भस्म नाङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद्ब्रह्म तदेतत्पाशुपतं पाशुपाशविमोक्षणाय ॥५॥

एक ही ऐसा देव सब दिशाओं में रहता है । प्रथम उसी का जन्म हुआ, वही मध्य में और वही अन्त में है । वह ही उत्पन्न होता है और आगे भी होगा । वह प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त हो रहा है । केवल एक रुद्र ही, अन्य कोई नहीं, इस लोक का नियमन करता है । सब

उसी के भीतर रहते हैं, और अन्त में सब का लय भी उसी में होता है। विश्व का सृजन और रक्षण करने वाला वही है। जो सब प्राणियों में व्याप्त हो रहा है और जिसमें सब व्याप्त हो रहा है, उस ईशान देव का ध्यान करने से ही मनुष्य को परम शान्ति प्राप्त हो सकती है। जब हेतुओं के मूल अज्ञान को त्याग कर और संचित कर्मों को बुद्धि से रुद्र में स्थापित करके (अर्पण करके) परमात्मा का एक्य प्राप्त होता है। जो शाश्वत और पुराण पुरुष अपनी शक्ति से अन्न, पशु प्रदान करके प्राणियों की मृत्यु से रक्षा करता है, वही आत्मज्ञानप्रद अर्ध चतुर्थ मात्रा से शान्ति का देने वाला और बन्धनों से मुक्त करने वाला है। उस रुद्र की प्रथम मात्रा ब्रह्मा की रक्तवर्ण की है, उसका नियमित ध्यान करने से ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है। दूसरी मात्रा विष्णु की कृष्ण वर्ण की है उसका सदैव ध्यान करने वाले वैष्णव पद को पाते हैं। जो तीसरी मात्रा है वह ईशानदेव की पीले रंग की है जो उसका ध्यान करते हैं वे ईशान के पद को प्राप्त करते हैं। वह जो अर्ध चतुर्थ मात्रा है वह सर्वदेव रूप अव्यक्त होकर आकाश में विचरती है, उसका वर्ण शुद्ध स्फटिक के समान है। जो उसका ध्यान करते हैं वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं। मुनियों का उपदेश है कि इस अर्ध मात्रा की ही उपासना करनी चाहिए। क्योंकि उससे कर्म बन्धन कट जाता है। इसी उत्तर मार्ग से देव, पितर और ऋषि जाते हैं। यही पर-प्रपर और परायण मार्ग है। बाल के अग्रभाग के समान सूक्ष्मरूप से हृदय में रहने वाले विश्वरूप, देवरूप, सुन्दर और श्रेष्ठ—ऐसे परमात्मा को जो ज्ञानी पुरुष अपने भीतर देखते हैं वे ही शान्ति को प्राप्त करते हैं, अन्य को वह प्राप्त नहीं हो सकती। क्रोध, तृष्णा आदि हेतु समूह के मूल का त्याग करके तथा संचित कर्मों को बुद्धिपूर्वक रुद्र में स्थापित करने से रुद्र से एकता होती है। रुद्र ही शाश्वत और पुराण पुरुष होने से अपनी शक्ति तथा तप द्वारा सबके नियन्ता हैं। अग्नि, वायु, जल, स्थल, व्योम में

सब भस्म रूप है। ऐसी भगवान पशुपति की भस्म का जिस के अङ्ग में स्पर्श नहीं हुआ वह भी भस्मवत् है। इस प्रकार पशुपति की ब्रह्मरूप भस्म पशु (प्राणी) के बन्धन को काटने वाली है ॥५॥

योऽग्नौ रुद्रो योऽप्स्वन्तयं औषधीर्वीरुध आविवेश। य इमा विश्वा भुवनानि चक्लपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये। यो रुद्रोऽग्नौ यो रुद्रोऽप्स्वन्तर्यो रुद्र औषधीर्वीरुध आविवेश। यो रुद्र इमा विश्वा भुवनानि चक्लृते तस्मै रुद्राय नमोनमः। यो रुद्रोऽप्सु यो रुद्र औषधीषु यो रुद्रो वनस्पतिषु। येव रुद्रेण जगदूर्ध्वं धारितं पृथिवी द्विधा त्रिधा धर्ता धारिता नागा येऽन्तरिक्षे तस्मै रुद्राय व नमोनमः। मूर्धानमस्य संसेव्याप्यथर्वा हृदयं च यत। मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयत्पवमानोऽधिशीर्षतः तद्वाअथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः। तत्प्राणोऽभिरक्षत शिरोऽन्नमथो मनः। न च दिवो देवजनेन गुप्त नवान्त रिक्षाणि न च भूम इमाः। यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं तस्मादन्यन्नपरं किंचनास्ति। न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोत भव्यं यदासीत्। सहस्रपादेकमूर्ध्ना व्याप्त स एवेदमावरीवर्ति भूतम्। तच्चरात्ससायते कालः कालाद्व्यापक उच्यते। व्यापको हि भगवान्रुद्रो भोगा यमानो यता शते रुद्रस्तदा संहार्यते प्रजा। उच्छ्वासिते तमो भवति तमस आपोऽप्स्वङ्गुल्या मथिते मथितं शिशिरे शिशरं मथ्यमानं फेनं भवति फेनादण्ड भवत्यण्डाद्ब्रह्मा भवति ब्रह्मणो वायुः वायोरोंकारः ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति। अर्चयन्ति तपः सत्यं मधु क्षरन्ति यद्भुवम्। एतद्धि परम तपः। आपोज्योती रसोऽमृत ब्रह्म भुर्भुवः स्वरों नम इति ॥६

जो रुद्र अग्नि और जल में हैं वे ही औषधियों और वनस्पतियों में भी प्रविष्ट हुए हैं। जिसने इस समस्त विश्व को उत्पन्न किया है उस अग्नि रूप रुद्र को नमस्कार है। जो रुद्र भगवान अग्नि, औषधियों, वन-

स्पतियों में रहते हैं तथा जो विश्व और सब भुवनों के सृजन करने वाले हैं उसको नमस्कार है। जो रुद्र जल में, औषधियों में, वनस्पतियों में हैं, जिन्होंने इस जगत को धारण किया हुआ है जो रुद्र द्विधा (शिव-शक्ति) और त्रिधा (सत-रज-तम तीन गुणों से) पृथ्वी का संचालन कर रहे हैं, जिन्होंने नागों को अन्तरिक्ष में धारण कर रखा हैं उस रुद्र को नमस्कार है। रुद्र भगवान के प्रणव रूप मूर्धा की उपासना करने से अथर्वा की उच्च स्थिति प्राप्त होती है, उपासना न करने से नीची स्थिति में रहना पड़ता है। सब देवों का सामूहिक रूप रुद्र भगवान् का मस्तक ही है। उसका प्राण और मन मस्तक का रक्षण करने वाला है। देवगण स्वयं पृथ्वी, आकाश अथवा स्वर्ग किसी की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। सब कुछ रुद्र भगवान में ही समाया हुआ है। उनसे परे कुछ नहीं है, उनसे पूर्व कुछ नहीं है। उनसे भूतकाल में कुछ नहीं है और भविष्य काल में भी कुछ नहीं है। उनके सहस्र पद हैं और एक मस्तक है, वे सर्वभूतों में व्याप्त हैं। अक्षर से काल की उत्पत्ति है और काल होने से वह व्यापक होता है। व्यापक और शोभायमान भगवान् रुद्र के शयन करने पर सब प्राणियों का अन्त हो जाता है। फिर उनके श्वाँस लेने से तम होता है, तम में जल होता है, उस जल को अपनी अंगुली से मथने से शिशिर ऋतु की-सी ओस होती है उसके मथने से फेन, फेन से अण्डा और अण्डे से ब्रह्मा होता है। ब्रह्मा से वायु, वायु से ॐकार, ॐकार से सावित्री, सावित्री से गायत्री और गायत्री से लोकों की उत्पत्ति होती है। जब वे तप करते हैं तो सत्य होता है और फिर अमृत प्रवाह होता है जो शाश्वत होता है। यह परम तप है, जो कि जल, ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः होता है ॥६॥

य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रिय श्रोत्रियो भवति अनुपनीत उपनीतो भवति सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स सूर्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स

सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति स सर्ववेदैरनुध्यातो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति: तेन: सर्वैः ऋतुभिरिष्टं भवति गायत्र्याः षष्ठिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि भवन्ति । प्रणवानामयुतं जप्तं भवति । स चक्षुषःपङ्क्ति पुनाति । आ सप्तमात्पुरुषयुगान्पुनातीत्याह भगवानथर्वशिरः सकृज्जप्त्वैव शुचिः स पूतः कर्मण्यो भवति । द्वितीयं जप्त्वा गणाधिपत्यमवप्नोति तृतीयं जप्त्वैवमेवानुप्रविशत्यों सत्यमो सत्यों सत्यम् ॥७

जो ब्राह्मण इस अथर्वशिर उपनिषत् को पढ़ता है वह श्रोत्रिय न हो तो भी श्रोत्रिय हो जाता है, अनुपवीत हो तो उपवीत वाला हो जाता है, वह अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, सत्य के समान पवित्र हो जाता है, वह सर्व पवित्र हो जाता है। वह सब देवों से जाना हुआ, सब वेदों का अध्ययन करने वाला, सब तीर्थों को स्नान किया हुआ हो जाता है। सब यज्ञों का फल, साठ सहस्र गायत्री के जप का फल उसको मिलता है। इतिहास और पुराणों के अध्ययन का, एक लाख रुद्र के जप का, दस सहस्र प्रणव के जप का फल होता है। उसके दर्शन से लोग पवित्र होजाते हैं। वह अपनी सात पहली पीढ़ियों को तार देता है। भगवान् ने कहा है कि अथर्वशिर एक बार जप करने से पवित्र और कर्म का अधिकारी होता है, दूसरी बार जप करने से गणाधिपति होता है, तीसरी बार जप करने से सत्यरूप ॐकार में प्रविष्ट होता है।

॥ अथर्वशिर उपनिषत् समाप्त ॥

(21) स्कन्दोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नो भुनक्तु । सहीवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ ब्रह्म हम दोनों का रक्षण करे, वह हम दोनों का पालन करे । हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों । हमारा अध्ययन तेजस्वी हो । हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ।

अच्युतोऽस्मि महादेव तत्र कारुण्यलेशतः ।
विज्ञानघन एवास्मि शिवोऽस्मि किमतः परम् ॥१
ननिजं निजवद्भात्यन्तः करणजृम्भणात् ।
अन्तःकरणनामेन संविन्मात्रस्थितो हरिः ॥२
संविन्मात्रस्थितश्चाहमजोऽस्मि किमतः परम् ।
व्यतिरिक्तं जडं सर्वं स्वप्नवच्च विनश्यति ॥३
चिज्जडानां तु यो द्रष्टा सोऽच्युतो ज्ञानविग्रहः ।
स एव हि महादेवः स एव हि महाहरिः ॥४
स एव ज्योतिषां ज्योतिः स एव परमेश्वरः ।
स एव हि परब्रह्म तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥५

हे महादेव! आपकी किञ्चित मात्र कृपा प्राप्त हो जाने से मैं अच्युत रूप, विज्ञानघन और शिवस्वरूप हूँ इससे विशेष क्या होगा ॥१॥ जब मनुष्य के अन्तःकरण का विकास और विस्तार होकर अपना पार्थिव स्वरूप भूल जाता है, तब अन्तःकरण का नाश हो जाता है और वहाँ एक मात्र हरि का ही अस्तित्व रहता है ॥ २ ॥ इससे अधिक और

क्या होगा कि मैं ज्ञानस्वरूप में स्थित और अजन्मा होने का अनुभव करता हूँ और इसके अतिरिक्त सब कुछ जड़, स्वप्न के सदृश्य नाशवान है ॥ ३॥ जो चैतन्य और जड़ को देखता है वही अच्युत और ज्ञान का स्वरूप है, वही महादेव और महाहरि है ॥ ४ ॥ वही समस्त ज्योतितों की मूल ज्योति है और वही परमेश्वर है, वही परब्रह्म है और निस्सन्देह मैं भी वही ब्रह्म हूँ ॥५॥

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
तुषेण बद्धो ब्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः ॥६
एवं बद्धस्तथा जीवः कर्मनाशे सदाशिवः ।
पाशबद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥७
शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे ।
शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदय शिवः ॥८
यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः ।
यथाऽन्तरं न पश्यामि तथा मे स्वस्तिरायुषि ।
यथाऽन्तरं न भेदाः स्यु शिवकेशवयोस्तथा ॥९
देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्य सोऽहमावेन पूजयेत् ॥१०

जीव ही शिव है और शव ही जीव है, यह जीव केवल शिव ही है, उसी प्रकार जैसे धान का छिलका दूर हो जाने पर चावल निकल आता है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार बन्धन में पड़ा हुआ जीव कर्मों का नाश होने से सदाशिव हो जाता है, इसी प्रकार पाश (फन्दे) में पड़ा जीव पाशयुक्त हो जाने पर सदाशिव हो जाता है ॥ ७ ॥ शिव ही विष्णु रूप हैं और विष्णु ही शिव रूप हैं, शिव के हृदय में विष्णु रहते हैं और विष्णु के हृदय में शिव का निवास होता है ॥ ८ ॥ जिस प्रकार विष्णु

शिवमय हैं वैसे ही शिव विष्णुमय हैं, जब मुझे इनमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, तब इस शरीर में रहते हुए ही मैं कल्याण रूप हो जाता हूँ ॥९॥ जिस प्रकार शिव तथा केशव में कोई अन्तर या भेद नहीं है, वैसे ही यह देह देवालय है और उसमें जीव केवल शिवरूप है। जब मनुष्य का अज्ञान रूप निर्माल्य दूर हो जाता है सब सोऽहं भाव से उसको पूजे ॥१०॥

अभेददर्शनं ज्ञानं निर्विषयं मनः।
स्नानं नमोमलत्यागः शोचमिन्द्रियनिग्रहः ॥११
ब्रह्मामृत्तं पिदेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ॥
इत्येवमाचरेद्धीमान् स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥१२
श्रीपरमधाम्ने स्वस्ति चिरायुष्योन्नम इति ॥
विरञ्चिनारायणशंकरात्मकं नृसिंह देवेश तव प्रसादतः।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमव्ययं वेदात्मक ब्रह्म निजं विजानते ॥१३
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥१४
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवासः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥
इत्येतन्निर्वानुशासनमिति वेदानुशासनमित्युनिषत् ॥१५

सबका अभेद रूप से दर्शन करना ही ज्ञान है और मन का विषयों से रहित हो जाना ही वास्तव में ध्यान है, मन के मैल का छूटना ही स्नान है और इन्द्रियों का वश में जाना सच्चा शोच है ॥ ११ ॥ ब्रह्मज्ञान रूपी अमृत का पान करे, देह की रक्षा के लिए

भिक्षा वृत्ति करे, द्वेष भाव को त्यागकर एकान्त भावना के साथ रहे। जो बुद्धिमान व्यक्ति इस प्रकार का आचरण रखता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है ।।१२।। श्री परमधाम, कल्याणस्वरूप विष्णु (अविनाशी) को नमस्कार है। हे नृसिंहदेव ! आपकी कृपा से ब्रह्मा, विष्णु और शिव स्वरूप हो जाता है, और अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अव्यय, वेद स्वरूप ब्रह्म को निज आत्म स्वरूप में जानते हैं ।।१३।। जो विद्वान् पुरुष उस विष्णु के परम पद को दिन के समान स्पष्ट रूप से देखते हैं, वे ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके ब्राह्म में ही लीन हो जाते हैं। यही विष्णु का परम पद है, यही निर्वाण सम्बन्धी ज्ञान है, यही वेद का अनुशासन है। यही वेद का उपदेश है। ऐसा यह उपनिषद् है ।।१४-१५।।

॥ स्कन्दोपनिषत् समाप्त ॥

(२२) सर्वसारोपनिषत्

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

ॐ। ब्रह्म हमारो दोनों (गुरु शिष्य) का साथ ही रक्षण करो। हमारा दोनों का पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें हम दोनों का विद्याध्ययन तेजस्वी हो, हम किसी से द्वेष न करें। ॐ शांति: शांति: शांति:।

कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या काऽविद्येति। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयं च कथम्। अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशाः कथम्। कर्त्ता जीवः पञ्चवर्गः क्षेत्रज्ञः साक्षी कूटस्थोऽन्तर्यामी कथम्। प्रत्यगात्मा परमात्मा माया चेति कथम् ॥१

आत्मेश्वरजीवोऽनात्मनां देहादीनामात्मत्वेनाभिमन्यते सोऽभिमान आत्मनो बन्धः तन्निवृत्तिर्मोक्षः ॥२

या तद्भिमानं कारयति सा अविद्या। सोऽभिमानो यया निवर्तते सा विद्या ॥३

बन्धन क्या ? मोक्ष क्या ? विद्या और अविद्या किसे कहते हैं ? जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्था क्या हैं ? अन्नमय, प्राणजत, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पांच कोश क्या हैं ? कर्त्ता जीव, पञ्चवर्ग क्षेत्रज्ञ, साक्षी, कूटस्थ और अन्तर्यामी का अर्थ क्या ? इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा और माया, ये तत्व क्या हैं ? ॥१॥

आत्मा ही ईश्वर और जीव रूप है, फिर भी जो आत्मा नहीं है ऐसे शरीर में जीव को अहंभाव हो जाता है, वही जीव का बन्धन है। इस अहंभाव का निकल जाना, यही मोक्ष है ।। २ ।। इस अहंभाव को जो उत्पन्न करती है वह अविद्या है और जिससे यह अहंभाव निकल जाता है वह विद्या कहलाती है ।।३

मनआदिचतुर्दशकरणैः पुष्कलैरादित्याद्यनगृहीतैः शब्दादीन् विषयान् स्थूलान् यदोपलभते तदाऽऽत्मनो जागरणम् । तद्वासनासहितैश्चतुर्दशकरणैःशब्दाद्यभावेऽपि वासनामयाञ्छब्दादीन् यदोपलभते तदाऽऽत्मनः स्वप्नम् । चतुर्दशकरणोपरमाद्विशेषविज्ञानाभावाद्यदा शब्दादीन्नोपलभते तदाऽऽत्मनः सुषुप्तम् । अवस्थात्रयभावाभावसाक्षी स्वयं भावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा तदा तत्तुरीय चैतन्यमित्युच्यते ।।४

अन्नकार्याणां कोशानां समूहोऽन्नमयकोश इत्युच्यते । प्राणादिचतुर्दशवायुभेदा अन्नमयकोशे यदा वर्तन्ते तदा प्राणमयकोश इत्युच्यते । एतत्कोशद्वयसंसक्तं मनआदिचतुर्दशकरणैरात्मा शब्दादिविषयसङ्कल्पादिधर्मान् यदा करोति तदा मनोमयकोश इत्युच्यते । एतत्कोशत्रयसंसक्त तद्गतविशेषज्ञो यदा भासते तदा विज्ञानमयकोश इत्युच्यते । एतत्कोशचतुष्टयसंसक्त स्वाकारणाज्ञाने वटकणिकायामिव वृक्षो यदा वर्तते तदा आनन्दमयकोश इत्युच्यते ।।५

सूर्य आदि देवताओं को शक्तियों के द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और दश इन्द्रियाँ—इन चोदह द्वारा जिस अवस्था में आत्मा शब्द, स्पर्श आदि स्थूल विषय को ग्रहण करती है, उसे आत्मा की जाग्रत अवस्था कहते हैं। शब्द आदि स्थूल विषय न होने पर भी जाग्रत अवस्था की शेष रह गई वासना के कारण मन बुद्धि आदि चोदह करणों द्वारा

शब्द आदि वासनामय विषयों को जीव ग्रहण करता है, उस अवस्था को आत्मा की स्वप्न अवस्था कहा जाता है। इन चौदह इन्द्रियों के शान्त बन जाने पर, जिस अवस्था में विशेष ज्ञान नहीं होने से, शब्द आदि विषयों को ग्रहण नहीं करते हैं, उस समय की आत्मा की अवस्था को सुषुप्ति कहा जाता है। इन तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय का जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से निरन्तर परे रहने वाला, ऐसा जो नित्य साक्षी-चैतन्य है वही तुरीय चैतन्य है और उसकी अवस्था का नाम तुरीय है ।।४ ।। अन्न से बनने वाले कोशों के समूहरूपी शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। प्राण आदि चौदह प्रकार के वायु, इस अन्नमय कोश में संचार करते हैं, तब उसे प्राणमय कोश कहते हैं। इन दो कोशों के भीतर रहने वाली मन आदि चौदह इन्द्रियों द्वारा जब आत्मा शब्द आदि विषयों का विचार करती है, तब उस मनोमय कोश कहते हैं। आत्मा इन तीनों कोशों के साथ संयुक्त होकर बुद्धि द्वारा जो कुछ जानती है उसके उस बुद्धिमय स्वरूप को विज्ञानमय कोश कहा है। इन चार कोशों के साथ आत्मा बरगद के बीज में वृक्ष की तरह अपने कारण स्वरूप अज्ञान में रहती है, उसे आनन्दमय कोश कहते हैं ।।५

सुखदुःखबुद्ध्याश्रयोऽन्तः कर्ता यदा तदा इष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिरनिष्टविषये बुद्धिर्दुःखबुद्धि । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा सुखदुःखहेतवः पुण्यपापकर्मानुसारी भूत्वा प्राप्तशरीरसंयोगमप्राप्तशरीरसंयोगमिव कुर्वाणो यदा दृश्यते तदोपहितजीव इत्युच्यते ।।६

मनआदिश्च प्राणादिश्चेच्छादिश्च सत्त्वादिश्च पुण्यादिश्चैते पंचवर्गा इत्येषां पंचवर्गाणां धर्मीभूतात्मज्ञानादृते न नश्यत्यात्मसन्निधौ नित्यत्वेन प्रतीयमान आत्मोपाधिर्यस्तल्लिङ्गशरीरं हृद्ग्रन्थिरित्युच्यते ।।७

तत्र यत्प्रकाशते चैतन्यं स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते ।।८

सुख-दुख की दृष्टि से अन्तर में रुचिकर वस्तु की जो इच्छा होती है, वह सुख-बुद्धि है, और अरुचिकर वस्तु की कल्पना की है, वह दुख-बुद्धि है। सुख को प्राप्त करने और दुःख को त्यागने के लिये जीव जो क्रियाएँ करता है उन्हीं के कारण उसे कर्ता कहा जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध ये पाँच विषय सुख-दुःख के कारण हैं। पुण्य और पाप कर्मों का अनुसरण करने वाला आत्मा, प्राप्त हुये शरीर के संयोग को अप्राप्त की तरह समझने लगता है, तब उसे उपाधियुक्त जीव कहते हैं ॥६॥ मन आदि, प्राण आदि, इच्छा आदि, सत्व आदि, और पुण्य आदि के पाँच समूहों को पंच वर्ग कहा जाता है, इन पाँच वर्गों के धर्म वाला बनकर जीवात्मा बिना ज्ञान के उनसे छुटकारा नहीं पा सकता। मन आदि सूक्ष्म तत्वों की उपाधि, जो आत्मा को सदैव लगी रहती जान पड़ती है, उसे लिंग शरीर कहा जाता है, और वही हृदय की ग्रन्थि है ॥७॥ उसमें जो चैतन्य है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥८॥

ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमाविर्भावतिरोभावरहितः स्वयंज्योतिः साक्षीत्युच्यते ॥६

ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिष्ववशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते ॥१७

कूटस्थोपहितभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणे सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा काशते आत्मा तदाऽन्तर्यामीत्युच्यते ॥११

सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्द सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं कटकमुकुटाद्युपाधिरहितसुवर्णघनवद्विज्ञानचिन्मात्रस्वभावात्मा यदा भासते तदा त्वंपदार्थः प्रत्यगात्मेत्युच्यते। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। सत्यं अविनाशि। अविनाशि नाम देशकालवस्तुनिमित्तेषु विनश्यत्सु यन्न विनश्यति तदविनाशि। ज्ञानं नामोत्पत्तिविनाशरहितं नैरन्तर्यं ज्ञानमित्युच्यते। अनन्त नाम मृद्विकारेषु मृदिव स्वर्णविकारेषु

स्वर्णमिव तन्तुविकारेषु त तुरिवाव्यक्तादिसृष्टिप्रपंचेषु पूर्णं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्यु यते। आनन्दं नाम सुखचैतन्यस्वरूपोऽपरिमितानन्दसमुद्रोऽवशिष्टसुखस्वरूपश्चानन्द इत्युच्यते ॥१२

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की उत्पत्ति तथा लय को जानने वाला, फिर भी स्वयं उत्पत्ति और लय से रहित आत्मा साक्षी कहलाता है ।९। ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब प्राणियों की बुद्धि में रहने वाला और उनसे स्थूल, सूक्ष्म आदि देहों के नाश होने पर जो शेष रहा दिखलाई देता है वह कूटस्थ कहा जाता है ।। १० ।। इन कूटस्थ आदि उपाधि के भेदों में से स्वरूप लाभ के लिए, जो आत्मा समस्त शरीर में माला के धागे की तरह पिरोया जान पड़ता है, वह अन्तर्यामी कहलाता है ।।११।। सत्य, ज्ञान, आनन्द और आनन्दरूप, सर्व उपाधि से रहित, और कड़ा, मुकुट आदि की उपाधि से रहित केवल सोना जैसा ज्ञान और चैतन्य रूप आत्मा जब भासमान होता है, तब उसे 'त्व' नाम से पुकारा जाता है । ब्रह्म सत्य, अनन्त और ज्ञान रूप है । जो अविनाशी है वह सत्व कहलाता है । देश, काल, वस्तु आदि निमित्तों का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता वही अविनाशी है । उत्पत्ति और विनाश से रहित, नित्य चैतन्य को ज्ञान कहते हैं । मिट्टी से बनी हुई वस्तुओं में सोने की तरह और सूत की बनी वस्तुओं में सूत की तरह, समस्त सृष्टि में पूर्ण और व्यापक बना हुआ जो चैतन्य है, वह अनेक कहलाता है । जो सुखमय चैतन्य स्वरूप है, अपरिमित आनन्द का समुद्र है और शेष रहे सुख का स्वरूप है, वह आनन्द कहलाता है ।।११।।

एतद्वस्तुचतुष्टयं यस्य लक्षणं देशकालवस्तुनिमित्तेष्वव्यभि..चारी तत्पदार्थः परमात्मेत्युच्यते ॥१३

त्वंपदार्थादौपधिकात् तत्पदार्थादौपाधिकभेदाद्विलक्षणमाकाशवत सूक्ष्मं केवल सत्तामात्रस्वभाव परं ब्रह्मेत्युच्यते ॥१४

माया नाम—अनादिरन्तवती प्रमाणाऽप्रमाणसाधारणा न सती नासती न सदसती स्वयमधिका विकाररहिता निरूप्यमाणा सतीतरलक्षणशून्या सा मायेत्युच्यते । अज्ञानं तु छाऽप्यसती कालत्रयेऽपि पामराणां वास्तवी च सत्त्वबुद्धिर्लौकिकानामिदमित्यविर्वचनीया वक्तुं न शक्यते ॥१५

ये चार (अर्थात् सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द) वस्तु जिसके लक्षण हैं और देश, काल, वस्तु आदि निमित्तों के होने पर भी जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, उसी को 'तत्' पदार्थ अथवा परमात्मा कहते हैं ॥१३॥ ये दोनों त्वं और तत पदार्थ उपाधि वाले भेदों से पृथक् आकाश की तरह सूक्ष्म और केवल सतरूप तत्व परब्रह्म कहलाते हैं ॥ १४ ॥ जो अनादि तो है पर जिसका अन्त हो जाता है जो न असत् और न सदसत्, स्वयमेव सबसे अधिक विकार रहित दिखाई पड़ने वाली शक्ति को माया कहते हैं। उसका वर्णन इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता। यह माया अज्ञानरूप, तुच्छ और मिथ्या है, पर मूढ़ मनुष्यों को तीनों काल में वह वास्तविक ही जान पड़ती है, इसलिये यह कहकर कि वह ऐसी ही है, उसका यथार्थ रूप समझाया नहीं जा सकता। १५॥

नैवं भवाम्यहं देहो नेन्द्रियाणि दशैव तु ।
न बुद्धिर्न मनः शश्वन्नाहङ्कारस्तथैव च ॥१६

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो बुद्ध्यादीनां हि सर्वदा ।
साक्ष्यहं सर्वदा नित्यश्चिन्मात्रोऽहं न संशयः ॥१७

नाहं कर्ता नैव भोक्ता प्रकृतेः साक्षिरूपकः ।
मत्सान्निध्यात् प्रवर्तन्तते देहाद्या अजडा इव ॥१८

स्थाणुर्नित्यः सदानन्दः शुद्धो ज्ञानमयोऽमलः ।
आत्माऽहं सर्वभूतानां विभुः साक्षी न संशयः ॥१९
ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्तवेद्यं नाहं वेद्यं व्योमवातादिरूपम् ।
रूपं नाहं नाम नाहं न कर्म ब्रह्मैवाहं सच्चिदानन्दरूपम् ॥२०
नाहं देहो जन्ममृत्यु कुतो मे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे ।
नाहं चेतः शोकमोहौ कुतो मे नाहं कर्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे ॥
इत्युपनिषत् ॥२१

मैं उत्पन्न नहीं होता हूँ, मैं दश इन्द्रियरूप नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, मन नहीं हूँ और नित्य अहंकार भी नहीं हूँ ॥ १६ ॥ मैं तो सदैव बिना प्राण और बिना मन के शुद्धस्वरूप हूं, बिना बुद्धि का साक्षी हूँ और हमेशा चित स्वरूप हूँ इसमें संशय नहीं ॥ १७ ॥ मैं कर्त्ता नहीं हूँ और भोक्ता भी नहीं हूँ, परन्तु केवल प्रकृति का साक्षी हूँ और समीपत्व के कारण देह आदि को सचेतपन का आभास होता है और वह वैसी ही क्रिया करते हैं ॥ १८ ॥ मैं तो स्थिर, नित्य, सदैव आनन्दरूप, शुद्ध ज्ञानमय और निर्मल आत्मा हूँ और सब प्राणियों में साक्षीरूप व्याप्त हो रहा हूं इसमें संशय नहीं ॥ १९ ॥ मैं समस्त वेदान्त द्वारा जाना गया ब्रह्म ही हूँ और मैं आकाश, वायु आदि जान पड़ने वाली वस्तु नहीं हूँ । मैं रूप नहीं हूं नाम नहीं हूं और कर्म नहीं हूँ वरन् केवल सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही हूँ ॥२०॥ मैं देह नहीं हूँ तो फिर मुझे जन्ममरण कहाँ से हो? मैं प्राण नहीं हूँ तो फिर मुझे भूख प्यास कैसे लगे ? मैं मन नहीं हूँ तो मुझे शोक-मोह किस बात का हो? और मैं कर्ता नहीं हूँ तो मुझे बन्धन-मोक्ष क्यों हो ? इस प्रकार का यह रहस्य है ॥२१॥

॥ सर्वसारोपनिषत् समाप्त ॥

ॐ
29/07/26

(२३) शुकरहस्योपनिषत्

ॐ सह नाववतु। सह नो भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ ब्रह्म हम दोनों का रक्षण करे, वह हम दोनों का पालन करे। हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम परस्पर द्वेष न करें। ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

अथातो रहस्योपनिषदं व्याख्यास्यामो देवर्षयो ब्रह्माणं संपूज्य प्रणिपत्य पप्रच्छुर्भगवन्नस्माकं रहस्योपनिषदं ब्रूहीति। सोऽब्रवीत्।

पुरा व्यासो महातेजाः सर्ववेदतपोनिधिः।
प्रणिपत्य शिवं साम्बं कृताञ्जलिरुवाच ह ॥१

श्री वेदव्यास उवाच—

देवदेव महाप्रज्ञ पाशच्छेददृढव्रत।
शुकयस्य मम पुत्रस्य वेदसंस्कारकर्मणि ॥२
ब्रह्मोपदेशकालोऽयमिदानीं समुपस्थितः।
ब्रह्मोपदेशः कर्त्तव्यो भवताद्य जगद्गुरो ॥३

ईश्वर उवाच—

मयोपदिष्टे कैवल्ये साक्षाद्ब्रह्मणि शाश्वते।
विहाय पुत्रो निर्वेदात्प्रकाशं यास्यति स्वयम् ॥४

श्रीवेदव्यास उवाच—

यथा तथा वा भवतु ह्युपनायनकर्मणि।
उपदिष्टे मम सुते ब्रह्मणि त्वत्प्रसादतः ॥५

सर्वज्ञो भवतु क्षिप्रं मम पुत्रो महेश्वर ।
तव प्रसादसंपन्नो लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम् ॥६

अब रहस्योपनिषत् का वर्णन किया जाता है । एक समय की बात है कि देवर्षियों ने ब्रह्माजी की पूजा की और नमस्कार करके उनसे प्रश्न किया—'भगवन् ! गूढ़ उपनिषत्तत्व का हमारे प्रति उपदेश करिये ।' इस पर ब्रह्माजी ने कहा—'प्राचीनकाल में एक समय सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता, महातेजस्वी एवम् तपोनिष्ठ वेदव्यासजी ने पार्वती सहित भगवान् शिव को प्रणाम किया और उनसे करबद्ध प्रार्थना की ॥ १ ॥ श्रीवेदव्यासजी बोले—हे देव-देव महादेव ! हे महाप्राज्ञ ! हे जीव की विश्व–पाश के छिन्न करने वाले प्रभो ! मेरे पुत्र शुकदेव के वेदाध्ययन प्रारम्भ किये जाने के लिये होने वाले यज्ञोपवीत कर्म में प्रणव और गायत्री मन्त्रोपदेश का समय आ गया है । आप संसार के गुरु हैं, इसलिए उसके प्रति ब्रह्म और परमात्मा तत्व का उपदेश करिये ॥ २–३ ॥ भगवान् शिव बोले—'हे महामुने ! साक्षात् सनातन परब्रह्म का यदि मैं तुम्हारे पुत्र को उपदेश करूँगा तो वह सब कुछ त्याग कर वैराग्य-धारण पूर्वक स्वयम् ही प्रकाश स्वरूप में स्थित हो जाएगा' ॥ ४ ॥ वेदव्यासजी ने निवेदन किया—प्रभो ! वह चाहे जो कुछ हो जाय, परन्तु इस यज्ञोपवीत संस्कार के समय आप से ब्रह्मज्ञान का उपदेश लेकर वह शीघ्र ही सर्वज्ञानी बने और आपके अनुग्रह से उसे चतुर्धा मोक्ष की प्राप्ति हो ॥ ५–६ ॥

तच्छ्रुत्वा व्यासवचनं सर्वदेवर्षिसंसदि ।
उपदेष्टुं स्थितः शम्भुः साम्बो दिव्यासने मुदा ॥७
कृतकृत्यः शुकस्तत्र समागत्य सुभक्तिमान् ।
तस्मात्स प्रणवं लब्ध्वा पुनरित्यब्रवीच्छिवम् ॥८
श्री शुक उवाच-
देवाधिदेव सर्वज्ञ सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
उमारमण भूतेश प्रसीद करुणानिधे ॥९

उपदिष्टं परब्रह्म प्रणवान्तर्गतं परम् ।
तत्वमस्यादिवाक्यानां प्रज्ञांवीदां विशेषतः ॥१०
श्रोतुमिच्छामि तत्वेन षड्ङ्गानि यथाक्रमम् ।
वक्तव्यानि रहस्यानि कृपयाद्य सदाशिव ॥११

वेदव्यासजी की इस प्रार्थना से भगवान् शिव अत्यन्त प्रसन्न हुए और भगवती उमा के सहित देवर्षियों की सभा में उपदेश देने के निमित्त गये और वहां एक दिव्य आसन पर विराजमान हुए । इसके पश्चात् श्रीशुकदेवजी ने भगवान् शिव से भक्तिपूर्वक प्रणव की दीक्षा ली और कहने लगे—'हे देवाधिदेव भूतनाथ ! हे सर्वज्ञ सच्चिदानन्द ! आप दया के भण्डार हैं, मुझ पर प्रसन्न हों । आपने मेरे प्रति प्रणवात्मा का स्वरूप और उससे भी परे स्थित परब्रह्म का उपदेश किया है । परन्तु, मैं 'तत्वमसि' 'प्रज्ञानब्रह्म' प्रभृति चारों महावाक्यों को षड्ङ्गन्यास क्रम सहित सुनने का अभिलाषी हूं । हे प्रभो ! मुझ पर अनुग्रह-पूर्वक उनका रहस्योपदेश करें ॥७-११॥

श्रीसदाशिव उवाच—

साधु साधु महाप्राज्ञ शुक ज्ञाननिधे मुने ।
प्रष्टव्यं तु त्वया पृष्टं रहस्यं वेदगर्भितम् ॥१२
रहस्योपनिषन्नाम्ना सषडङ्गमिहोच्यते ।
यस्य विज्ञानमात्रेण मोक्षः साक्षान्न संशय ॥१३
अङ्गहीनानिवाक्यानि गुरुर्नोपदिशेत्पुनः ।
सषडङ्गान्युपदिशेन्महावाक्यानि कृत्स्नशः ॥१४
चतुर्णामपि वेदानां यथोपनिषदः शिरः ।
इयं रहस्योपनिषत्तथोपनिषदः शिरः ॥१५
रहस्योपनिषद्ब्रह्म ध्यातं येन विपश्चिता ।
तीर्थैर्मन्त्रैः श्रुतैर्जप्यैस्तस्य किं पुण्यहेतुभिः ॥१६

वाक्यार्थस्य विचारेण यदाप्नोति शरच्छतम् ।
एकवारजपेनैव ऋष्यादिध्यानतश्च यत् ।। १७

भगवान् शिव ने कहा—'हे ज्ञाननिधान शुकदेव ! तुम यथार्थ ही मेधावी हो । तुमने वेदों के रहस्यरूप एवं ज्ञातव्य विषय का ही प्रश्न किया है । इसलिये मैं तुम्हारे प्रति इस रहस्योपनिषद् नामक गूढ़ रहस्य का षडंन्यास सहित वर्णन करता हूं । इसका ज्ञान होने पर निःसन्देह मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसमें उचित है कि गुरु के द्वारा अङ्गहीन वाक्यों का उपदेश नहीं किया जाय, सब महावाक्यों का षडांग सहित ही उपदेश करना चाहिये । जैसे चारों वेदों में उपनिषद् भाग सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही सम्पूर्ण उपनिषदों में यह रहस्योपनिषद् सर्वश्रेष्ठ है । जिस विचारक ने इस उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म का चिन्तन किया है, उसे पुण्य के कारणभूत तीर्थस्नान, वेदपाठ, मन्त्रपाठ तथा जप आदि से कुछ प्रयोजन नहीं है । सौ वर्षों तक महावाक्यों के अर्थों पर विचार करने से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल वाक्यों के ऋष्यादि के स्मरण तथा चिन्तनादि से एक बार जप करने से ही मिल जाता है ।। १२-१३।।

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः । अव्यक्त-गायत्री छन्दः परमहंसो देवता । हं बीजम् । सः शक्तिः । सोऽहं कीलकम् । मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः । सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अङ्गुष्टाभ्यां नमः । नित्यानन्दो ब्रह्म तर्जनीभ्यां स्वाहा ।। नित्यानन्दमयं ब्रह्म मध्यमाभ्यां वषट् । योवै भूमा अनामिकाभ्यां हुम् । यो वै भूमाधिपतिः कनिष्ठकाभ्यां वौषट् । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म हृदयाय नमः । नित्यानन्दो ब्रह्म शिरसे स्वाहा । नित्यानन्द-मयं ब्रह्म शिखायै वषट् । यो वै भूमा कवचाय हुम् । यो वं

भूमाधिपतिः नेत्रत्रयाय वोषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म अस्त्राय फट्। भूर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः। ध्यानम्। नित्यानन्द परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति। विश्वातीतंगगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम्॥ एक नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं। भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरु तं नमामि॥१

अथ महावाक्यानि चत्वारि। यथा। ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म॥१॥ ॐअहं ब्रह्मास्मि॥२॥ ॐ तत्त्वमसि॥३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म॥४॥ तत्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जपन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तभाजो भवन्ति॥ तत्पदमहामन्त्रस्य। परमहंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हंबीजम्। सःशक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम सायुज्यमुक्त्यर्थे जपे विनियोगः। तत्पुरुषाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ईशानाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। अघोराय मध्यमाभ्यां वषट्। सद्योजाताय अनामिकाभ्यां हुम्। वामदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्॥ तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्यो नमः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृद्यादिन्यासः। भूर्भवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ ध्यानम्। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च। सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपं ध्याये देवं त महोभ्राजमानम्॥ त्वंपदमहामन्त्रस्य विष्णुर्ऋषिः। गायत्रीछन्दः। परमात्मा देवता। ऐं बीजम्। क्लीं शक्तिः सौः कीलकम्। मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः। वासुदेवाय अंगुष्ठाभ्यां नमः संकर्षणाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। प्रद्युम्नाय मध्यमाभ्यां वषट्। अनिरुद्धाय अनामिकाभ्यां हुम्। वासुदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ ध्यानम्॥ जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्डविग्रहम्। चित्ताहङ्कारयन्तारं जीवाख्यं त्वंपदं भजे। असिपदमहामन्त्रस्य मन ऋषिः। गायत्री

छन्दः । अर्धनारीश्वरो देवता अव्यक्तादिर्बीजम् । नृसिंहः शक्तिः । परमात्मा कीलकम् । जीवब्रह्मैक्यार्थे जपे विनियोगः । पृथ्वीद्व्यणुकाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। अब्द्व्यणुकाय तर्जनीभ्यां स्वाहा । तेजोद्व्यणुकाय मध्यमाभ्यां वषट् । वायुद्व्णुकाय अनामिकाभ्यां हुम् । आकाशद्व्यकेभ्यःकरतलकरपृष्ठाभ्यांफट । भूर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥ ध्यानम् ॥ जीवो ब्रह्मेति वाक्यार्थं यावदस्ति मनः स्थितः। ऐक्यं तत्वं लये कुर्वन्ध्यायेदसिपदं सदा ॥ एव महावाक्यषड्ङ्गान्युक्तानि ॥

अथ रहस्योपनिषद्विभागशो वाक्यार्थश्लोकाः प्रो यन्ते ॥
येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्यकरोति च ।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१

चतुर्मुखेन्द्रेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥२

ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म, ॐ अहंब्रह्मास्मि, ॐ तत्वमसि, ॐ अयमात्मा ब्रह्म—यह चार महावाक्य हैं। इनमें से प्रथम महावाक्य अभेद का प्रतिपादक है। उसका जो पुरुष जप करते हैं वे भगवान् की सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं। रहस्योपनिषत् के विभागानुसार वाक्यों के अर्थवाचक श्लोकों का वर्णन किया जाता है। प्राणी जिसके द्वारा देखता सुनता, सूँघता, कहता और स्वाद ग्रहण करता है, वह प्रज्ञान कहा जाता है। ब्रह्मा, इन्द्र, सम्पूर्ण देवता, मनुष्य, अश्वादि पशु तथा अन्य सभी प्राणियों में एक ही चेतन तत्व ब्रह्म अवस्थित है, वही प्रज्ञान ब्रह्म मुझमें भी रमा हुआ है ॥ १–२ ॥

परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे विद्याधिकारिणी ।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥३

स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ।।४
एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपंविवर्जितम् ।
सृष्टिः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदतीर्थते ।।५
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वं पदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥६
स्वप्रकाशपरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहङ्कारादिदेहान्तं प्रत्यगात्मेति गीयते ।।७
दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।।८

यह मनुष्य देह ही ब्रह्मविद्या प्राप्ति का अधिकारी है, इसमें साक्षिरूप से स्थित परमात्मा बुद्धि के स्फुरित होने पर 'अहं' कहलाता है । पूर्ण परमात्मा ही यहाँ 'ब्रह्म' कहा गया है और 'अस्मि' शब्द से अपनी और ब्रह्म की एकता का बोध होता है । इस प्रकार मैं ब्रह्म स्वरूप हूं ।। ३-४ ।। सृष्टि से पहले द्वैत के अस्तित्व से शून्य नाम-रूप रहित सत्ता थी तथा वह सत्ता अब भी उसी प्रकार स्थित है वह ब्रह्म 'तत्' पद से प्रतिपादित है । उपदेश सुनने वाले शिष्य को जो शरीर इन्द्रियों से परे के समान है, वही 'त्वव' पद से कहा गया है । 'असिपद' के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ ब्रह्म और जीव का एकत्व है । उसी एकत्व का अनुभव करना चाहिए । 'अयम्' के द्वारा स्वयं प्रकाशित रूप का वर्णन किया है । अहंभाव से लेकर शरीर तक को प्रत्यगात्मा कहा है । इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् में स्थित व्यापक तत्व ही ब्रह्म है ! वही स्वयंप्रकाश एवं आत्मरूप है ।।५-८।।

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम् ।
स्वरूपसूर्येभ्युदिते स्फुटोक्तगुंरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः ।।९

वाच्यं लक्ष्यमिति द्विधार्थसरणीवाच्यस्य हि त्वंपदे वाच्यं भौतिकमिन्द्रियादिरपि यल्लक्ष्यं त्वमर्थश्च सः ।
वाच्यं तत्पदमीशताकृतन्त्रतिर्लक्ष्यं तु सच्चित्सुखानन्दब्रह्म तदर्थ एष च तथोरैक्यं त्वसीदं पदम् ॥१०

त्वमिति तदिति कार्ये कारणे सत्युपाधौ द्वितियमिरथेकं सच्चिदानन्दरूपम् ।
उभयवचनहेतू देशकालो च हित्वा जगति भवति सोयं देवदत्तो यथैकः ॥११

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोमाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्वबोधोऽवशिष्यते ॥१२
श्रवण तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम् ।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम् ॥१३

अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत् ।
ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम ॥१४
महावाक्यान्युपदिशेत्सडङ्गानि देशिकः ।
केवलं नहि वाक्यानि ब्रह्मणो वचनं यथा ॥१५

अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि के कारण में अज्ञान के अन्धेरे में पड़कर 'मैं,' 'मेरे' की मोहात्मक स्थिति में पहुँच गया। गुरुदेव द्वारा महा वाक्य पदों का उपदेश प्राप्त कर आत्मस्वरूप रूपी सूर्य के प्राकट्य से मेरी निद्रा भङ्ग हो गई है। महावाक्यों के अर्थ-ज्ञान के निमित्त वाच्य और लक्ष्य दोनों का ही अनुसरण करे। वाच्यानुसार इन्द्रियादि भी 'त्वं' के वाक्य होते हैं, परन्तु इन्द्रियादि से परे विशुद्ध चेतन ही लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार 'तत्' का वाच्य सर्वज्ञात्मक, ईश्वरत्व से सम्पन्न आदि गुण वैशिष्ठ्य परमात्मा और लक्ष्यार्थ सच्चिदानन्दमय ब्रह्म है। इसलिए यहां 'असि' पद से दोनों पदों के लक्ष्यार्थ द्वारा जीवात्मा और ब्रह्म के

एकीभाव का प्रतिपादन किया गया है। कार्य और कारणरूप उपाधि के द्वारा ही 'त्व' और 'तत्' में भेद है ! उपाधि-रहित होने पर दोनों एक सच्चिदानन्द ही हैं। संसार में भी 'यह वही अमुक है, इसमें से 'यह' और 'वही' निकाल देने पर अन्तर-रहित अमुक ही रहता है। यह जीव कार्य-रूप उपाधि वाला और ब्रह्म कारणरूप उपाधि वाला है। इन कार्य और कारणरूप उपाधि का त्याग कर देने पर ज्ञान स्वरूप ही शेष रहता है ॥ ६-१२ ॥ पूर्णज्ञान तभी हो सकता है जब प्रथम गुरु के द्वारा सुने। फिर मनन करे और उसके पश्चात् निदिध्यासन करे। अन्य विद्याओं का भले प्रकार प्राप्त हुआ ज्ञान भी अवश्य ही नाशवान् है परन्तु ब्रह्मविद्या का भलीभाँति ज्ञान स्थिर ब्रह्म को प्राप्त कराने में समर्थ है। ब्रह्माजी का आदेश है कि गुरु अपने शिष्य को षडंग से युक्त महावाक्यों का उपदेश दे, महावाक्य मात्र का ही उपदेश न दे ॥१३-१४॥

ईश्वर उवाच—

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठ रहस्योपनिषच्छुकः ।
मया पित्रानुनोतेन व्यासेन ब्रह्मवादिना ॥१६
ततो ब्रह्मोपदिष्टं वै सच्चिानन्दलणक्षम् ।
जीवन्मुक्तः सदा ध्यायन्नित्यस्त्वं विहरिष्यसि ॥१७
यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ॥
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥१८
उपदिष्टः शिवेनेति जगत्तमन्यतां गतः ।
उत्थाय प्रणिपत्यशं त्यक्ताशेषंपरिग्रहः ॥१९
परब्रह्मपयोराशो प्लवन्निव ययो तदा ।
प्रव्रजन्तं तमालोक्य कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥२०
अनुव्रजन्नाजुहाव पुत्रविश्लेषकातरः ।
प्रतिमेदुस्तदा सर्वे जगत्स्थावरजङ्गमाः ॥२१

तच्छ्रुत्वा सकलाकारं व्यासः सत्यवतीसुतः ।
पुत्रेण सहितः प्रीत्या परानन्दमुपेतिवान् ॥२२
यो इहस्योपनिषदमधीते गुर्वनुग्रहात् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षात्कैवल्यमश्नुते साक्षात्कैव-
ल्यमश्नुते इत्युप निषत् । ॥२३॥

भगवान् शिव ने कहा—'हे शुकदेव ! तुम्हारे पिता वेद व्यासजी ब्रह्मज्ञानी हैं, उन पर प्रसन्न होकर ही मैंने तुम्हारे प्रति इस रहस्योपनिषद् को कहा है । इसमें सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का ही वर्णन है । तुम उस ब्रह्म का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त हो जाओगे । जो ॐकार रूप स्वर वेद के प्रारम्भ में उच्चरित होता है तथा जो वेदान्त में स्थित है, उसकी प्रकृति में आत्मसात होने पर जो उससे परे रहता है, वही महिमामय ईश्वर है, ॥ २६-२८ ॥ भगवान् शिव के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर शुकदेवजी सम्पूर्ण विश्व में तन्मय हो गये । फिर उठकर भगवान् को प्रणाम कर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर परमब्रह्म रूप सागर में तैरने के समान आनन्द में निमग्न होकर वहाँ से चल दिये । उन्हें जाते देखकर श्री वेदव्यासजी पुत्र के वियोग में कातर हुए उनके पीछे चलते हुए पुकारने लगे । उस समय उनकी पुकार का प्रत्युत्तर संसार के सम्पूर्ण जड़-चेतन पकार्थों ने दिया । उस उत्तर को श्रवण कर अपने पुत्र को सम्पूर्ण विश्वमय देखकर व्यासदेवजी ने शुकदेवजी के समान ही परमानन्द की प्राप्ति की ॥ १६-२२ ॥ जो पुरुष गुरु के अनुग्रह से इस रहस्योपनिषद् को समझ लेता है, वह सब पापों से मुक्त होकर कैवल्यपद को प्राप्त होता है ॥२३॥

॥ शुकरहस्योपनिषद् समाप्त ॥

(२४) मन्त्रिकोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से ही पूर्ण बनता है । पूर्ण में से पूर्ण लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शांतिः शांति, शांति ।

अष्टपादं शुचिं हंसं त्रिसूत्रमणुमव्ययम् ।
त्रिवर्त्मानं तेजसोऽहं सर्वतः पश्यन् न पश्यति ॥१
भूतसंमोहने काले भिन्ने तमसि वै खरे ।
अतः पश्यन्ति सत्त्वस्था निर्गुणं गुणगह्वरे ॥२
अशक्यः सोऽन्यथा द्रष्टुं ध्यायमानः कुमारकैः ।
विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् ॥३
ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः ।
सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत् ॥४
गौरवाद्यन्तवती स्याज्जनित्री भूतभावनी ।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः ॥५

ॐ । आठ पाद वाला, उज्ज्वल, तीन सूत्र वाला, सूक्ष्म, अविनाशी, तीन मार्ग वाला और 'सोऽहं' (वह ही मैं हूं) ऐसे तेजयुक्त सुप्रकाशित आत्मा को मनुष्य सर्वत्र अनुभव करते हैं, तो भी उसे देख नहीं पाते ॥१॥ वह आत्मा निर्गुण है, तो भी गुण रूपी गुफा में घुसा हुआ है । इसलिए जब प्राणियों को मोह उत्पन्न करने वाला, काला घोर अन्धकार नष्ट हो जाता है, तब सत्वगुण में स्थिर रहने वाले पुरुष उसे अन्तःकरण में देखते हैं ॥२॥ अन्य किसी प्रकार से ध्यान किया जाय, तो अज्ञानी मनुष्य उसे देख नहीं सकते, क्योंकि उस अवस्था में विकारों को उत्पन्न करने वाली, अज्ञान से युक्त, आठ रूप वाली अजन्मा और अविचल

'माया' का ही ध्यान करते हैं। यह माया अभ्यास के कारण ही जान पड़ती से, उसी से विस्तार को प्राप्त होती है और प्रेरित होती है। वास्तव में तो यह हंस ही पुरुषार्थ को उत्पन्न करता है और उसी के द्वारा जगत अधिष्ठित है ॥३-४॥ यह माया मानो परमात्मा की कामधेनु है, आदि अन्त-रहित है, सबकी माता है, प्राणी मात्र का पोषण करने वाली है। यह श्वेत, काली और लाल है और समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली है ॥५॥

पिवत्येनामविषयामविज्ञाता कुमारकः।
एकस्तु पिवते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगः ॥६
ध्यानक्रियाभ्यां भगवान् भुङ्क्तेऽसौ प्रसहद्विभुः
सर्वसाधारणीं दोग्ध्री पीयमानां तु यज्वभिः ॥७
पश्यन्त्यस्यां महात्मनः सुवर्णं पिप्पलाशनम्।
उदासीनं परंहसं स्नातकाध्वर्यवो जगुः ॥८
शंसन्तमनुशंसति वह्वृचाः शास्त्रकोविदः।
रथन्तर बृहत्साम सप्तवेधैस्तु गीयते ॥९
मन्त्रोपनिषदं ब्रह्म पदक्रमसमन्वितन्।
पठन्ति भार्गवाह्यते ह्यतेर्वाणो भृगूत्तमाः ॥१०

अज्ञानी जीव इस गाय को दुहते हैं, क्यों कि वह अविषय और अविज्ञात है। केवल एक परमात्मा ही इस जगत में सबको वश में रखकर उसमें पिरोया हुआ और स्वतन्त्र रहकर इस माया को पीता है ॥ ६ ॥ यह भगवान् सबके लिये सामान्य रूप से दुहती और याज्ञिकों द्वारा दी जाती हुई इस मायारूप गाय को ध्यान तथा क्रिया द्वारा भोगता है, अत्यन्त सहन करता है, और व्यापक रहता है ॥७॥ महात्मागण उत्तम वर्ण वाले (संसार रूप) पीपल का फल खाते हैं, और उदासीन तथा अविनाशी हंस की माया में देखते हैं। उसी को स्नातक और अध्वर्यु गण गाते हैं ॥ ८ ॥ शास्त्रों में कुशल अनेक ऋग्वेदी स्तुति करने वालों के

पीछे-पीछे इस हंस की स्तुति करते हैं और इसी के लिए रथन्तर नाम का 'वृहत साम' सात तरह से गाया जाता है ॥९॥ मन्त्रों का रहस्य ही ब्रह्म है, उसी को भार्गव गोत्र के उत्तम भृगुवंशी अथर्ववेदी पद और क्रम के साथ पढ़ते हैं ॥ १० ॥

सब्रह्मचारी व्रत्यश्च स्तम्भोऽथ फलितस्तथा।
अनड्वाड्रोहितोच्छिष्टः पश्यन्तो बहुविस्तरम् ॥११
कालः प्राणश्च भगवान् मत्यूः शर्वो।
भवश्च रुद्रश्च शरावान् साधुरस्तथा ॥१२
प्रजापतिर्विराट् चैव पूष्णः सलिल एव च।
स्तूयते मन्त्रसंस्तुत्यैरथर्वविदितैर्विभुः ॥१३
तं षड्विंशक इत्येके सप्तविंश तथाऽपरे।
पुरुषं निर्गुणं सांख्यमथर्वशिरसो विदुः ॥१४
चतुर्विंशतिसंख्यातं व्यक्तमव्यक्तमेव च।
अद्वैतं द्वैतमित्याहुस्त्रिधा तं पंचधा तथा ॥१५

यह परमात्मा ब्रह्मचारी की वृत्ति वाला, स्तम्भ के समान अडिग संसार के रूप में फलयुक्त, संसार की गाड़ी को चलाता हुआ, लाल रङ्ग का, सबका त्याग करने पर शेष रहा हुआ और बड़े विस्तार के साथ देखने वाला है ॥ ११ ॥ यही भगवान् काल, प्राण, मृत्यु, शर्व, महेश्वर, उग्र, भव, रुद्र, देवों और असुरों सहित है । १२ ॥ यही व्यापक पुरुष प्रजापति, विराट और जल रूप होकर स्तुति करने योग्य अथर्ववेद में प्रसिद्ध नामों द्वारा स्तुति किया जाता है ॥ १३ ॥ उसी को कितने ही छब्बीसवाँ तत्व बतलाते हैं, कितने ही सत्ताईसवाँ तत्व कहते हैं और अथर्ववेद का उपनिषद् उसे निर्गुण सांख्यपुरुष कहता है ॥ १४ ॥ फिर कितने ही उसे चौबीसवीं सख्या वाला कहते हैं, कितने ही व्यक्त, कितने ही अव्यक्त, कितने ही द्वैत और कितने ही अद्वैत कहते हैं। इसी प्रकार कितने ही उसे तीन प्रकार का कहते हैं और कितने ही पाँच प्रकार का वर्णन करते हैं ॥१५॥

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।
तमेकमेव पश्यन्ति परिशुभ्रं विभुं द्विजाः ॥१६
यस्मिन् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम् ।
तस्मिन्नेव लयं याति स्रवन्त्यः सागरे यथा ॥१७
यस्मिन् भावाः प्रलीयन्ते लीनाश्चाव्यक्ततां ययुः ।
पश्यन्ति व्यक्ततां भूयो जायन्ते बुद्बुदा इव ॥१८
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चैव कारणैर्विद्यते पुनः ।
एवं स भगवान् देवः पश्यन्त्यन्ये पुनः पुनः ॥१९
ब्रह्म ब्रह्ममित्यथायान्ति ये विदुर्ब्राह्मणास्तथा ।
अत्रैव ते लयं यान्ति लीनाश्चव्यक्तशालिनः ।।
लीनाश्चव्यक्तशालिन इत्युपनिषत् ॥२०

कितने ही ज्ञानदृष्टि वाले ब्राह्मण ब्रह्मा से लेकर जड़ पदार्थ तक के समस्त जगत को एक ही अति उज्ज्वल रूप वाले प्रभु के रूप में देखते हैं ॥१६॥ यह स्थावर-जङ्गम सर्व जगत जिसमें पिरोया है, वही ब्रह्म है, और नदियाँ जिस प्रकार समुद्र में लय पाती हैं उसी प्रकार सब कुछ इस ब्रह्म में ही लय होता है ॥ १७ ॥ जिस प्रकार बुलबुला प्रकट रूप से पानी में उत्पन्न होता है और पानी में ही लय हो जाता है, इसी प्रकार जिसमें पदार्थ जन्म लेते हैं, जिसमें वे लय पाकर अस्पष्ट रूप में चले जाते हैं, उसी ब्रह्म को ज्ञानी देखते हैं ॥ १८ ॥ वह क्षेत्रज्ञ रूप से सब में रहता है, और कारणों को देखकर जाना जाता है। ऐसा जो क्षेत्रज्ञ भगवान् है, उसी को ज्ञानी बारम्बार देखते हैं। १९।। जो ब्राह्मण ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म को ही पाते हैं, उसमें लय होकर वे अव्यक्त रूप से ही शोभा देते हैं ॥२२॥ ऐसा यह रहस्य है ।

मन्त्रिकोपनिषत् समाप्त ॥

(२५) प्रणवोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ ब्रह्म हम दोनों का रक्षण करे, वह हम दोनों का पालन करे। हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम परस्पर द्वेष न करें। ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

परस्ताद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
रहस्यं ब्रह्मविद्यायां घृताग्निं संप्रचक्षते ॥१
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः ।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानकालत्रयं तथा ॥२
तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः ।
तिस्रो मात्रार्धमात्रा च प्रत्यक्षस्य शिवस्य तत् ॥३
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च ।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥४
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
विष्णुश्च भगवान् देव उकारः परिकीर्तितः ॥५
सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च ।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥६

उस विलक्षण कर्मकर्ता परब्रह्म विष्णु की ब्रह्मविद्या का रहस्य निरूपित किया जाता है ॥ १॥ ब्रह्मवेत्ताओं ने जो "ॐ" को एकाक्षर

ब्रह्म कहा है, उसके शरीर स्थान तथा कालत्रय का अब निरूपण किया जाता है ॥२॥ उस ॐकार में तीन देव, तीन लोक, वेदत्रय तथा तीन अग्नियाँ कही गई हैं, साथ ही तीनों मात्रा, अर्धमात्रा भी उसमें निहित है क्योंकि वह उस परम शिवतत्व का ही स्वरूप है ॥३॥ ऋग्वेद, गार्हपत्य (अग्नि), पृथिवी व ब्रह्म ये तत्व ब्रह्मवेत्ताओं ने "ॐ" के तीन अक्षर 'अ' 'उ' 'म्' जो पहला अक्षर 'अ' है उसमें स्थित बताये हैं। इन सबका स्वरूप वह 'अ' है ॥ ४ ॥ यजुर्वेद आकाश, दक्षिणाग्नि तथा देवश्रेष्ठ भगवान् विष्णु का स्वरूप 'उ'कार को कहा गया है ॥५॥ सामवेद, स्वर्ग, आहवनीय (अग्नि), परम देव शंकर का स्वरूप 'म' कार को बताया गया है ॥६॥

सूर्यमण्डलमभाति ह्यकारश्चन्द्रमध्यगः ।
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥७
मकारश्चाग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः ।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्नितेजसः ॥८
शिखा च दीपसंकाशा यस्मिन्नु परिवर्तते ।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥९
पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा ।
नासादिसूर्यसंकाशा सूर्य हित्वा तथापरम् ॥१०
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडिभित्त्वा तु मूर्धनि ।
वरदं सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति ॥११
कांस्यघण्टानिनादः स्याद्यदा लिप्यति शान्तये ।
ओङ्कारस्तु तथा योज्यः श्रुतये सर्वमिच्छति ॥१२
यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते ।
सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१३

साथ ही जो 'आ' कार है वह चन्द्र मण्डल के समीप स्थित सूर्य मण्डल का स्वरूप भी है। चन्द्रस्वरूप 'उ'कार इस ॐकार के मध्य में (बीच में) स्थित है। तथा अग्निस्वरूप, जिस अग्नि में धुँए का नाम भी नहीं है तथा जो कि बिजली के समान तेजस्वी है उसका ही स्वरूप 'म' कार है। चन्द्रमा, सूर्य, तथा अग्नि के तेज की तीनों मात्रायें भी इन्हें समझना चाहिये। दीप की शिखा के समान जिसमें कि शिखा ऊपर विद्यमान है वह ॐकार के ऊपर स्थित अर्द्धचन्द्र अर्धमात्रा का स्वरूप समझना चाहिये ।।९।। दूसरी कमलसूत्र के समान सूक्ष्म शिखा के समान दृष्टिगोचर होती है, वह नासारन्ध्र से सूर्य के समान तेजस्वी सूर्य के मण्डल का भेदन कर बहत्तर हजार नाड़ियों के ऊपर सब प्राणियों को वरदान देने वाली तथा सब को व्याप्त करके स्थित ।। १०-११ ।। जब मोक्ष के पास मुमुक्ष होता है। (पहुँचता है) तो काँसी के घण्टे का-सा शब्द होता है इस ॐकार को इसी स्वरूप का समझना चाहिये। यह वेद-स्वरूप है इसे सुनना सभी चाहते हैं ।।१२।। जिसमें वह 'ओंकार' शब्द लीन हो जाता है वह ही ब्रह्म कहा जाता है। वह अमरत्व को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। यह निश्चित है ।।१३।।

।। प्रणवोपनिषत् समाप्त ।।

(२६) निरालम्बोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ । यह ब्रह्म पूर्ण है, वह जगत पूर्ण है, इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है । इस पूर्ण ब्रह्म में से इस पूर्ण जगत को निकाल लें तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्दमूर्तये । निष्पञ्चय शान्ताय निरालम्बाय तेजसे । । निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते । । एषामज्ञानजन्तूनां समस्तारिष्टशान्तये । यद्यद्बोद्धव्यमखिलं तदाशंक्य ब्रवीम्यहम् ।। किं ब्रह्म । क ईश्वरः । को जीवः । का प्रकृतिः । कः परमात्मा । को ब्रह्मा । को विष्णुः । को रुद्रः । कः इन्द्रः । कः शमनः । कः सूर्यः । कश्चन्द्रः । के सुराः । के असुराः । के पिशाचाः के मनुष्याः । काः स्त्रियः । के पश्वादयः । किं स्थावरम् । के ब्राह्मणादयः । का जातिः । किं कर्म । किमकर्म । किं ज्ञानम् । किमज्ञानम् । किं सुखम् किं दुःखम् । कः स्वर्गः । को नरकः । को बंधः । को मोक्षः । कः उपास्यः । कः शिष्यः । को विद्वान् । को नटकः । को मूढ़ः । किमासुरम् । किं तपः । किं परमं पदम् । किं ग्राह्यम् । किमग्राह्यम् । कः संन्यासीत्याशंक्याहब्रह्मोति ।१-३।

ॐ । शिव गुरु, सच्चिदानन्द मूर्ति, प्रपंच रहित, शान्त और आश्चर्य रहित, तेजरूप परमात्मा को नमस्कार, जो आलम्बन (अर्थात् आधार) से रहित, तत्व के आश्रय रहकर आधार वाली वस्तुओं को छोड़ देता है, वही संन्यासी अथवा योगी मोक्ष प्राप्त करता है ।।१।। इन

अज्ञानी प्राणियों के समस्त दुःखों की शान्ति के लिये जो कुछ जानना आवश्यक है वह सब यहाँ मैं शंका के रूप में कहता हूँ ॥२॥ ब्रह्म क्या ? ईश्वर कौन ? जीव कौन ? प्रकृति क्या ? परमात्मा कौन ? ब्रह्म कौन ? विष्णु कौन ? रुद्र कौन ? यम कौन ? सूर्य कौन ? चन्द्र कौन ? देवता कौन ? असुर कौन ? पिशाच-क्या ? मनुष्य क्या? स्त्री क्या ? पशु आदि क्या ? स्थावर क्या ? ब्राह्मण आदि क्या ? जाति क्या ? कर्म क्या ? अकर्म क्या ? ज्ञान क्या ? अज्ञान क्या ?सुख क्या ? दुःख क्या ? स्वर्ग-नरक क्या ? बन्ध क्या ? मोक्ष क्या ? उपासना करने योग्य कौन ? शिष्य कौन ? विद्वान कौन ? मूर्ख कौन ? आसुरी क्या ? तप क्या ? परम पद क्या ? ग्रहण करने योग्य क्या ? नहीं ग्रहण करने योग्य क्या ? सन्यासी कौन ? इस प्रकार शंका करके उन्होंने इस प्रकार ब्रह्म का रूप कहा ॥६॥

स होवाच महदहंकारपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशत्वेन बृहद्रूपेणाण्डकोशेन कर्मज्ञानार्थरूपया भासमानमद्वितीयमखिलापाधिविनिर्मुक्तं तत्सकलशक्त्युपबृंहितमनाद्यनन्तं शुद्धं शिवं शान्तं निर्गुणमित्यादिवाच्यतनिर्वाच्यं चैतन्यंब्रह्म ।। ईश्वर इति च ।। ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामाश्रित्य लोकान्सृष्ट्वाप्रविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृत्वादीश्वरः ।। जीव इति च ब्रह्मविष्णवीशानेन्द्रादीनां नामरूपद्वारा स्थूलोऽहमिति मिथ्याध्यासवंशाज्जीवः । सोऽहमेकोऽपि देहारम्भकभेदवशाद्बहुजीवः । प्रकृतिरिति च ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः। परमात्मेति चदेहादेः परतरत्वाद्ब्रह्मैव परमात्मा स ब्रह्मा स विष्णुः स इन्द्रः स शमनः स सूर्यः स चन्द्रस्ते सुरास्ते असुरास्ते पिशाचास्ते मनुष्यास्ताः स्त्रियस्ते पश्वादयस्तत्स्थावरं ते ब्राह्मणादयः । सर्वंखल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन । ४-६

महत्त्व, अहङ्कार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश रूप में उसी प्रकार ब्रह्माण्ड रूप में तथा कर्म-ज्ञान-अर्थ रूप में भासमान होने पर भी, इन समस्त उपाधियों से रहित, अद्वितीय, समस्त शक्तियों से युक्त, आदि-अन्त रहित, शुद्ध, पवित्र, शान्त, निर्गुण और अवर्णनीय ऐसा जो चैतन्य है परब्रह्म कहलाता है। अब ईश्वर का स्वरूप कहते हैं। यह ब्रह्म ही जब अपनी प्रकृति नाम की शक्ति का आश्रय लेकर लोकों को उत्पन्न करता है और अन्तर्यामी रूप से उनमें प्रवेश करके ब्रह्मा आदि जीवों की बुद्धि, इन्द्रियों आदि को नियम में रखता है, तब वह ईश्वर कहलाता है ॥४॥ जब इस चैतन्य को ब्रह्मा विष्णु, शङ्कर, इन्द्र आदि नाम और रूप द्वारा यह मिथ्या देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है कि, मैं स्थूल हूँ" तब वह जीव कहा जाने लगता है। यह चैतन्य 'सोऽहं के रूप में एकत्व का अनुभव करता है, पर भिन्न भिन्न शरीर के कारण वह जीव रूप बन जाता है ॥५॥ प्रकृति वह है जिसमें अनेक प्रकार के विचित्र जगतों को रचने की सामर्थ्य है। ऐसी ब्रह्म की बुद्धिरूप शक्ति को प्रकृति कहा जाता है। परमात्मा अर्थात् देह आदि से अत्यन्त परे रहने वाला ब्रह्म ही परामात्मा कहलाता है, और यही ब्रह्म, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, यम, सूर्य चन्द्र, देव, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्री, पशु आदि के रूप में प्रकट हुआ है यही स्थावर और ब्राह्मण है आदि॥६—८॥ यह समस्त जगत ही ब्रह्म है और इससे भिन्न कुछ भी नहीं है ॥९॥

जातिरिति च। न चर्मणो न रक्तस्य मांसस्य न चास्थिनः। न जातिरात्मनो जातिर्व्यवहार प्रकल्पिता। कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म। अकर्मेति च कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यहंकारतया बन्धरूपं जन्मादिकारणं नित्यनैमित्तिकयागव्रततपोदानादिषु फलाभिसंधान यत्तदकर्म। ज्ञानमिति च देहेन्द्रियनिग्रहस्तद्गुरूपासनश्रवणमनननिदिध्यासनैर्यद्यद्दृग्दृश्यस्वरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमं घटपटादिपदार्थ-

मिवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किंचिन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम् । अज्ञानमिति च रज्जो सर्पभ्रान्तिरिवाद्वितीये सवनुस्युते सर्वमये ब्राह्मणि देवतिर्यङ्नरस्थावरस्त्रीपुरुषवर्णाश्रम॰ बन्धमोक्षोपाधिनानात्मभेदकल्पित ज्ञानमज्ञानम् । सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सर्वं सुखम् । दुःखमिति अनात्मरूपविषयसकल्प एव दुःखम् । स्वर्ग इति च सत्संसर्गः स्वर्गः । नरक इति च असत्संसार विषयजनसंसर्ग एव नरकः ॥१०—१५॥

जाति कुछ चमड़े की नहीं होती, रक्त की नहीं, मांस की नहीं, हड्डियों की नहीं, आत्मा की नहीं वह तो केवल व्यवहार के लिये कल्पित की गई है ॥ १० ॥ कर्म का अर्थ हैं इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियाऐं, जिसे " मैं करता हूँ " इस प्रकार की अध्यात्मनिष्ठा से किया गया हो, उसका नाम कर्म है ॥११॥ कर्त्तापन और भोक्तापन के अभिमान के कारण बन्धन रूप तथा जन्म लेने कारण ऐसा नित्य-नैमित्तिक, यज्ञ, वृत, तप, दान आदि में फल की इच्छा से किया हुआ कर्म ही 'अकर्म' कहलाता है ॥१२॥ ज्ञान अर्थात् सृष्टि की समस्त परिवर्तनशील वस्तुओं में एक ही अपरिवर्तनशील 'चैतन्य तत्व पाया जाता है, अन्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ दृ टा और दृश्य स्वरूप है, वह यह चैतन्य ही है, यह सबके भीतर रहता है, सब में समान है और स्वयं विकार रहित है, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि घड़ा, कपड़ा आदि पदार्थ रूप में ही परिवर्तित हो गया, इस प्रकार साक्षात्कार वाले अनुभव को ज्ञान कहते हैं ॥ १३ ॥ यह अनुभव देह, इन्द्रिय आदि पर नियन्त्रण रखने से और साथ ही सद्गुरु की उपासना, श्रवण, मनन और ध्यान से होता है। अज्ञान अर्थात् रस्सी में जिस प्रकार सांप की भ्रांति होती है, उसी प्रकार सब में पिरोए हुए, सर्वरूप और एक मात्र ब्रह्म में देव, पशु, पक्षी, मनुष्य स्थावर, स्त्री, पुरुष, वर्ण, आश्रम, बन्ध, मोक्ष आदि अनेक उपाधियुक्त

अनात्म वस्तुओं का जो भेद कल्पित किया जाता है, वह अज्ञान है ॥१४॥ सुख अर्थात् सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप को जान आनन्द युक्त जो स्थिति प्राप्त हो, वही सुख कहलाती है, और अनात्म रूप विषयों का विचार दुःख कहा जाता है। स्वर्ग अर्थात् सत्पुरुषों का समागम ही स्वर्ग कहा जाता है ॥ २५ ॥ और असत्य संसार के विषय और संसारी लोगों का समागम ही नर्क है।

बन्ध इति च अनाद्यविद्यावासनया जातोऽहमित्यादिसंकल्पो बन्धः। पितृमातृसहोदरदारापत्यगृहारामक्षेत्रममता संसारावरणसंकल्पो बन्धः। कर्तृत्वाद्यहंकारसंकल्पो बन्धः। अणिमाद्यष्टैश्वर्याशासिद्धसंकल्पो बन्धः। देवमनुष्याद्युपासनाकामसंकल्पो बन्धः। यमाद्यष्टाङ्गयोगसंकल्पो बन्धः। वर्णाश्रमधर्मकर्मसंकल्पो बन्धः। आज्ञाभयसंशयात्मगुणसंकल्पो बन्धः। यागव्रततपोदानविधिविधानज्ञानसंभवो बन्धः। केवलमोक्षापेक्षासंकल्पो बन्धः। सकल्पमात्रसंभवो बन्धः। मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यससंसारसुखदुःखविषयसमस्तक्षेत्रममताबन्धक्षयो: मोक्ष ।२६।

बन्ध अर्थात् आदि रहित अज्ञान की वासना द्वारा 'मैं जन्म लेता हूँ'—'मैं मरता हूँ' आदि जो विचार उत्पन्न होते हैं, वही बन्धन है ।१८। मा, बाप, भाई, पत्नी, पुत्र, घर, बगीचा, खेत आदि मेरे हैं, ऐसे संसारी आवरण रूप विचार भी बन्धन रूप हैं ॥ १६ ॥ कर्तापन का अभिमान वाला सस्कार भी बन्धन रूप है ॥ २० ॥ अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य का सिद्ध करने का सकल्प भी बन्धन है। कामना संकल्पों के साथ की गई मनुष्य और देवताओं की उपासना बन्धन है। यम, नियम आदि आठ अंग वाले योग का संकल्प भी बन्धन है। वर्णाश्रम धर्म के कर्म संकल्प भी बन्धन हैं। आज्ञा, भय, संशय के संकल्प बन्धन हैं। यज्ञ, व्रत, तप और दान की विधियाँ करने का ज्ञान भी बन्ध है ॥ २६ ॥ इसी प्रकार केवल मोक्ष का विचार करना, यह भी एक प्रकार का बन्धन है

॥ २७ ॥ मोक्ष, अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार द्वारा अनित्य संसार के सुख दुखात्मक समस्त विषयों पर से ममता रूप बन्धन का नाश हो जाय, वही मोक्ष कहलाती है ॥२६॥

उपास्य इति च सर्वशरीरस्थचैतस्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः। शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपंचावगाहितज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः। विद्वानिति च सर्वान्तरस्थस्वसंविद्रूपविद्विद्वान्। मूढ़ इति च कर्तृत्वाद्यहङ्कारभावारूढो मुढ़ः। आसुरमिति च ब्रह्मविष्ण्वीशानेन्द्रदीनामैश्वर्यकामनया निरशनजपाग्निहोत्रादिष्वन्तरात्मानं संतापयति चात्युग्ररागद्वेषविहिंसादम्भाद्यपेक्षितं तप आसुरम्। तप इति च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यपरोक्षज्ञानाग्निना ब्रह्माद्यैश्वर्याशासिद्धसंकल्पबीजसंतापं तपः। परमं पदमिति च प्राणेन्द्रियाद्यन्तःकरणगुणादेः परतरं सच्चिदानन्दमयं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम्। ग्राह्यमिति च देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यचिन्मात्रस्वरूपं ग्राह्यम्। अग्राह्यमिति च स्वस्वरूपव्यतिरिक्तमायामायबुद्धीन्द्रियगोचरजगत्सत्यत्वचिन्तनमग्राह्यम्। संन्यासीति च सर्वधर्मान्परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य तत्त्वमसि अहंब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेत्यादिमहावाक्यार्थानुभवज्ञानाद्ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति। इदं निरालम्बोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहतः सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते पुनर्नाभिजायते पुनर्नाभिजायत इत्युपनिषत्। ३०—४०।

यही एक मात्रा उपासना करने योग्य है, अथवा समस्त षरीरों में रहने वाले चैतन्यरूप ब्रह्म की जो प्राप्ति कराए गुरु उपास्य है ॥ ३० । शिष्य, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति द्वारा संसाररूप अज्ञान का नाश

होकर गम्भीर ज्ञान रूप जो ब्रह्म शेष रहे वह शिष्य है ॥३१॥ विद्वान्, सब के भीतर रहने वाले आत्मा के ज्ञान स्वरूप को जाने वह विद्वान् है ॥३२॥ मूढ़ अर्थात् कर्तापन आदि अहंकार के भाव पर आरूढ़ मनुष्य मूढ़ है ॥३३॥ आसुरी अर्थात् जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि के ऐश्वर्य की इच्छा रख कर और उपवास, जप, अग्निहोत्र आदि में अंतरात्मा को अत्यन्त दुःख दे, और अत्यन्त उग्र, राग, द्वेष, हिंसा, दंभ आदि दुर्गुणों वाला जो तप करे वह आसुरी कहा जाता है ॥३४॥ तप अर्थात् ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है, ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा, ब्रह्मादि के ऐश्वर्य सिद्ध करने के संकल्प के बीज को जला डालना ही तप कहलाता है ॥ ३५ ॥ परमपद अर्थात् प्राण, इन्द्रिय, मन, आदि से भिन्न, सच्चिदानन्दरूप और नित्यमुक्त ऐसा ब्रह्म का स्थान परम पद कहा जाता है ॥३६॥ ग्रहण करने योग्य अर्थात् देश, काल, वस्तु की मर्यादा से रहित चिन्मात्र स्वरूप ग्राह्य है ॥३७॥ इसी प्रकार अपने स्वरूप से भिन्न, माया द्वारा कल्पित और बुद्धि, इन्द्रिय के विषय रूप जगत को सत्य मान लेना अग्राह्य है ॥३८॥ सन्यासी अर्थात् सब धर्मों को छोड़कर साथ ही अहन्ता और ममता को त्यागकर इस वस्तु (ब्रह्म) की शरण में जाना, और "वह तू ही है"—'मैं ब्रह्म हूँ'—'यह सब ब्रह्म ही है'—'ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है' आदि महावाक्यों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में रहना और स्वतन्त्र यती के रूप में व्यवहार करना। ऐसा ही पुरुष संन्यासी कहलाता है, वही मुक्त है, वही पूज्य है, वह योगी है, वही परमहंस है, अवधूत है, वही ब्राह्मण है ॥ ३९ ॥ वह गुरु कृपा से अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है। वह फिर इस संसार में नहीं आता। वह फिर संसार में नहीं आता, वह फिर जन्म नहीं लेता, वह फिर जन्म नहीं लेता। ऐसा यह रहस्य है ॥४०॥

॥ निरालम्बोपनिषत् समाप्त ॥

(२७) गायत्री उपनिषत्

प्रथम काण्डिका

एतद्धस्म एतद् विद्वांं समेकादशाक्षं ।
मौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽयाजगाम ॥

एकादशाक्ष मौद्गल्य के समीप ग्लाव मैत्रेय आये ।

स तस्मिन् ब्रह्मचर्यं वसतीति विज्ञायोवाच ।
किं स्विन्मर्या अयं तन्मोद्गल्योऽध्येति
यदस्मिन्ब्रह्मचर्यं बसतीति ।

मौद्गल्य के ब्रह्मचारी को देखकर और उसे सुनाकर ग्लाव ने (उपहास उड़ाते हुए) कहा कि—मौद्गल्य अपने इस ब्रह्मचारी को क्या पढ़ाता है अर्थात् कुछ नहीं पढ़ाता है ।

तद्धि मौदगल्यस्यान्तेवासी शुश्राव ।
स आचार्यंयाब्रज्या चचष्टे ।

मौद्गल्य के ब्रह्मचारी ने इस बात को सुनकर अपने आचार्य के पास जाकर कहा—

दुरधीयानं वा अयं भवन्तमवोचद्यऽयमद्यातिथिर्भवति

जो आज अतिथि हुए हैं, आपको उन्होंने मूर्ख कहा है ।

किं सौम्य त्विद्वानिति—

क्या वह विद्वान् हैं ? मौद्गल्य ने पूछा ।

त्रिन्वेदान् ब्रूते भो इति—

हाँ, वे तीनों वेदों के प्रवचनकर्त्ता हैं, शिष्य ने कहा—

तस्य सौम्य यो विद्वान् विपष्टो विजिगीषोऽन्तेवासी

हे सौम्य ! उनका जो विद्वान्, सूक्ष्मदर्शी तथा विजय चाहने वाला शिष्य हो, तुम उसे मेरे पास ले जाओ ।

तमाजुहाव । तमभ्युवाचा साधिति भो इति ।

तब वह उसे बुला लाया और बोला—वे ये हैं ।

किं सौम्य त आचार्यो ऽध्येतीति ।

मौद्गल्य ने उससे पूछा—हे सौम्य ! तुम्हारे आचार्य क्या पढ़ाते हैं ?

त्रीनवेदान् ब्रूते भो इति ।

उसने उत्तर दिया—वे तीनों वेदों का प्रवचन करते हैं ।

यन्नु खलुसौम्यास्माभिः सर्वे वेदा मुखतो गृहीताः
कथं व एवमाचार्यो भाषते, कथं नु चेत्सौम्य
दुरधीयानो भविष्यति, आचार्यो बालब्रह्मचारी
ब्रह्मचारिण सावित्रीं प्राह, इति वक्ष्यति ।

हे सौम्य ! यदि वे यह जानते होंगे तो कहेंगे कि आचार्य अपने ब्रह्मचारी को जिसका उपदेश देते हैं, वह सावित्री है अर्थात् जो गायत्री का शब्दार्थ, स्थूल अर्थ है, उसे ही बता देंगे ।

तत्वं ब्रूयाद दुरधीयानं तं वैभवान्मौदगल्य
मवोचनः स त्वां यं प्रश्यमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः ।
पुरा सन्वत्सरादार्तिमारष्यिसीति ।

तब तुम कहना कि आपने तो हमारे आचार्य मौद्गल्य को मूर्ख बतलाया था । वे आपसे जो प्रश्न पूछते हैं, उसे आप नहीं बतला सके तो एक वर्ष के भीतर आपको कुछ कष्ट होगा ।

शिष्टाः शिष्टेभ्य एव भाषेरन् । यं ह्येनमहंप्रश्न
पृच्छामि न तं विवक्ष्यति, नह्येनमध्येतीत ।

हे सौम्य ! हमने भी सब वेद अध्ययन किये हैं फिर तुम्हारे आचार्य मुझे मूर्ख क्यों कहते हैं ? क्या शिष्टों का शिष्टों के लिए ऐसा कहना ठीक है ? हम उनसे जो प्रश्न पूछेंगे, वे उसे बतला न सकेंगे तो वे उसे पढ़ाते भी न होंगे ।

स ह मौद्गल्यः स्वनन्तेवासीनमुवाच परे हि सौम्य,
ग्लावं मैत्रेयमुपासीत, अधीहि भोः सावित्री गायत्रीं
चतुर्विंशति योनिं द्वादश मिथुनां, यस्यां भृग्वगिरशञ्च
क्षुर्यस्यां सर्वमिदं श्रितं वां भवान् प्राब्रवीत्विति ।

तब उन मौद्गल्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा—'सौम्य। तुम जाओ, ग्लाव मैत्रेय के समीप उपस्थित होकर कहो कि बारह मिथुन तथा चौबीस योनि वाली भृगु और अङ्गिरा जिसके नेत्र हैं तथा जिसके आश्रय यह सब हैं, उस सावित्री को हमें पढ़ाइये।

द्वितीय काण्डिका

स तत्रजगाम यत्रेतरो बभूव। तहप्रपच्छ स ह न

मौद्गल्य का शिष्य मैत्रेय पास आया। उसने उससे पूछा किन्तु वे उसका उत्तर न दे सके।

तं होवाच दुरधीयानं तंवै भवान्मौदगल्यमत्रो
चन्सत्वाय प्रश्नमक्षीन्न तं व्यवोचः पुरा
संवत्सरार्दतिमारिष्यसीति ।

उसने कहा—आपने मौद्गल्य को मूर्ख कहा था। उन्होंने जो आपसे पूछा, आप उसे नहीं बतला सके, इसलिये एक वर्ष में आपको कष्ट होगा।

स ह मैत्रेयः स्वानन्तेवासीन उवाच-यथार्थं
भतन्तो यथागृहं यथामनो विप्रसृज्यन्ताम् दुरधीयानं
वा अह मौद्गल्य मवोचमुः स य प्रश्नमप्रोक्षीन्नत
व्यवोचं, तमुपैष्यामि, शांति करिष्यामीति ।

तब मैत्रेय ने अपने शिष्यों से कहा—अब आप लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार अपने-अपने घरों को लौट जाइए मैंने मौद्गल्य को मूर्ख कहा

था, पर उन्होंने जो पूछा है, मैं उसे नहीं बतला सका हूँ मैं उनके पास जाऊँगा और उन्हें शान्त करूँगा।

स ह मैत्रेयः प्रातः समित्पाणिमौद्गल्यमुपससादार्सी व अहं भो मैत्रेय इति।

दूसरे दिन प्रातःकाल हाथ में समिधा लेकर मैत्रेय मौद्गल्य ऋषि के पास आये और कहा—मैत्रेय आपकी सेवा में आया हूँ।

किमर्थमिति—

"किसलिए?"—उन्होंने पूछा।

दुरधीयानं वा अहं भवन्तमवोचं त्वं मा य प्रश्नमप्राक्षीन तं व्यदोचं, त्वमुपैष्यामि, शांति करिष्यामीति।

मैत्रेय ने कहा—मैंने आपको मूर्ख कहा था। आपने जो पूछा, मैं उसे न बतला सका। अब मैं आपकी सेवा में उपस्थित होकर आपको शान्त करूँगा।

स होवाच-अत्र वा उपेतं च सर्वं च कृतं पापकेन त्वा यानेन चरन्तमाहुः अथोऽवं मम कल्याणस्तं ते ददामि तेन याहीति।

मौद्गल्य ने कहा—आप यहाँ आये हैं, लेकिन लोग कहते हैं कि आप शुद्ध भावना से नहीं हैं, तो भी मैं तुम्हें कल्याणकारी भाव देता हूँ। तुम इसे लेकर लौटो।

स होवाच। एतदेवात्रार्तिष चानृशस्य च यथा भवाताच। उपायामि त्वेव भवन्तमिति।

मैत्रेय ने कहा—आपका कहना अभयकारी एवं सत्य है। मैं आपकी सेवा में समित्पाणि होकर उपस्थित होता हूं।

तं ही तेथाय—

अब वे विधिपूर्वक उनकी सेवा में उपस्थित हुए।

होपेत्थ पप्रच्छ —

उपस्थित होकर पूछा—

किंस्विदाहुर्यो: सवितुरेण्यं भर्गो देवस्य कवयः किमाहु। धियो विचक्ष यदि ताः प्रत्वेत्थ प्रचोदयन्सवितायारेति ॥

(१) सविता का बरेण्य किसे कहते हैं ?

(२) उस देव का भर्ग क्या है ?

(३) यदि आप जानते हों तो धी संज्ञक तत्वों को कहिए। जिनके द्वारा सबको प्रेरणा देता हुआ सविता विचरण करता है ?

तस्मा एतत्प्रोवाच—

उन्होंने उत्तर दिया—

वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः।
कर्माणि धियस्तदुते ब्रवीमि प्रचोदयन्सवितायाभिरेति ॥

(१) वेद और छन्द सविता का वरेण्य हैं।

(२) विद्वान् पुरुष अन्न को ही देव का भर्ग बतलाते हैं।

(३) कर्म ही वह धी तत्व है, जिसके द्वारा सबको प्रेरणा देता हुआ सविता विचरण करता है।

तमुपसंग्रह्य पप्रच्छाधीति भोः कः सविता का गायत्री।

यह सुन कर उनने फिर पूछा—सविता क्या है और सावित्री क्या है ?

तृतीय काण्डिका

मन एव सविता वाक् सावित्री यत्रह्येव मनस्तद्वाक।
यत्र वै वाक् तन्मन इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्। १

मन सविता है, वाक् सावित्री। जहाँ मन है वहाँ वाक् है, जहाँ वाक् है वहाँ मन है। ये दोनों दो योनि और एक मिथुन है ॥१॥

अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री यत्र ह्येवाग्निस्तत्पृथिवी।
यत्र वै पृथिवी तदग्निरिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥ २

अग्नि सविता है, पृथ्वी सावित्री। जहां अग्नि है वहाँ पृथ्वी है, जहाँ पृथ्वी है वहाँ अग्नि है। यह दो योनि तथा एक मिथुन है ॥ २ ॥

वायुरेव सविता अन्तरिक्षं सावित्री, यत्र ह्येव वायुस्तदन्तरिक्षम् यत्र वा अन्तरिक्षं तद्वायुरिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥३

वायु सविता है अन्तरिक्ष सावित्री है। जहां वायु है वहाँ अन्तरिक्ष है, जहाँ अन्तरिक्ष है वहाँ वायु है। ये दोनों योनि और एक मिथुन है ॥ ३ ॥

आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री यत्रह्येवादित्यस्तद् द्यौः। यत्र वै द्यौ स्तदादित्य इति। एते द्वे-योनि एकं मिथुनम् ॥४

आदित्य सविता है, द्यौ सावित्री। जहाँ आदित्य है वहाँ द्यौ है, जहाँ द्यौ है वहाँ आदित्य है। ये दोनों योनि एक मिथुन हैं ॥ ४ ॥

चन्द्रमा एव सविता नक्षत्राणां सावित्री यत्र ह्येव चन्द्रमा स्तन्नक्षत्राणि। यत्र वै नक्षत्राणि तच्चन्द्रमा इति। ऐते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥५

चन्द्रमा सविता है, नक्षत्र सावित्री है। जहाँ चन्द्रमा है वहाँ नक्षत्र हैं, जहाँ नक्षत्र हैं वहाँ चन्द्रमा है। ये दोनों योनि और एक मिथुन है ॥ ५ ॥

अरेब सविता रात्रिः सावित्री यत्र ह्येवाहस्तद्रिविः।
यत्र व रात्रि स्तदहरिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥६

दिन सविता है और रात्रि सावित्री है। जहाँ दिन है वहाँ रात्रि है, जहाँ रात्रि है वहाँ दिन है। ये दो योनि और एक मिथुन है ॥६॥

उष्णमेव सविता शीतं सावित्री यत्र ह्येवोष्णं तच्छीतं।
यत्र वै शीतं तदुष्णमिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ॥७

उष्ण सविता है, शीत सावित्री। जहाँ उष्ण है वहाँ शीत है, जहाँ शीत है वहाँ उष्ण है। ये दोनों योनि और एक मिथुन है ॥ ७ ॥

अभ्रवेव सवित वर्षं सावित्री यत्र ह्येवाभ्रं तद्वर्षं।
यत्र व वर्षं तदभ्रमिति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ।।८

बादल सविता है और वर्षण सावित्री। जहाँ बादल हैं वहाँ वर्षण है, जहाँ वर्षण है वहाँ बादल हैं ये दोनों योनि तथा एक मिथुन है ।।८।।

विद्युदेव सविता स्तनयित्नुः सावित्री। यत्र ह्येव विद्युत स्तनयित्नुः यत्र वै स्तनयित्नुस्तद्विद्युदित्ति एते द्वेयोनी एकं मिथुनम् ।।६

विद्युत सविता है और उसकी तड़क सावित्री। जहाँ बिजली है वहाँ उसकी तड़क है। जहाँ तड़क है वहाँ बिजली है। ये दोनों योनि और एक मिथुन है ।।६।।

प्राण एव सविता अन्नं सावित्री यत्र ह्येव प्राणस्तदन्नम्।
यत्र वा अन्नं तत्प्राण इति। एते द्वे योनी एक मिथुनम् ।।१०

प्राण सविता है अन्न सावित्री। जहाँ प्राण हैं वहां अन्न है, जहाँ अन्न है वहाँ प्राण हैं। ये दोनों योनी तथा एक मिथुन है ।। १० ।।

वेदा एव सविता छन्दांसि सावित्री यत्र ह्येव वेदास्तच्छन्दांसि।
यत्र वै छन्दांसि तद्वेदा इति। एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ।।११

वेद सविता है और छन्द सावित्री जहाँ वेद है वहाँ छन्द है, जहाँ छन्द हैं वहाँ वेद हैं। ये दो योनि और एक मिथुन हैं ।।११।।

यज्ञ एव सविता दक्षिणा सावित्री यज्ञह्येव यज्ञस्त दक्षिणा।
यत्र वैदक्षिणास्तद्यज्ञ इति। एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ।।१२

यज्ञ सविता है और दक्षिणा सावित्री। जहाँ यज्ञ है वहाँ दक्षिणा है जहाँ दक्षिणा है वह यज्ञ है। ये दोनों योनि तथा एक मिथुन है। १२।

एतद्धस्मै तद्विद्वांसमोपकारी मासस्तुर्ब्रह्मचारी ते संस्थित इति।

विद्वान तथा परोपकारी महाराज ! आपकी सेवा में यह ब्रह्मचारी आया है।

अथंत आसस्तुरा चित इव चितो बभूव अथोत्थाय प्रावाजीदिति ।

यह ब्रह्मचारी आपके यहाँ आकर ज्ञान से परिपूर्ण हो गया है। इसके बाद वे वहाँ से चले गये ।

एतद्वा अहं वेद नैतासु यानिष्वतऐतेभ्यो वा
मिथुनेभ्यः सम्भवतो ब्रह्मचारी मम पुरायुषः प्रेयादिति ।

और उन्होंने कहा कि अब मैं इसे जान गया हूँ, इन योनियों अथवा इन मिथुनों में आया हुआ मेरा कोई ब्रह्मचारी अल्पायु नहीं होगा।

चतुर्थ काण्डिका

ब्रह्म हेदं श्रिव प्रष्ठिामायतनमैक्षन तत्तयैस्का यदि तद्-ब्रूते ध्रियेत् तत्सत्येत प्रत्यतिष्ठत् ।

ब्रह्म ने श्री प्रतिष्ठा और आयतन को देखा, वह था कि —तप करे। यदि तप के व्रत को धारण किया जाय, तो सत्य में प्रतिष्ठा रहती है।

स सविता सावित्या प्रह्मणै सृष्ट्वा तत्साविश्री पर्यदधात् ।

उस सविता ने सावित्री से ब्राह्मण की सृष्टि की तथा सावित्री को उससे घेर दिया।

तत्सवितुर्वरेण्यं इति सवित्र्याः प्रथमः पादः ।
'तत्सवितुर्वरेण्य' यह सावित्री का प्रथम पाद है।

पृथिव्यर्चं समधत् । ऋचा अग्निम् । अग्निनाशियम् श्रिया स्त्रितं । स्क्षियो मिथुनम् । मिथुनेन् प्रजाम् । प्रज्या कर्म । कर्मणा तपः । तपसां सत्यम् । सत्येन ब्रह्म । ब्राह्मणा ब्राह्मणाम् ब्राह्मणाम् व्रतम् व्रतेन वैं ब्राह्मण संशितो भवति । अशून्यो भवति, अविच्छिन्नो भवति ।

पृथ्वी से ऋक् को जोड़ा, युक्त किया। ऋक् से अग्नि को, अग्नि से श्री को, श्री से स्त्री को, स्त्री से मिथुन को, मिथुन से प्रजा को, प्रजा से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को, सत्य से ब्रह्म को, ब्रह्म से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को। ब्राह्मण व्रत से ही तीक्ष्ण होता है पूर्ण होता है और अविच्छिन्न होता है ।

अविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्न जीवन भवति, य एवं वदेत् यश्चैव विद्वानेवेमेतं सवित्र्याः प्रथम पाद व्याचष्टे ।

जो इस प्रकार से इसे जानता है और जान कर जो विद्वान इसकी इस प्रकार व्याख्या करता है वह, उसका वंश तथा उसका जीवन अविच्छिन्न होता है ।

पञ्चम कण्डिका

भर्गो देवस्य धीमहि ति सावित्र्याः द्वितीयः पादः ।
भर्गो देवस्य धीमहि— यह सावित्री का दूसरा पाद है ।

अन्तरिक्षे यजुः ममदद्यात् यजुषा वायुम् वायुना अभ्रम् । अभ्रेम वर्षम् वर्षणौषधि वनस्पतीन्न औषधि वनस्पतिभिः पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपः तपसा सत्यन्, सत्येन ब्रह्म ब्रह्मणा ब्राह्मणम्, ब्राह्मणेन व्रत व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्शन्यो भवत्यविच्छिन्नो भवति ।

अन्तरिक्ष से यजु को युक्त करता है। यजुर्वेद से वायु को, वायु से मेघ को, मेघ से वर्षा को, वर्षा से औषधि वनस्पतियों को, औषधि वनस्पतियों से पशुओं को, पशुओं से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को, सत्य से ब्रह्म को, ब्रह्म से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को। व्रत से ब्राह्मण तीक्ष्ण, और अविच्छिन्न होता है।

अविच्छिन्नोऽस्यतन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति, एवं वेद यश्चैव विद्वानेवमेत सविव्याः द्वितीयः पाद व्याचष्टे।

जो विद्वान् इस प्रकार जानकर सावित्री के द्वितीय पाद की व्याख्या करते हैं उनका वंश तथा जीवन अविच्छिन्न होता है।

षष्ठ काण्डिका

धियो योनः प्राचोदयादिति साविव्यास्तृतीयः पादः।

धियो योन: प्रचोदयात्—यह सावित्री का तीसरा पाद है।

दिवा साम समदधात् साम्नाऽऽदित्यम् आदित्येन रश्मीन् रश्मिभिवर्षणम् वर्षणौषधिवनस्पतीन् औषधि वनस्पतिभिः पशून, पशूभिः कर्म, कर्मणा तपः, तपसा सत्यम् सत्येन ब्रह्म ब्रह्मणा ब्राह्मणम् ब्राह्मणेन व्रतम् व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यमून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवति। अविच्छन्तोऽस्य तन्तुमविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैव विद्वानेनमेतं साविव्यास्तृतीय पादं व्याचष्टे।

द्युलोक से साम को युक्त करता है, साम से आदित्य को, आदित्य से रश्मियों को, रश्मियों से वर्षा को, वर्षा से औषधि वनस्पतियों को, औषधि वनस्पतियों से पशुओं को, पशुओं से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को, सत्य से ब्रह्म को, ब्रह्म से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को। व्रत से ब्राह्मण तीक्ष्म, पूर्ण और अविच्छिन्न वंश वाला होता है। जो विद्वान यह जानकर सावित्री के तृतीय पाद की व्याख्या करते हैं वे अपने वंश एवं जीवन को अविच्छिन्न बनाते हैं।

सप्तम् काण्डिका

तेन ह एवं विदुषा ब्राह्मणेन ब्राह्माभिषन्नं ग्रसितं परामृष्टम् ।

सावित्री के तीन पाद जानने वाला ब्राह्मण, ब्रह्म प्राप्त ग्रसित और परामृष्ट होता है ।

प्राप्त—

ग्रसित—

परामृष्ट—

ब्राह्मणा आकाशमभिपन्नं, ग्रसितं परामृष्टम् आकाशेन वायुरभिषन्नो ग्रसितः परामृष्टः वायुना ज्योतिरभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः । ज्योतिषापोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः । अद्भिर्भूमिर्भिपन्ना ग्रसितः परामृष्टा । भूस्यान्नमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम् अन्नेन प्राणोऽभिपन्नो ग्रसितः । परामृष्टः । प्राणेन मनोऽभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम् । मनसा वागभिपन्नां ग्रसितः परामृष्टाः । वाचा वेदा अभिपन्ना ग्रसितः परामृष्टाः । वेदैर्यज्ञोऽभिपन्नो ग्रसित परामृष्टः । तानि ह वा एतानि द्वादश महाभूतान्येवं विदि प्रतिष्ठितानि । तेषां यज्ञ एव परार्ध्यः ।

ब्रह्म से आकाश प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है आकाश से वायु प्राप्त, ग्रसित तथा परामृष्ट है । वायु से ज्योति अभिपन्न ग्रसित और परामृष्ट है । ज्योति से जल प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है । जल से पृथ्वी प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है । भूमि से अन्न, अभिपन्न, ग्रसित और परामृष्ट है । अन्न से प्राण अभिपन्न, ग्रसित तथा परामृष्ट है । प्राण से मन अभिपन्न ग्रसित तथा परामृष्ट है । मन से वाक् अभिपन्न ग्रसित तथा परामृष्ट है । वाक् से वेद अभिपन्न, ग्रसित एवं परामृष्ट हैं । वेदों से यज्ञ

प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वालों में ये बारह महाभूत प्रतिष्ठित रहते हैं। इन में यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है।

त ह स्मतमेव विद्वांसो मन्यते विद्मैनमिति यथातथ्यम विद्वांसः।

जो विद्वान यह समझ लेते हैं कि हम यज्ञ के जानकार हो गये हैं, वे इसे नहीं जानते।

अयं यज्ञो वेदेयु प्रतिष्ठितः। वेदा वाचि प्रतिष्ठिताः। वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता। मनः प्राणे प्रतिष्ठितम्। प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितः अन्नं भूमौ प्रतिष्ठितम्। भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता। आपो ज्योतिषिः। प्रतिष्ठितः। ज्योतिर्वायो प्रतिष्ठितम्। वायुराकाशे प्रतिष्ठितः आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितम्। ब्रह्म ब्राह्मणेब्रह्म विदि प्रतिष्ठितम्।

यो ह वा एव चित् स ब्रह्मवित्पुण्यां च कीर्ति लभते सुरभींश्च गन्धान्। सोऽपहतपात्मानन्तां श्रियमश्नुतेय एवं वेद, यश्चौवं पिद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्री सम्पदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम्।

यह यज्ञ वेद में प्रतिष्ठित है। वेद वाक् में प्रतिष्ठित हैं। वाक् मन में प्रतिष्ठित है। मन प्राण में प्रतिष्ठित है। प्राण अन्न में प्रतिष्ठित है। अन्न भूमि में प्रतिष्ठित है। भूमि जल पर प्रतिष्ठित है। जल तेज पर प्रतिष्ठित है। तेज वायु पर प्रतिष्ठित है। वायु आकाश पर प्रतिष्ठित है। आकाश ब्रह्म पर प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्म ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मज्ञानी पुण्य एवं कीर्ति को प्राप्त करता है तथा सुगन्धित गन्धों को पाता है। वह व्यक्ति पापहीन होकर अनन्त ऐश्वर्य को प्राप्त होता है।

॥ गायत्री उपनिषद् समाप्त ॥

22/08/95

(२८) अमृतनादोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करे, हम दोनों का साथ ही प लन करे, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥१
ओंकाररथमारुह्य विष्णुं कृत्वाऽथ सारथिम् ।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥२
तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः ।
स्थात्वा रथपथिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ ३

ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य है कि विद्युत की दमक के समान इस क्षणस्थायी जीवन को व्यर्थ नष्ट न होने दे । शास्त्रों के अध्ययन और उनके बारम्बार अभ्यास के द्वारा विद्या की प्राप्ति हो सकती है । प्रणव रूप रथ में बैठकर भगवान् विष्णु को साक्षी बनावे और ब्रह्मलोक के यथार्थ पद की खोज करते हुए भगवान् रुद्र की उपासना में लगे । उस रथ के द्वारा तब तक चलना चाहिये जब तक रथ का मार्ग पूरा न हो जाय । जब वह पूरा हो जाय, तब रथ को छोड़कर मनुष्य स्वयं ही आगे बढ़ जाता है ॥१-३॥

मात्रालिङ्गपद त्यक्त्वा शब्दव्यंजनवर्जितम् ।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति ॥४

शब्दादिविषयान् पञ्च मनश्चैवातिचंचलम् ।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते ।।५
प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ।।६

प्रणव की अकारादि मात्राऐं और उनके लिङ्गभूत पद तथा आश्रयभूत विश्व, विराट् आदि के ध्यानपूर्वक उनका त्याग करते हुए स्वरहीन मकार के वाचक ईश्वर का ध्यान करने से साधक की तुरीय-तत्व में प्रविष्टि होती है । वह तत्व सम्पूर्ण प्रपंचों से सर्वथा दूर है । शब्द, स्पर्श आदि विषय और उन्हें ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ और मन इन्हें सूर्य के समान अपने आत्मा में रश्मियों के समान देखें । इस प्रकार अनात्म पदार्थों से मन इन्द्रियों को हटाकर आत्म-चिन्तन करे । इस प्रकार का चिन्तन ही प्रत्याकार कहा गया है । योग के छः अंगों में प्राणायाम, ध्यान धारणा, तर्क, समाधि के साथ प्रत्याहार की भी गणना है ।।४।।

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः ।
तथेन्द्रियकृता दोषः दह्यन्ते प्राणधारणात् ।। ७
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
किल्विषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत् ।।८
रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा ।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ।।९
सव्याहृति सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ।।१०

स्वर्णादि धातुओं का मल, उन्हें तपाने से दूर होने के समान ही इंद्रियों द्वारा प्राप्त दोष प्राणायाम से दूर हो जाते हैं । प्राणायाम से दोषों को और धारणा से पापों को जला डाले । इस प्रकार पापों और उनके संस्कारों को नष्ट करता हुआ आराध्य देव के स्वरूप का ध्यान करते हुए, वायु को भीतर स्थिर रखना, छोड़ना, खींचना आदि करे । व्याहृतियों और ओंकार के सहित गायत्री मन्त्र का तीन-तीन बार पाठ करते हुए पूरक कुम्भक, रेचक करने को एक प्राणायाम कहा गया है । ।।६-१०।।

उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ।
शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम् ॥११

वक्त्रेणोत्पलपालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ।
एवं वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥१२

नोच्छ्वसेन्न च निश्वासेत् नैव गात्राणि चालयेत् ।
एवं भाव नियुञ्जीयात् कुम्भकस्येति लक्षणम् ॥१३

अन्धवत् पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छ्रृणु ।
काष्ठवत् पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम् ॥१४

मनः संकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान् ।
धारयित्वा तथाऽऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥१५

आगमस्याविरोधेन उहनं तर्कं उच्यते ।
सम मन्येत यं लब्ध्वा स समाधिः प्रकीर्तितः ॥१६

रेचक प्राणायाम वह है जिसमें प्राण वायु को आकाश में निकाल कर हृदय को वायु से शून्य और चिंतन से शून्य करे। मुख से कमल नाल द्वारा जल खींचने के समान धीरे-धीरे वायु को अपने भीतर खींचना पूरक है। श्वास को खींचे न निकाले, शरीर को न हिलाते हुए स्थिर रहे, इस प्रकार प्राणवायु के रोकने को कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। ॥११-१३॥ अन्धे को जैसे कुछ दिखाई नहीं देता, वैसे ही साधक रूपों को देखते हुए भी कुछ न देखे, वधिर के समान न सुने और देह को काष्ठ के समान समझे। यह प्रशान्त स्थिति है। मन को संकल्पात्मक मानकर उसे आत्मा में लय करते हुए परमात्म-चिन्तन में लगावे, यह धारणा स्थिति है। शास्त्रों से अनुकूल विचार करना तर्क है और जिसे प्राप्त कर अन्य प्राप्त होने वाले द्रव्यों को तुच्छ मान लिया जाय वही 'समाधि' स्थिति है ॥१४-१६॥

भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते ।
कृत्वा मनोमयी रक्षां जप्त्वा वै पथमण्डले ॥१७
पद्मकं स्वास्तिकं वाऽपि भद्रासनमथापि वा ।
बद्ध्वा योगासनं सम्यक् उत्तराभिमुखः स्थितः ॥१८
नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम् ।
आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेव विचिन्तयेत् ॥१६
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतन्न रेचयेत् ।
दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यान्मलविमुक्तये ॥२०
पश्चात् ध्यायेत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्राविद् बुधः ।
स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरूर्ध्वमुपक्रमः ॥२१
तिर्यगूर्ध्वमदृष्टि विहाय च महामतिः ।
स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समभ्यसेत् ।।२२

स्वच्छ एवं दोष-रहित भू भाग में पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन में से किसी एक योगासन को लगाकर उत्तराभिमुख बैठे और मानसिक रक्षा करता हुआ मण्डल को जप करे। फिर एक अंगुली से नाक के एक छिद्र को बन्द कर, खुले छिद्र से वायु को खींचे। फिर दोनों छिद्रों को बन्द कर वायु को रोके और एकाक्षर ब्रह्म रूप तेजोमय शब्द प्रणव का चिन्तन करे और इसी का चिन्तन करते हुए धीरे-धीरे वायु को निकाल दे। इस प्रकार प्रणव रूप दिव्य मन्त्र के अनेकों बार प्रयोग द्वारा चित्त का मल दूर कर देना चाहिए ॥१७-२०॥ इस प्रकार प्रणव का चिन्तन करे। एक समय में इस प्रणव-गर्भ प्राणायाम को स्थूलातिस्थूल मात्रा से अधिक न करे। अपनी दृष्टि को सामने, ऊपर अथवा नीचे की ओर स्थित कर, अचल रूप से स्थित रह कर योग का अभ्यास करना चाहिए ॥२१- २॥

तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा ।
द्वादशमात्रो यागस्तु कालतो नियमः स्मृतः ।२३

अघोषमव्यंजनमस्वरं च सतालुकण्ठोष्ठघनासिकं च यत् ।
अरेफजातमुभयोष्यवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कथंचित् ॥२४
येनासौ पश्यते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति ।
अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै ॥२५
हृद्द्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारमथापरम् ।
मोक्षद्वारं विलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः ॥२६

इस योग का अभ्यास नियत योजना के अनुसार करना चाहिए यह लाल वृक्ष के समान कुछ समय में ही फलदायक है । इसमें बारह मात्राओं की आवृत्ति समान समय में निश्चित की गई है ॥ ३ ॥ यह प्रणव-नाद बाह्य प्रयत्न से उच्चरित नहीं होता । यह न व्यंजन है और न स्वर है । कण्ठ, तालु, ओष्ठ और नासिका से भी नहीं बोला जाता न यह मूर्धा से उच्चरितय होता है, न दन्त नामक स्थान से । यह कभी क्षरित नहीं होता । प्रणव का प्राणायाम रूप में अभ्यास करे और मन को नाद रूप में निरन्तर लगाये रहे ॥२४॥ जिससे योगी मार्ग देखता है, उसी मार्ग से प्राण मन के साथ जाता है । प्राण के श्रेष्ठ मार्ग द्वारा गमन करने के निमित्त नित्य अभ्यास आवश्यक है । वायु का प्रवेश द्वार हृदय है, इसी के द्वारा प्राण सुषुम्ना मार्ग में प्रविष्ट होता है । इससे ऊपर ऊर्ध्वगमन मार्ग और सब से ऊपर मोक्ष-द्वार ब्रह्मरन्ध्र है । योगीजन इसे ही सूर्य मण्डल मानते हैं । इसे वेधकर प्राण त्यागने से मुक्ति की प्राप्ति होती है ॥२५-२६॥

भयं क्रोधमथालस्यम् अतिस्वप्नातिजागरम् ।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥२७
अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यते क्रमात् ।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥२८
चतुर्भिः पश्यते देवान् पञ्चभिर्विततः क्रमः ।
इच्छायाऽऽप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः ॥२९

Most Imp

पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः ।
आग्नेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः ।।३०

एकमात्रस्तथाऽऽकाशो ह्यमात्रं तु विचिन्तयेत् ।
संधिकृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनाऽऽत्मनि ।।३१

त्रित्सार्धाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणैः प्रतिष्ठितः ।
एष प्राण इति ख्यातो वाह्यप्राणस्य गोचरः ।।३२

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश ।
लक्षश्चैकोननिश्वास अहोरात्रप्रमाणतः ।।३३

प्राण आद्यो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे ।
समानो नाभिदेशे तु उदान कण्ठमाश्रितः ।।३४

व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा ।
अथ वर्णास्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात् ।।३५
रक्तवर्णो मणिप्रख्यः प्राणवायुः प्रकीर्तितः ।
अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रगोपसमप्रभः ।।३६
समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः ।
आपाण्डर उदानश्च व्यानो ह्यर्चिसमप्रभः ।।३७।।
यस्येदं मण्डलम् भित्त्वा मारुतो याति मूर्धनि ।
यत्र यत्र म्रियेद्वाऽपि न स भूयोऽभिजायते ।
न स भूयोऽभिजायत इत्युपनिषत् ।।३८।।

योगी के लिए भय, आलस्य, अधिक निद्रा, अधिक भोजन, अधिक जागरण, निराहार रहना और क्रोध करना त्याज्य हैं। इस प्रकार नियम-पालन पूर्वक नित्य अभ्यास करने वाला योगी स्वयं ज्ञान प्राप्त कर लेता है। चार मास में वह देव-दर्शन करने लगता है, पाँच में यदि वह चाहे तो वह जीवनन्मुक्त अवस्था को पा लेता है।।२७-२०।।

पृथ्वी तत्व की धारणा के समय प्रणव की पाँच मात्राओं का चिन्तन करे। जल तत्व-धारणा के समय चार, अग्नि तत्व-धारणा के समय तीन और वायु तत्व-धारणा के समय दो मात्राओं का चिन्तन करना चाहिए। आकाश तत्व की धारणा के समय प्रणव की एक मात्रा का और प्रणव का चिन्तन करते समय उसकी अर्द्ध मात्रा का ही चिन्तन किया जाता है। अपने देह में ही मानसिक धारणा द्वारा पंचभूतों की सिद्धि और चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार करने से पञ्च भूत वशीभूत होते हैं ॥३०-३१॥

जिस प्राण में तीस अंगुल प्रमाण लम्बा श्वास स्थित है, वह इस प्राणवायु का आश्रय रूप है। इसी को 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रियगोचर बाह्य प्राण में एक लाख तेरह सहस्र छः सौ अस्सी निश्वास दिन-रात में आते हैं ॥३२-३३॥

हृदय में प्राण आदि का निवास है। अपान गुदा में, समान नाभि में और उदान कण्ठ में रहता है। व्यान की स्थिति सभी अंगों में है। प्राणवायु लोहित मणि के वर्ण का, अपान इन्द्रगोप के वर्ण का, समान गोदुग्ध के वर्ण का, उदान धूसर वर्ण का, तथा व्यान अग्नि शिखा के समान वर्ण वाला एवं तेजोमय है ॥३४-३७॥

जिस साधक का प्राण इस मण्डल को वेधकर मस्तक में पहुँच जाता है, उसकी कहीं भी मृत्यु हो, वह पुनर्जन्म के चक्कर में नहीं पड़ता, पुनः जन्म नहीं लेता ॥३८॥

॥ अमृतनादोपनिषत् समाप्त ॥

(२८) एकाक्षरोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । ।सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहैं । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

'ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करे, हम दोनों का साथ ही पालन करे, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।"

एकाक्षरं त्वक्षरे तोऽसि सोमे सुषुम्नयः चेह दृढीन एकः ।
त्व विश्वभूभूं तपतिः पुराणः पर्जन्य एको भुवनस्य गोप्ता ॥१
विश्वे निमग्नः पदवीः कवीनां त्वं जातिवेदो भुवनस्य नाथः ।
अजातमग्रे स हिरण्यरेता यज्ञस्त्वमेवैकविभु पुराणः ॥२
प्राणः प्रसूतिभुं वनस्य योनिर्व्याप्ति त्वया एकपदेन विश्वम् ।
त्वां विश्वभूत्योनि परासु गर्भे कुमार एको विशिखः सुधन्वा ॥३
वितत्य वाणं तरुणार्कवर्णं व्योमान्तरे भासि हिरण्यगर्भः ।
भासा त्वया व्योत्नि कृतः सुताक्ष्यस्त्वं वै कुमारस्त्वमरिष्टनेमि ।
त्वं वज्रभृद्भूतपतिस्त्वमेव कामः प्रजानां निहितोऽसि सोमे ।
स्वाहा स्वधा यच्च वषट् करोति रुद्रः पशूनां गुहया निरुन्तः ॥५

हे भगवान् ! आप अक्षर (नाशहीन , सोम परमेश्वर रूप में और सुषुम्ना मार्ग से इस सहस्रार चक्र में ध्यान करने पर सत्तामात्र से स्थित एक ही परम तत्व (एकाक्षर रूप में अवशिष्ट रहते हो । हे भगवान् जो कभी भी एक स्वरूप से भिन्न अन्य रूप में प्रतीत नहीं होता वही एकाक्षर परमाक्षर रूप आप हैं । जैसा कि 'यदक्षरं' परब्रह्म'

कह कर सर्वत्र प्रसिद्ध है, तू ही संसार का कारण, प्राणीमात्र का स्वामी पुराण पुरुष तथा स्वरूप हो, जो कि वर्षा आदि के द्वारा भुवनों का रक्षक है ॥१॥ तू ही विश्व के कण-कण में जीवन शक्ति के रूप में व्याप्त है तथा कवियों की दृष्टि को आश्रित करके विराट् रूप ग्रहण कर भुवन का रक्षक है अथवा तू ही कवियों का आधार-भूत, वह्निरूप तथा संसार का रक्षक है। जो तू जन्म रहित ब्रह्म है वही तू वह्निरूप तथा यज्ञरूप भी है। तू ही एक मात्र व्यापक तथा पुराण पुरुष है ॥२॥ तू ही मुख रूप से (सूत्र रूप से) जैसे माला के प्रत्येक मणके में सूत्र रहता है, संसार की उत्पत्ति का कारण है। तू ने एक ही पैर से विश्व को व्याप्त कर रखा है (जैसे पुरुष सूक्त में पादोऽस्य विश्वाभूतानि लिखा है) इसी कारण तू इस सृष्टि का उत्पत्तिस्थल भी है।

तू ही विश्व की उत्पत्ति करने वाला विश्व का कारण एवं परासु अर्थात मुख्य प्राण है (जो कि कण-कण में जीवन शक्ति रूप से व्याप्त है) वह विष्णु स्वरूप है। तथा उस में भी संसार के नियन्तारूप में कुमार स्वरूप अच्छे धनुष बाण वाला है ॥३॥ तू ही हिरण्यगर्भरूप से प्रसिद्ध है मध्याह्नकालीन सूर्य वर्ण के बाण को खींचकर माया निर्मित इस प्राणिवर्ग के हृदय रूपी आकाश में प्रकाशित होता है। तेरे ही प्रकाश से प्रकाशित सूर्य आकाश में प्रकाशित होता हैं तू ही कार्तिकेय के रूप में देवताओं का सेनापति है, तू अरिष्टनेमि है, सभी प्रकार के विघ्नों का नियमन करने वाला है ॥४॥ इन्द्र रूप में तू वज्र धारण करने वाला रुद्र रूप में प्राणियों का स्वामी है। तू ही चन्द्रलोक में पितरों का कामरूप है। तू देवताओं पितरों की तृप्ति का देह यज्ञ तथा श्राद्ध आदि में किये जाने वाला स्वाहा, स्वधा तथा वषटकार है। तू प्राणिमात्र के हृदयों में (ओत प्रोत) है ॥५॥

धाता विधाता पवनः सुपर्णो विष्णुर्वराहो रजनी रहस्य।
भूतं भविष्यत्प्रभवः क्रियाश्च कालः क्रमस्त्वं परमाक्षरं च ॥३

ऋचो यजुंषि प्रसवन्ति वक्रात् सामानि सम्राड्वसुरन्तरिक्षम् ।
त्वं यज्ञनेता हुतभुग्विभुश्च रुद्रास्तथा दैत्यगणा वसुश्च ॥७
स एष देवोऽम्बरयानचक्रे अन्येऽभ्य तिष्ठेत तमो निरुन्ध्य: ।
हिरण्मयं यस्य विभाति सर्वं व्योमान्तरे रश्मिमिभं सुनाभि: ॥८
स सर्ववेत्ता भुवनस्य गोप्ता नाभि: प्रजानां निहिता जनानाम् ।
प्रोता त्वमोता विचित्रः क्रमाणां प्रजापतिश्छन्दमयो विगर्भः ॥९
सामैश्चिदन्तो विरजश्च बाहुं हिरण्मथं वेदविदां वरिष्ठम् ।
यमध्वरे ब्रह्मविदः स्तुवन्ति सामैर्यजुभि: ऋतुभिस्त्वमेव ॥१०

तू ही प्राण रूप में धाता, विश्व की सृष्टि के कर्तारूप में विधाता पवन, गरुण, विष्णु, वराह, रात तथा दिन है । भूत भविष्य तथा वर्तमान भी तू ही है । सारी क्रियायें, काल गति (प्राणिमात्र की) तथा वस्तुत: परमाक्षर (परम अविनाशी तत्व) तू ही है ॥३॥ जिसके मुँह से ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद प्रादुर्भूत होते हैं तू वही भली भाँति प्रकाशित होने वाला है । तू ही वसु, आकाश, अग्नि, जो कि यज्ञ का नेता है (यज्ञ स्वरूप) तथा व्यापक है तू ही एकादश रुद्र तथा दैत्यगणों के रूप में है जो कि सर्वव्यापी है ॥७॥ इस प्रकार विभिन्न रूपों वाला तू ही सूर्यमण्डल में तथा अन्यत्र अन्धकार को विनष्ट करता हुआ स्थित है । तथा जिस विराट् स्वरूप के हृदय रूपी आकाश में ब्रह्माण्ड-गर्भिणी (सारा ब्रह्माण्ड जिसके गर्भ में हैं) ऐसी सुनाभि नामक माया विद्यमान है वह भी तू ही है । तथा सूर्य आदि में प्रकाशमान जो रश्मि समूह है वह भी तेरा ही प्रकाश है, तेरे द्वारा ही प्रकाशित है ॥८॥ तू ही सर्वज्ञ सृष्टि का रक्षक तथा प्राणिमात्र की जीव-आधार स्वरूप नाभि है। अन्तर्यामी रूप से तू ही सर्वत्र ओत-प्रोत है । तू ही विविध प्रकार की गतियों की विश्रान्ति स्वरूप है । तू ही प्रजापति है जो विष्णु के गर्भ रूप (कमलनाल) में स्थित तथा वेद स्वरूप है ॥ ९ ॥ जो कि रजोगुण से परे तथा बिरज: मन्न है (जिसके हृदय का) निश्चयपूर्वक साम, ऋक्, यजुर्वेद आदि से भी ज्ञान नहीं होता । उन तुम सहस्रबाहु (हजारों हाथ वाले) ज्योति: स्वरूप वेद वेत्ताओं में श्रेष्ठ को ब्रह्म ज्ञानी लोग समगानों द्वारा तथा यजुर्वेदीय यज्ञस्तुतियों द्वारा गाया करते हैं, तेरी प्रार्थना करते हैं ॥१०॥

त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च कुमार एकस्त्वं वै कुमारी ह्याथ भूस्त्वमेव।
त्वमेव धाता वरुणश्च राजा वत्सरोऽग्न्यर्यमं एव सर्वम् ॥११
मित्रः सुपर्णश्चन्द्र इन्द्रो वरुणो रुद्रस्त्वष्टा विष्णुः सविता गोपतिस्त्वम् ।
त्वं विष्णुर्भूतानि तु त्रासि दैत्यांस्त्वयाऽऽवृतं जगदुद्भवगर्भः।
त्वं भूर्भुवः स्वस्त्वं हि स्वयंभूरथ विश्वतोमुखः ॥१२
य एवं नित्य वेदयते गुहाशयं प्रभुं सर्वंभूतं पुराणं हिरण्यम् ।
हिरण्मयं बुद्धिमत्तां परां गतिं स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥१३

स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका, पृथ्वी, धाता, वरुण, राजा (समुद्रराज) वर्षारूप, अर्यमा (सूर्य) आदि सब कुछ जो भी दृष्टि-गोचर होता है तू ही है, तेरा ही स्वरूप है।११।। सूर्य, गरुड़,चन्द्र, वरुण, रुद्र, प्रजापति, विष्णु, सविता, पशुपति (जो कि इन्द्रियों के स्वामी कहे जाते हैं) वह सब तू ही है। तू ही विष्णु है। तू ही दैत्यों के भय से मनुष्यों का त्राण करता है। तू ही जगद् भूगर्भ है, तेरे द्वारा ही (जो कि, सत्, चिद्, आनन्द स्वरूप है) सारा ब्रह्माण्ड आवृत्त है। तू ही स्वयम्भूः (स्वयं उत्पन्न होने वाला) तथा विश्वतोमुख (सर्वत्र सभी वस्तु रूप में विद्यमान) सर्वतोमुख है। तू ही भूः भुवः स्वः आदि व्याहृति रूप में विद्यमान है ॥१२॥ जो इस हृदय स्थित पुराण पुरुष के (आदि पुरुष को) जो कि सर्व प्राणिस्वरूप तथा तेज-स्वरूप है जानता है, इसके स्वरूप को समझता है, वह ब्रह्मज्ञानियों की परम गति को, अविद्याजन्य भ्रम बुद्धि का अतिक्रमण कर प्राप्त हो जाता है अर्थात् जीवन्मुक्त, सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करने वाला ज्योतिस्वरूप हो जाता है।

॥ एकाक्षरोपनिषत् समाप्त ॥

23/06/95

प्रणव की बारह मात्राओं के नाम इस प्रकार हैं ।
(1) घोषिणी (2) विद्युन्माला (3) पतङ्गी (4) वायुवेगिनी (5) नामधेया (6) ऐन्द्री (7) वैष्णवी (8) शाङ्करी (9) महती (10) ध्रुवा (11) मौनी (12) ब्राह्मी ।

(30) नादबिन्दूपनिषत्

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणोस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वादिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ । हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ । मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः !
मकार पुच्छमित्याक्षरर्धमात्रा तु मस्तकम् ॥१
पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते ।
धर्मोऽस्यदक्षिणश्चक्षुरधर्मोऽथोपरः स्मृतः ॥२
भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि ।
सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जिगत् ॥३
जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः ।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ॥४

सहस्रार्णमती नाऽत्र मन्त्र एष प्रदर्शितः ।
एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥५

यदि प्रणव को हम हंस मानें तो "अकार" उसका दाहिना पंख, "उकार" बायाँ पंख, "मकार" उसकी पूँछ और अर्द्धमात्रा सिर है। तब सतोगुण शरीर और रजोगुण व तमोगुण-दोनों पैर कहलाएंगे। लोकों की स्थिति इस प्रकार होगी कि नाभि देश में महर्लोक, कटिदेश में स्वर्लोक, जानुओं मे भुवर्लोक और पैरों में भूलोक होगा। इसी प्रकार से जनलोक, तपोलोक और सत्य लोक उसके हृदय, कण्ठ और ललाट व भौहों के बीच में स्थित होंगे। इस प्रणव रूपी हंस पर चढ़कर, उसके अनुष्ठान व ध्यान की विधि में दक्ष साधक मनन व चिन्तन करता हुआ हजारों पापों से निवृत होकर मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है ॥१-५॥

न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि ।
आग्नेयो प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथा परा ॥६

भानुमण्डलसङ्काशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा ।
परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विबुर्बुधा ॥७

कालत्रयेऽपि यस्येमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः ।
एव ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत: ॥८

घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथा परा ।
पतङ्गिनी तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनो ॥९

पंचमी नानधेया तु षष्ठी चैंद्यु भिधीयते ।
सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शाङ्करीति च ॥१०

नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता ।
एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा ॥११

प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
भरते वर्षराजाऽसौ सार्वभौमः प्रजायते ॥१२
द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान् ।
विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका ॥१३
पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते ॥१४
षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।
अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं यथा ॥१५
नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत् ।
एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम् ॥१६

'ॐकार' के अग्नि देवता हैं। अग्नि के मण्डल की तरह ही इस का रूप है और आग्नेयी ही उसकी पहली मात्रा है। 'उकार' के वायु देवता हैं। वायु के मण्डल की तरह ही उसका रूप है और वायव्या ही उसकी दूसरी मात्रा है। 'मकार' के देवता सूर्य हैं, सूर्य के मण्डल की तरह उसका रूप है और यह तीसरी उत्तर-मात्रा है। चौथी अर्थमात्रा वारुणी के देवता वरुण हैं। इन सभी प्रकार की मात्राओं में तीन-तीन सुन्दर मुख हैं। इसलिए प्रणव को द्वादशकलात्मक कहा जाता है। धारणा ध्यान और समाधि ही उसे जानने के साधन हैं। प्रणव की बारह प्रकार की कलाओं में मात्राओं के नाम इस प्रकार कहे जाते हैं—पहली—घोषिणी, दूसरी—विद्युन्माला, तीसरी—पतङ्गी, चौथी—वायुवेगिनी, पाँचवी—नामधेय, छठी—ऐन्द्री, सातवीं—वैष्णवी, आंठवीं—शंकरी, नवीं—महती, दसवीं—ध्रुवा, ग्यारहवीं—मौनी और बारहवीं—ब्राह्मी। यदि पहली मात्रा में साधक का शरीर छूट जाता है तो भारत के चक्रवर्ती सम्राट के रूप में शरीर धारण करता है। दूसरी मात्रा में शरीर छूटने पर यशस्वी यक्ष बनता है, तीसरी मात्रा में विद्याधर और चौथी में

ग्रंधर्व का जन्म लेता है। पाँचवीं मात्रा में प्राणान्त होने पर तुषित नाम के देवताओं के साथ निवास करता हुआ चन्द्रलोक में विभूषित होता है। छठी मात्रा में प्राणों का उत्क्रमण होने पर इन्द्रदेव का सायुज्य मिलता है। सातवीं मात्रा में विष्णु भगवान का पद प्राप्त होता है। आठवीं मात्रा में प्राणों का वियोग होने पर शङ्कर भगवान का सामीप्य मिलता है। नवीं मात्रा में महर्लोक, दसवीं में ध्रुवलोक, ग्यारहवीं में तपोलोक, और बारहवीं मात्रा में प्राणान्त होने पर साधक ब्रह्मलोक में स्थान प्राप्त करता है ॥६=१६॥

ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं शिवम् ।
सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः ॥१७
अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत् ।
अनूपमं शिवं शान्तं योगयुक्तं सदा विशेत् ॥१८
तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुञ्चेत् कलेवरम् ।
संस्थितो योगचारेण सर्वसर्गविवर्जितः ॥१९
ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः ।
तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते ॥२०

परब्रह्म को जानने के लिए इससे भी ऊंचा, श्रेष्ठ, शुद्ध और कल्याणकारी तत्व है जिस में सभी तरह की ज्योतियाँ (अग्नि, सूर्य व चन्द्र आदि) निकलती हैं। साधक की स्थिति योगयुक्त तब कही जा सकती है जब उसका मन इन्द्रियों और सत, रज व तम तीनों गुणों से परे हो जाता हूँ, परतत्व से लीन हो जाता है, उपमारहित हो जाता है। ऐसे योगमार्ग के पथिक को जिसे भगवान में श्रद्धा और आसक्ति है, उसे सब तरह के भौतिक आकर्षणों को छोड़ कर शनैः-शनैः शरीर में स्थिति 'अहं' को भी त्याग देना चाहिए। यह होने पर यह सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर कैवल्य पय को प्राप्त कर लेता

है और तब वह परमात्मा का साक्षात् स्वरूप ही हो जाता है, परम आनन्द को प्राप्त करता है ॥१६–२०॥

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते ।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमसि ॥२१

उत्पन्ने चात्मविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति ।
तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्ध नैव विद्यते ॥२२

देहादीनामसत्त्वात्त यथा स्वप्ने विबोधतः ।
कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम् ॥२३

यत्तु जन्मान्तराभावत्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित् ।
स्वप्नदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः ॥२४

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः ।
उपादानंप्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति ॥२५

अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्वा विश्वता ।
यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्नाति वै भ्रमात् ॥२६

तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ।
रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ॥२७

अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते ।
देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धिवस्थितः कुतः ॥२८

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते ।
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥२९

ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः ।
स्वयंमाविभवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥३०

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्यतं सदा ॥३१

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यामावृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ।।३२

हे बुद्धिमान पुरुष ! तुम्हें आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए सदैव चेष्टा करनी चाहिए और अपने मूल्यवान समय को उसी के चिंतन में बिताना चाहिए । प्रारब्ध कर्मों के अनुसार जो कष्ट और कठिनाइयाँ भोगरूप में सामने आती हैं उनसे खिन्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है, तब भी इस प्रारब्ध से छुटकारा नहीं हो पाता । जिस प्रकार से स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थ सत् और स्वप्न से जागने पर असत्य जान पड़ते हैं उसी प्रकार तत्वज्ञान हो जाने पर ज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्ध कर्मों का लय हो जाता है । पिछले जन्मों में किए हुए कर्मों को ही प्रारब्ध कहते हैं । ज्ञानी की दृष्टि में तो जन्मान्तर भी नहीं रहता तब उसके लिए प्रारब्ध का भी अभाव हो जाता है । जिस प्रकार से स्वप्न के समय के शरीरादिक वास्तव में शरीरादि नहीं होते, केवल आभास मात्र होते हैं उसी तरह से जाग्रतावस्था में भी शरीर आभासमात्र होता है । जिस वस्तु का केवल आभास होता है, उसकी उत्पत्ति कहाँ होती है और जो पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, उसकी स्थिति कहाँ से हो ? जिस तरह से मिट्टी, मिट्टी के बर्तनों का उपादान कारक होती है, उसी तरह से आत्मा ही इस सारे सांसारिक प्रपञ्च का उपादान का कारक है । वेदान्त की दृष्टि से इस सांसारिक प्रपञ्च के आभास कारण अज्ञान ही है । अज्ञान के समाप्त होने पर संसार की सांसारिकता नहीं रहती । जिस तरह से भ्रम बुद्धि से मनुष्य रस्सी को ही सर्प समझने लगता है इसी प्रकार से मनुष्य आत्मा के ज्ञान अभाव में इस सांसारिक प्रपंच को भी सत्य देखता है । जब मनुष्य इसको भली प्रकार से जान लेता है तो पहले दिखाई देने वाले सर्प की भावना नहीं रहती । इसी तरह से जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब इस सांसारिक प्रपञ्च का भी लय हो जाता है । चूँकि शरीर

भी एक प्रकार का प्रपञ्च है, इसलिए उसके भी अभाव का अनुभव होने लगता है। इस भाव में जब साधक की स्थिति पहुँच जाती है, तब प्रारब्ध समाप्त हो जाती है। अज्ञानियों को बतलाने के लिए ही प्रारब्ध की बातें समझाई जाती हैं। जिस प्रकार से बादलों के चले जाने पर सूर्य का उदय होता है, उसी तरह प्रारब्ध के समाप्त होने पर तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता का चिन्तन करने पर कल्याणकारी, ज्योतिस्वरूप परमात्मा का नादरूप में साक्षात्कार होता है। योगी को सिद्धासन से बैठना चाहिये, वैष्णवी मुद्रा धारण करनी चाहिए और अनाहत ध्वनि को दाँये कान में सुनना चाहिये। इस तरह का नाद किया गया अभ्यास बाहर की ध्वनियों को ढक लेता है। इस तरह से 'अकार' और 'मकार' के दोनों पक्षों पर विजय प्राप्त करके धीरे-धीरे सारे प्रणव को जीते। इस प्रकार करने पर साधक तुर्यपद को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार कर लेता है ॥२१-३२॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमानस्तथाऽभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥३३

आदौ जलधिजीमूतभेरीरिर्भ्भरसम्भवः ।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥३४

अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिस्वनः :
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः। ३५

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥३६

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्तं मनोनान्यत्र चालयेत् ॥३७

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।

तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ।।३८
विस्मृत्य सकलवाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः ।
एकीभूपाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ।।३९
उदासीनस्ततो भूत्वा सदाऽभ्यःसेन संयमो ।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत ।।४०
सर्वचिन्तां समुसृज्य सर्वंन्रेष्टाविवर्जितः ।
नादमेवानुसंध्यान्नादो चित्त विलीयते ।।४१

अब पहले-पहल यह अभ्यास किया जाता है तो यह नाद कई तरह का होता है और बड़े जोर-जोर से सुनाई देता है परन्तु अभ्यास बढ़ जाने पर नाद धीमे से धीमा होता जाता है। शुरू में इस नाद की ध्वनि नागरी, झरना, भेरी मेघ और सुमुन की तरह होती है परन्तु बाद में भ्रमर, वीणा, वंशी तथा किङ्किरो की तरह मधुर होती है। इस तरह से वह ध्वनि धीमी से धीमी होती हुई कई तरह की सुनाई देती है। भेरी आदि की ध्वनि सुनने पर उसम धीमे से धीमे नाद का विचार करना चाहिए। साधक को चाहिए कि वह धीमे से घने और घने से धीमे से नाद में जाए और मन को इधर उधर न भटकने दे। मन का स्वभाव यह है कि पहले धीमे या घने जिस भी नाद में वह रुचि लेने लगता है, उसमें स्थिर हो जाता है और उसी के साथ वह विलीन भी हो जाता है। जब मन समस्त सांसारिक प्रपञ्चों को भूल जाता है तो जिस तरह दूध में पानी मिल जाता है, उसी तरह उस नाद के साथ एक होकर उसका चिदाकाश में लय हो जाता है। संयमी पुरुष को चाहिए कि जिस नाद में मन लगे, उस नाद को सुनता रहे और उसी का चिन्तन भी करता रहे। चूंकि नाद में चित्त विलीन हो जाता है इसलिए समस्त चिन्ताओं को छोड़कर और समस्त चेष्टाओं को त्याग कर उस नाद की ही खोज करनी चाहिये ।।३६-४१।।

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान् नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं सदा चित्त विषयं न हि काङ्क्षति ॥४२
बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संयक्त चापलम् ।
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्ग भुजंगमः ॥४३
विस्मृत्य विश्व मेकाग्रं कुत्रावचिन्न हि धावति ।
मनोन्मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः । ४४
नियामनसमर्थोऽयं धिनादो विशतांकुशः ।
नादोऽन्तरगसांगबन्धने वागुरायते ॥४५

भ्रमर जिस तरह से फूलों का रस ग्रहण करता हुआ फूलों के गन्ध की अपेक्षा नहीं करता उसी तरह नाद में रुचि लेने वाला चित्त विषय वासना की दुर्गन्ध की इच्छा नहीं रखता । जिस तरह से सर्प नाद को सुनकर मस्त हो जाता है उसी तरह चित्त उस नाद में आसक्त होकर सभी प्रकार की चपलताएँ भूल जाता है । जब वह संसार को चपलताओं को भूल जाता है तो उसमें एकाग्रता आने लगती है और वह इधर-उधर विषयों की ओर नहीं भागता । विषय वासनाओं के वन में घूमने वाला मन रूपी हाथी नाद के अभ्यासरूपी तेज अंकुश से ही काबू में आ पाता है । यदि हम मन को हिरन और तरङ्ग की संज्ञा दें तो यह नाद उस हिरन को फाँसने के लिए जाल का और तरङ्ग को रोकने के लिए तट का काम देता है ॥४२-४५॥

अन्तरंगतरंगस्य रोधे वेलायतेऽपि च ।
ब्रह्मप्रणवसलनिनादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥४६
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परम पदम् ।
तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥४७
नि:शब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीर्यते ।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्तो तु मनोन्मनी ॥४८

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ।
सदा नादानुसंधानात्संक्षीणा वासना भवेत् ॥४६॥
निरञ्जने विलीयते मनोवायू न संशयः ।
नादकोटिसहस्राणि विन्दुकोटिषतानि च ॥५०॥

नाद के प्रणव में संलग्न होने पर वह ज्योतिर्मय हो जाता है। उस स्थिति में मन का लय हो जाता है। उसी को विष्णु भगवान का परमपद कहते हैं। मन में आकाश का सङ्कल्प तभी तक रहता है जब तक कि शब्द बोले व सुनाई देते रहते हैं। शब्दों के न रहने पर तो वह परमात्मा का अनुभव करने लगता है नाद के रहने तक ही मन का अस्तित्व रहता है। मन के अमन होने की स्थिति तब आती है जब नाद धीमे से धीमा होता जाता है। शब्दों में याद किया हुआ नाद अक्षर ब्रह्म में लीन हो जाता है। जब नाद में शब्द न दिखाई दें तो ही यह समझना चाहिए कि यही परमपद है। जब नाद की खोज करने पर विषय वासनायें दग्ध हो जाती हैं तो निश्चय रूप से मन और प्राण का परब्रह्म में लय हो जाता है। यू कहना चाहिये कि हजारों नादों व हजारों बिन्दुओं का उस ब्रह्मप्रणवनाद में लय हो जाता है ॥४६-५०॥

सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्दाविवर्जितः ॥५१
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ।
शङ्खदुन्दुभीनादं च न श्रृणोति कदाचन ॥५२
काष्ठवज्ज्ञायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःख न सुखं तथा ॥५३
न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना ।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥५४

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थामियात् ।।५५
दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनाऽवलम्ब
स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः ।।५६
इत्युपनिषत् ।।

निःसन्देह ही वह योगी मुक्तावस्था में माना जाता है जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीनों अवस्थाओं के परे हो जाता है और सब तरह की सांसारिक चिन्ताओं को छोड़कर मुर्दे की तरह हो जाता है। वह शंख और दुन्दभि के नाद को कभी भी श्रवण नहीं करता। मन के अमन होने की स्थिति आने पर मन शरीर में रहते हुए भी लकड़ी की तरह जड़ हो जाता है। उसे फिर सर्दी-गर्मी और सुख-दुख व मान अपमान की अनुभुति नहीं होती। समाधि परपदासीन हो वह इन सबको छोड़ देता है। तब योगी का चित्त इतना स्थिर हो जाता है कि वह तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) का कभी पीछा नहीं करता। जाग्रत एवं स्वप्नावस्था से निवृत्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है। न दिखाई देने वाली वस्तु के अभाव में जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, चेष्टा के अभाव में जिसकी वायु स्थिर हो जाती है, आश्रय के अभाव में ही जिस के चित्त की स्थिरता हो जाती है, उस योगी को ब्रह्मप्रणवनाद की तुरीय-तुरीय अवस्था में पहुँचा समझना चाहिए। यह इतना उपनिषद् है ।। ५१—५६ ।।

।। नादबिन्दूपनिषद् समाप्त ।।

ॐ

19/06/95

(२१) तुरीयातीतोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थिति-रिति सर्वलोक पितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिस-मेत्योवाच । तमाह भगवान्नारायणः । योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैराग्यमूर्तिः स एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते । महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य, बहूदको हंसत्वमवमवलम्ब्य, हंसः परमहंसो भूत्वा, स्वरूपानुसन्धानेन सर्वप्रपञ्च विदित्वा, दण्डकमंडलु-कटिसूत्रकौपीनाच्छादनस्वविध्युक्तक्रियादिकं सर्वमप्सु सन्यस्य, दिगम्बरो भूत्वा, विवर्णजीर्णवल्कलाजिनपरिग्रहमपि संत्यज्य, तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरनः क्षौराभ्यङ्गस्नानोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विहाय, वैदिकलौकिकमप्युपसंहृत्य, सर्वत्र पुण्यापुण्यविवर्जितः, ज्ञाना-ज्ञानमपि विहाय, शीतोष्णसुखदुःखमानावमानं निर्जित्यः देहा-दिवासनात्रयपूर्वकं निन्दानिन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषकाम-क्रोधलोभमोहहर्षामर्षासूयात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा, स्ववपुः कुण-

पाकर्मिव पश्यन्, अप्रयत्नेनियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा, गोवृत्त्या प्राणसंधारणं कुर्वन् यत्प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः, सर्व-विद्यापांडित्यप्रपञ्चं भस्मीकृत्य स्वरूपं गोपयित्वा, ज्येष्ठा-ज्येष्ठत्वापलापकः, सर्वोत्कृष्टत्वसर्वात्मकत्वाद्वैतं कल्पयित्वा मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चिन्नान्योऽस्तीति भावनस्य देवगुह्यादि-धनमात्मन्युपसंहृत्य, दुःखेन नोद्विग्नः सुखेन नानुमोदकः, रागे निःस्पृहः, सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहः, सर्वेन्द्रियोपरमः स्वपूर्वापन्नाश्रमाचारविद्याधर्मप्राभवमननुस्मरन्, त्यक्तवर्णा-श्रमाचारः, सर्वदा दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः, सर्वत्र सर्वदा संचार-शीलः देहमात्रावशिष्टः जलस्थलकमण्डलुः, सर्वदानुन्मत्तो बालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरन्, असम्भाषणपरस्य स्वरूप-ध्यानेन निरालम्बवलम्ब्य, स्वात्मनिष्ठानुकूल्येन सर्वं विस्मृत्य, तुरीयातीतोऽवधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः, प्रणवात्मकत्वेन देह-त्यागं करोति यः सोऽवधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥१॥

अपने पिता भगवान नारायण के पास जाकर पितामह ब्रह्माने कहा—"तुरीयातीत अवधूत का मार्ग क्या है और उनकी स्थिति कैसी होती है ?" तब भगवान नारायण ने कहा—"अवधूत के मार्ग पर चलने वाले पुरुष दुर्लभ हैं, वे बहुत नहीं होते अगर वैसा एक भी हो तो वह नित्य पवित्र, वैराग्यपूर्ण मूर्ति, ज्ञानाकार और वेद पुरुष होता है, ऐसी विद्वानों की मान्यता है। ऐसा महापुरुष अपना चित्त मुझमें रखता है और मैं उसके अन्तर में स्थित रहता हूँ। वह आरम्भ के कुटीचक होता है, फिर बहूदक की श्रेणी में आता है। बहूदक से

हंस बनते हैं और फिर परमहंस होते हैं। वे निज स्वरूपानुसन्धान से समस्त प्रपञ्च के रहस्य को जान जाते हैं और तब दण्ड, कमण्डलु, कटिसूत्र, कौपीन, आच्छादन करने वाले वस्त्र और विधिपूर्वक की जाने वाली क्रियाओं को जल में त्याग देते हैं। तब वे दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर विवर्ण और जीर्ण वल्कल (छाल का वस्त्र और अजिन का भी त्यागकर सब प्रकार के विधि-निषेध रहित बनकर रहते हैं। वे क्षौर (बाल बनवाना), अभ्यङ्ग, स्नान, ऊर्ध्व, पुंड्रादिक का भी त्याग कर देते हैं। वे लौकिक और वैदिक कर्मों का, पुण्य और अपुण्य का ज्ञान और अज्ञान का भी त्याग कर देते हैं। उनके लिये सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, मानापमान नहीं होता। वे तीनों वासनाओं सहित निन्दा-अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अमर्ष, असूया, आत्म संरक्षण की भावना को आग में झोंक देते हैं और अपनी देह को मुर्दा के सदृश्य समझ लेते हैं। वह प्रयत्न, नियम, लाभालाभ की भावना से शून्य होते हैं। गौ की तरह जो कुछ मिल जाता है उसी से प्राण धारण करते हैं और सब प्रकार के लालच से रहित होते हैं। वे विद्या, पांडित्य को प्रपञ्च समझ कर धूल की तरह त्याग देते हैं, अपने स्वरूप को छिपाकर रखते हैं और इसलिये दिखलाने के लिये छोटे-बड़े की भावना को पूर्ववत् मानते रहते हैं। सर्वोत्कृष्ट और अद्वैत रूप की कल्पना करते हैं। वे मानते हैं कि 'मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है' (अर्थात् मैं ही पूर्ण ब्रह्म हूँ)। वे देव और गुरुरूपी सम्पत्ति का आत्मा में उपसंहार करके न तो दुःख से दुखी होते हैं और न सुख से प्रसन्न होते हैं। वे राग से पृथक रहते हैं और शुभाशुभ किसी बात से कभी स्नेह नहीं रखते उनकी सब इन्द्रियाँ उपराम को प्राप्त होती हैं। वे अपने पूर्व-जीवन के आश्रम, विद्या, धर्म, प्रभाव आदि का स्मरण नहीं करते और वर्णाश्रम के आचार का त्याग कर देते हैं। उनको दिन तथा रात समान होता है, इसलिये सोते नहीं (कभी असावधान नहीं

होते) सदा विचरण करते हैं। उनका देहमात्र ही अवशिष्ट रहता है। जल और स्थल ही उनको कमण्डलु का काम देता है। वे सदैव उन्मत्तता से रहित होते हैं पर बाहर से बालक, उन्मत्त अथवा पिशाच के समान बनकर एकाकी रहते हैं। किसी से संभाषण नहीं करते वरन् सदैव स्वरूप के ध्यान में ही रहते हैं। वे निरालम्ब का अवलम्बन करके आत्मनिष्ठा के अतिरिक्त और सब का ध्यान भुला देते हैं। इस प्रकार का तुरीयातीत अवधूत के वेष वाला सदैव अद्वैत-निष्ठा में तत्पर रहता है और प्रणव ... ाग करता है। वही अवधूत है और ... हैं ॥ॐ तत्सत्॥१॥
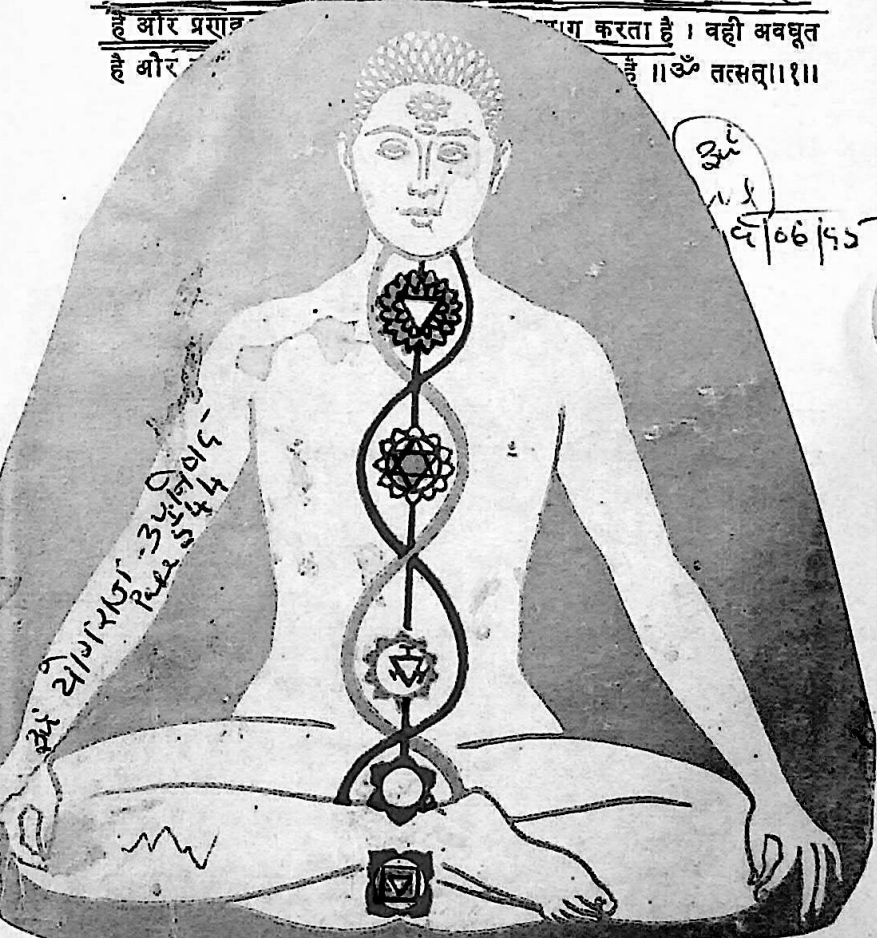
योगराजोपनिषत्

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥१
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
आसनं प्राणसरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ॥२
एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम् ।
ब्रह्माविष्णुशिवादीनां मन्त्र जाप्यं विशारदैः ॥३
साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा ।
कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः ॥४
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः ।
प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति ॥५

अब योगियों को योगसिद्धि के लिए 'योयराज' का निरूपण किया जाता है । यह योग, मन्त्र, लय, राज तथा हठयोग—इस चार संख्या वाला है ॥ ॥ तत्व के द्रष्टा योगियों ने इसे चार प्रकार का बताया है—आसन, प्राणसंरोध, ध्यान तथा समाधि ॥२॥ सब योगों में सम्मत इन चारों को समझना चाहिए । पण्डितों को चाहिए कि वह ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के मन्त्र का जप करें ॥३॥ वत्सराज आदि के द्वारा मन्त्र योग सिद्ध किया गया तथा व्यास आदि ने लययोग को सिद्ध किया ॥४॥ महात्मा जब नवों चक्रों में लय करके योगसिद्ध प्राप्त करते हैं । पहला चक्र भग की आकृति वाला तीन बार आवृत (घेरा वाला) हुआ करता है जिसे कि ब्रह्मचक्र कहते हैं ॥५॥

अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः ।
तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा ॥६

तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे ।
स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक तन्मध्यगं विदुः ।।७
पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम् ।
तत्रोद्रीयाणपीठेषु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत् ।।८
तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये तु जगत् स्थितम् ।
पञ्चावर्तां मध्यशक्ति चिन्तयेद्विद्यु दाकृति ।।९
तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः ।
चतुर्थं हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम् ।।१०

अपानस्थल में मूल-कन्द है, जिसे कि कामरूप कहा गया है, उसे ही वह्निकुण्ड तथा तत्व कुण्डलिनी कहा जाता है ।। ६ ।। मुक्ति के लिए उस ज्योति-स्वरूप जीवरूप का ध्यान करना चाहिए । दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान होता है जो कि बीच में बतलाया जाता है ।। ७ ।। पश्चिमाभिमुख एक लिंग है जो कि प्रवाल के अन्दर अंकुर के समान चमकदार है । सो उद्रीयोग पीठों में उसका ध्यान कर संसार का आकर्षण करना चाहिए (अपने में खींचना चाहिए) ।। ८ ।। तीसरा नाभि चक्र है जिसमें कि संसार स्थित है । पंचावृत (पांच घेरे वाली) बिजली के समान तेजस्विनी मध्य शक्ति का चिन्तन करना चाहिए । ९।। ज्ञानी पुरुष उसके ध्यान कर लेने पर सभी सिद्धियां प्राप्त कर लेता है । चौथा चक्र हृदय में समझना चाहिए जिसका मुंह नीचे की ओर है ।।१०।।

ज्योतीरूपंचयन्तध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः ।
तं ध्यायतो जगत् सर्वं वश्यं स्यान्नत्र संशयः ।।११
पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् सतत्र वामे इडा भवेत् ।
दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्ना मध्यतः स्थिता ।।१२
तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत् ।
षष्ठं च तालकाचक्रं घण्टिकास्थानमुच्यते ।।१३
दशमद्वारमार्गं तद्राजदन्तं च तज्जगुः ।
तत्र शून्ये लयं कृत्व मुक्तो भवति निश्चितम् ।।१४

भ्रू चक्रं सप्तमं विद्यादबिन्दुस्थानं च तद्विदुः ।
भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते ॥१५

प्रकाश स्वरूप हंस (ब्रह्म) का उसके बीच में बड़े यत्न से ध्यान करना चाहिए । उसको ध्यान करने वाले मनुष्य के वश में सारा संसार हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥११॥ पाँचवाँ कंठ-चक्र है जिसके बाँये इडा, दाहिने पिंगला तथा मध्य में सुषुम्ना स्थित है ॥१२। उसमें परम पवित्र ज्योति का ध्यान करने पर सभी सिद्धियाँ प्राप्त होजाती हैं । छठा चक्र तालुका चक्र है जो कि घण्टिका स्थान कहा जाता है ॥१३॥ जो दसवें द्वार का मार्ग है उसे राजदन्त कहा गया है । वहां शून्य में मनोलय करके मनुष्य निश्चय ही मुक्त हो जाता है ॥१४॥ सतवां चक्र भ्रूचक्र है जिसे बिन्दुस्थान कहा गया है । भौंहों के बीच गोलाकार ज्योति का ध्यान करके योगी मुक्त हो जाता है ॥१५॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकन ।
तं ध्यात्वा सूत्रिकायामं धूमाकरं विमुच्यते ॥१६
तच्च जालन्धरं ज्ञेय मोक्षदं नीलचेतसम् ।
नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रै षोडशभियुंतम् ॥१७
संविद्ब्रू याच्च तन्मध्ये शक्तिरुद्धा स्थितां पता ।
तत्रा पूर्णा गिरौ पीठे शक्ति ध्यात्वा विमुच्यते ॥१८
एतेषां नवचक्राण मेककं ध्यायतो मुनेः ।
सिद्धयो मुक्तिसंहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने ॥१९
एको दण्डद्वयं मध्ये पश्यति ज्ञानचक्षुषा ।
कदम्बगोलाकारं ब्रह्मलोकं वसन्ति ते ॥२०
ऊर्ध्वशक्तिमपानेन अधः शक्ते निंकुञ्चनात् ।
मध्यशक्ति प्रबोधेन जायते परमं सुखे
जायते परमं सुखम् इति । २१

आठवाँ चक्र ब्रह्मरन्ध्र है जो कि परम् मोक्ष का सूचक है । उस धूम्र वर्ण का सूतिका समूह का ध्यान कर योगी मोक्ष को प्राप्त करता

है ॥१६॥ उसे जालन्धर समझना चाहिये जोकि नीला है एवं मोक्ष का देने वाला है। नौवां चक्र व्योम, जो सोलह दल वाला है ॥१७॥ उसके मध्य में संविद करना चाहिए, उसमें परा शक्ति स्थित है। उस पीठगिरि में पूर्ण शक्ति का ध्यान कर योगी बन्धन मुक्त हो जाया करता है ॥१८॥ इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक का ध्यान करने वाले मुनि के हाथ में प्रतिदिन मुक्ति से युक्त सभी सिद्धियां आ जाया करती हैं ॥१६॥ ज्ञान-चक्षु से जो भी मध्य में ही दण्ड को देखते हैं, जो कि कदम्ब के गुच्छा के समान गोल है, वे सब ब्रह्मलोक पहुँच जाते हैं ।२०। ऊर्ध्वशक्ति के निपात से तथा अधःशक्ति को सिकोड़ने से एव बीच की शक्ति को जगा देने से परम सुख प्राप्त हुआ करता है, यह निश्चित बात है ॥२१॥

॥ योगराजोपनिषद् समाप्त ॥

—०—

आत्मपूजोपनिषत्

ॐ तस्य निश्चिन्तनं ध्यानम्। सर्वकर्म निराकारणमावाहनम्। निश्चलज्ञानमासनम्। समुन्मनं भावः पाद्यम्। सदाम्नस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिराचमनीयम्। वराकृतप्राप्तिः स्नानम्। सर्वात्मकत्वं दृश्यविलयो गन्धः। दृगविशिष्टात्मानः अक्षतः। चिदादीप्तिः पुष्पम्। सूर्यात्मकत्वं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्व प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। परमेश्वरस्तुतिर्मौनम्। सदासन्तोषी विसर्जनम्। एव परिपूर्णराजयोगिनः सर्वात्मकपूजोपचारः स्यात्। सर्वात्मकत्वं आत्माधारो भवति। सर्वनिरामयपरिपूर्णोऽहमस्मीति मुमुक्षणां मोक्षैकसिद्धिर्भवति॥इत्युपनिषत॥

उस आत्मा का निरन्तर चिन्तन ही उसका ध्यान है। सभी कर्मों का त्याग ही आवाहन है। निश्चल (स्थिर) ज्ञान ही आसन है। उसके प्रति सदा उन्मन रहना ही पाद्य है उसकी ओर मन लगाये रखना ही अर्घ्य है। सदा आत्माराम की दीप्ति ही आचमनीय है। वर प्राप्ति ही स्नान है। सर्वात्मक रूप दृश्य का विलय (शून्य लय समाधि) ही गंध है। अन्तःज्ञान चक्षु ही अक्षत है। चिद् का प्रकाश ही पुष्प है। सूर्यात्मक ही दीप है। परिपूर्ण जो चन्द्र उसके अमृतरस का एकीकरण ही नैवेद्य है। निश्चलता (स्थिरता) प्रदक्षिणा,है। "सोऽहं" यह भाव ही नमस्कार है। परमेश्वर की स्तुति ही मौन है। सदा सन्तुष्ट रहना ही विसर्जन है। इस प्रकार परिपूर्ण राजयोगी का सर्वात्मक रूप जो पूजा उसका उपचार (सामग्री) सर्वात्मकता ही आत्मा का आधार है। सर्व आधिव्याधिरहित निरामय ब्रह्म से मैं परिपूर्ण हूँ – यही भावना मोक्षके इच्छुकों की मोक्षकी सिद्धि है। अर्थात् जैसे देवताओं की पूजा के लिए ध्यान, आवाहन, गन्ध नैवेद्य आदि चाहिये ऐसे ही आत्म-पूजा के लिए उपर्युक्त सामग्री चाहिए अर्थात वैसे करने से ही आत्मा की पूजा होती है।

॥ आत्मपूजोपनिषद् समाप्त ॥

॥ १०८ उपनिषद् का 'ज्ञान-खण्ड' समाप्त ॥

भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम धर्मग्रन्थ

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा सम्पादित

१-चारों वेद ८ जिल्दों में—
- ऋग्वेद ४ खण्ड ... २७)
- अथर्व वेद २ खण्ड ... १३)५०
- यजुर्वेद १ खण्ड ... ६)७५
- सामवेद १ खण्ड ... ६)७५

२- १०८ उपनिषद् (ज्ञान, ब्रह्म-विद्या, साधना)
(३ खण्ड) ... २३)२५

३-षट् दर्शन (६ जिल्दों में)
- वेदान्त दर्शन ... ४)
- सांख्य दर्शन ... ४)
- योग दर्शन ... ४)
- वैशेषिक दर्शन ... ४)
- न्याय दर्शन ... ४)
- मीमांसा दर्शन ... ५)

४-२० स्मृतियां २ खण्ड ... १५)

पुराण

५-शिव (२ खण्ड)	१५)	वायु (२ खण्ड)	१४)
विष्णु (२ खण्ड)	१४)	अग्नि (२ खण्ड)	१४)
मार्कण्डेय (२ खण्ड)	१४)	गरुड़ (२ खण्ड)	१५)
हरिवंश (२ खण्ड)	१५)	भविष्य (२ खण्ड)	१५)
पद्म (२ खण्ड)	१५)	देवीभागवत (२ खंड)	१५)
लिङ्ग (२ खण्ड)	१५)	वामन (२ खण्ड)	१५)
मत्स्य (२ खण्ड)	१५)	ब्रह्मवैवर्त (२ खंड)	१५)
कूर्म (२खण्ड)	१५)	कल्कि (१ खण्ड)	६)७५
स्कन्द (२ खण्ड)	१५)	ब्रह्म (२ खण्ड)	१५)

६- विष्णु रहस्य ७)५०
७-शिव रहस्य ७)५०
८-तन्त्र महाविज्ञान २ खण्ड १५)
९-योग वासिष्ठ (२ खण्ड) १८)
१०-२४ गीता (२ खण्ड) १५)

संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली।